

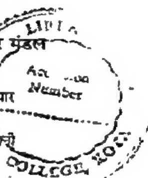
नेताजी

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 2

संपादकीय सलाहकार मंडल

एस. ए. अय्यर
ए. सी. एन. नाम्बियार
पी. के. सहगल
आबिद हसन सफ़रानी



संपादक
शिशिर कुमार बोस

अनुवादक
सूर्यनारायण सक्सेना



प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण पौष 1905 (दिसंबर 1983)
द्वितीय संस्करण शक 1919 (1997)
तृतीय संस्करण शक 1920 (1999)

ISBN 81-230-0423-0

मूल्य 125.00 रुपये

निदेशक प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार
पटियाला हाऊस नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित

विक्रय केन्द्र • प्रकाशन विभाग

- पटियाला हाऊस तिलक मार्ग नई दिल्ली-110001
- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल) कनाट सर्कस नई दिल्ली-110001
- प्रकाशन विभाग हाल न 196, पुराना सचिवालय दिल्ली-110054
- कामर्स हाऊस करीमभाई रोड बालार्ड पायर मुम्बई-400038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट कलकत्ता-700069
- राजाजी भवन बेसेंट नगर चेन्नई-600090
- निकट गवर्नमेंट प्रेस प्रेस रोड तिरुअनंतपुरम-695001
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग पब्लिक गार्डन्स हैदराबाद-500004
- एफ विंग प्रथम तल केंद्रीय सदन कोरा मंगला बंगलौर-560034
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग अशोक राजपथ पटना 800004
- 27/6, राममोहन राय मार्ग लखनऊ-226001

विक्रय काउंटर • प्रकाशन विभाग

- पत्र सूचना कार्यालय 80-मालवीय नगर भोपाल (म. प्र.)-462003
- पत्र सूचना कार्यालय सी जी ओ काम्पलैक्स 'ए' विंग ए बी रोड इंदौर (म प्र)
- पत्र सूचना कार्यालय के-21, नंद निकेतन मालवीय मार्ग सी स्कीम, जयपुर (राजस्थान)-302001

लेज़र कम्पोजिंग विदिक प्रिंटस सी–111/1, नारायणा फेस 1, नई दिल्ली 28
मुद्रक बी एम एस प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर नई दिल्ली -110003



कृतज्ञता-ज्ञापन
एमिली शेंकल बोस
अनीता जी पैक

खंड 2

भारत का स्वाधीनता संघर्ष
1920-1942

विषय-सूची

भारत का स्वाधीनता संघर्ष 1920-1942

प्राक्कथन

नेताजी संपूर्ण वाड्मय का यह दूसरा खंड उनकी 82वीं जन्म तिथि पर निकाला जा रहा है, जिसमें उनका प्रमुख ऐतिहासिक ग्रंथ 'भारत का संघर्ष 1920-1942' (द इंडियन स्ट्रगल 1920-1942) प्रकाशित किया जा रहा है। पहले खंड में उनकी अपनी अपूर्ण आत्मकथा 'एक भारतीय यात्री' (ऐन इंडियन पिलग्रिम)और उनके युवा जीवन के कुछ पत्र दिए गए थे। उस प्रथम खंड के साथ एक दूसरे खंड के अध्ययन से नेताजी के विचारों को समझने का अच्छा आधार मिलेगा।

नेताजी ने पहला खंड (1920 से 1934) यूरोप में अपने निर्वासन की अवधि में लिखा था। उन्होंने इस अंश को करीब एक साल के समय में पूरा किया था, जब उनका स्वास्थ्य संतोषजनक नहीं था। और भी बड़ी बात यह है, जैसा कि उन्होंने मूल भूमिका में लिखा भी है, कि इस जैसे ऐतिहासिक वृत्तांत के लिए उन्हें बहुत कुछ अपनी स्मरण-शक्ति पर ही निर्भर करना पड़ा, क्योंकि कोई संदर्भ-सामग्री उस समय उन्हें उपलब्ध नहीं थी। यह पुस्तक लंदन में लारेंस एंड विशर्ट ने 17 जनवरी, 1935 को प्रकाशित की। खासकर ब्रिटिश पत्र-पत्रिकाओं में इसकी बहुत अच्छी समालोचना की गई। साथ ही यूरोप के राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में भी इसका बहुत अच्छा स्वागत हुआ। लेकिन भारत में ब्रिटिश सरकार ने लंदन स्थित भारत-मंत्री की अनुमति से इसे ब्रिटिश भारत में आने पर पाबंदी लगाने में देर नहीं लगाई और इसके लिए फौरन ही एक अधिसूचना जारी कर दी गई। भारत-मंत्री सर सैमुअल होर ने हाउस आफ कामन्स में कहा था कि इस पुस्तक पर ब्रिटिश भारत में ले जाए जाने पर इस आधार पर पाबंदी लगाई गई है कि इसमें आम तौर से ऐसी सामग्री है जो आतंकवाद और सीधी कार्रवाई को प्रोत्साहन देने वाली है।

यह पुस्तक क्योंकि करीब एक दशक तक भारत के पाठकों के पास नहीं पहुंच पाई इसलिए हम इसका केवल अनुमान ही लगा सकते हैं कि यदि यह भारत पहुंची होती तो उस समय उसका कैसा स्वागत या क्या प्रतिक्रिया हुई होती। खैर, यहां यह बताना ही दिलचस्प होगा कि इंग्लैंड में और यूरोप महाद्वीप में इस पुस्तक को लोगों ने कितने शौक से पढ़ा। 'द मानचेस्टर गार्डियन' नाम के दैनिक समाचार-पत्र ने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा : "किसी भारतीय राजनीतिज्ञ की ओर से भारतीय राजनीति पर लिखी जाने वाली शायद यह सबसे अधिक दिलचस्प किताब है। हम उसकी तुलना केवल लाला लाजपत राय की पीढ़ी के व्यक्तियों द्वारा लिखी गई सामग्री से ही कर सकते हैं जिससे हमें पता लगेगा कि भारतीय मानस किस प्रकार राजनीतिक परिपक्वता की ओर अग्रसर

हो रहा है। इस पुस्तक की महत्ता इस कारण और बढ़ जाती है कि यकीनन यह एक ऐसे लेखक द्वारा लिखी गई है जो भारतीय राजनीति के तीन सबसे होनहार व्यक्तियों में सबसे छोटा है।

"जहां तक श्री बोस के व्यक्तित्व का सवाल है, उनके विरोधी यह आरोप लगाकर उनके व्यक्तित्व का अवमूल्यन करने के आदि हो गए हैं कि उनकी योग्यता उनकी आत्मवंचना और असहिष्णुता की तुलना में हल्की पड़ती है। लेकिन इस किताब को पढ़कर पाठक के मन पर लेखक के बारे में कुछ और ही प्रभाव पड़ता है। पिछले 14 वर्षों का इतिहास उन्होंने निश्चय ही वामपक्ष के दृष्टिकोण से लिखा है लेकिन यह प्रायः सब पार्टियों के प्रति भी उतना ही निष्पक्ष है, जितना हम एक सक्रिय राजनीतिज्ञ से अपेक्षा कर सकते हैं। श्री गांधी के बारे में लेखक ने और सब की अपेक्षा अधिक कड़ाई से लिखा है लेकिन श्री गांधी के अनुयायी भी यह मानेंगे कि आलोचनाओं में कुछ सार है और आलोचना का स्वर दुर्भावनापूर्ण नहीं है ..

"श्री बोस युवा भारत के दूसरे पक्षों के बारे में भी बहुत कुछ बताते हैं। मजदूर आंदोलन, किसानों के विद्रोह और समाजवाद के विकास में वह गहरी दिलचस्पी रखते हैं— हमें अफसोस है कि वह स्वयं विक्टोरिया युग के लोकतंत्र में विश्वास नहीं करते बल्कि एक मजबूत पार्टी की ऐसी सरकार के हामी हैं जो सैनिक अनुशासन से बंधी हो और विघ्न रखने वाले अल्पसंख्यकों को कठोरता से दबाए—लेकिन जब राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त हो जाएगी तो श्री बोस निश्चय ही भारत के लिए इससे कम खराब शासन प्रणाली सुझाएंगे।

"कुल मिलाकर पुस्तक हम पर यह असर छोड़ती है कि हम यह कामना करें कि श्री बोस भारतीय राजनीति में आगे बढ़कर काम करें।"

'संडे टाइम्स' में इस पुस्तक के बारे में लिखा गया है: "इसकी विडंबना यह है कि यह सारा उफान, सारी की सारी अच्छी शक्तियां केवल सरकार के विरोध में इस्तेमाल होकर पूर्णतया बेकार गई है।" इस समाचारपत्र में लेखक को योग्य किन्तु पक्षपातपूर्ण इतिहासकार बताया गया है और अंत में लिखा है-"द इंडियन स्ट्रगल जनमत को प्रबुद्ध करने की दृष्टि से मूल्यवान पुस्तक है। यद्यपि अंग्रेजों के लिए इस दृष्टिकोण को समझना कठिन होगा, लेकिन यह पुस्तक भारतीय आंदोलन के एक पक्ष को सही-सही चित्रित करती है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

'डेली हेराल्ड' के कूटनीतिक संवाददाता ने अपना यह मत प्रकट किया :

"शांत, गम्भीर और निष्पक्ष। मेरे विचार में वर्तमान भारतीय राजनीति पर मैंने जो पुस्तकें पढ़ी हैं उनमें यह सर्वोत्तम है। लेखक के जो अपने विचार हैं उन पर वह बहुत दृढ़ है, तथापि उसने बराबर न्यायपरक दृष्टि का परिचय दिया है।

''यह किसी पागल की लिखी किताब नहीं है बल्कि एक अत्यंत योग्य मस्तिष्क की और कुशाग्र, विचारवान तथा रचनात्मक मानस की उपज है और ऐसे मनुष्य की देन है जो अभी 40 वर्ष का भी नहीं हुआ और जो किसी देश के राजनीतिक जीवन के लिए एक अच्छी पूंजी और अलंकार सिद्ध होगा।''

'द स्पेक्टेटर' के समीक्षक ने इस पुस्तक को सम-सामयिक इतिहास का एक मूल्यवान प्रलेख बताया। 'न्यूज क्रानिकल' ने अपने नोटिस में इस प्रकार लिखा.

''वह एक असामान्य स्पष्टचेता हैं जैसे कि क्रांतिकारी प्राय नहीं होते और क्योंकि उस आंदोलन के, जिसका वह वर्णन कर रहे हैं, वह स्वयं एक प्रमुख अभिनेता हैं इस कारण वह जो भी तथ्य अपने तर्कों के पक्ष में देते हैं वह एक स्पष्ट प्रत्यक्षदर्शी के साक्ष्य जैसा महत्व रखते हैं।

''ऐसा कहने का आशय यह नहीं कि वह पूर्वग्रह से मुक्त हैं। देशभक्त शायद ही कभी निष्पक्ष या औचित्य का विचार करने वाला होता हो, और श्री बोस दूसरे पक्ष की बात समझना तो दूर, उसको देखने तक में प्रायः असमर्थ हैं। .. गांधी के बारे में भारतीय होने के नाते उनका चित्रण सचमुच बहुत दिलचस्प है। यह चित्रण बड़ी दृढता और विश्वास के साथ किया गया है। लेखक ने उस संत के असाधारण गुणों को पूरी तरह सराहा है, पर राजनीतिज्ञ के नाते उनकी भारी भूलों को तनिक भी क्षमा नही किया।''

यह पता नहीं चलता कि नेताजी ने पुस्तक लिखते समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर से पत्र-व्यवहार किया था या नहीं और उन्हें बर्ट्रेंड रसेल, एच जी. वेल्स जैसे ब्रिटिश बुद्धिजीवियों में से किसी से अपनी पुस्तक की भूमिका लिखवाने के लिए सिफारिश करने के बारे में लिखा था या नहीं। एक समय नेताजी ने यह चाहा जरूर था कि इस तरह का कोई व्यक्ति उनकी पुस्तक की भूमिका लिखे। पर बाद में या तो उन्होंने ही यह विचार त्याग दिया था या यह योजना पूरी नहीं हो सकी। खैर, उस समय के समाचारों से इतना तो पता चलता ही है कि भारत में इस पुस्तक पर प्रतिबंध लगने के बाद वामपक्षी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और साहित्यिक क्षेत्रों मे हलचल मची थी। जार्ज लैन्सबरी ने नेताजी को यह संदेश भेजा था : ''पुस्तक के लिए बहुत-बहुत शुक्रिया। इसे मैं बहुत रुचि के साथ पढ़ रहा हूं और इससे मैं बहुत कुछ सीख रहा हू।''

यूरोप में इस पुस्तक पर सबसे दिलचस्प सम्मति मिली थी फ्रांसीसी विद्वान रोमां रोलां से जिन्होंने नेताजी को 22 फरवरी को लिखे अपने पत्र में कहा था · ''मुझे पुस्तक इतनी अच्छी लगी कि मैंने इसकी एक और प्रति मंगा ली ताकि मेरी पत्नी और पुत्री दोनों के पास एक-एक प्रति रहे। भारतीय आंदोलन के इतिहास की जानकारी के लिए यह एक अनिवार्य पुस्तक है। इसमें आपको एक इतिहासकार के सर्वश्रेष्ठ गुण दिखाई पड़ेंगे और साथ ही मन का ऊंचा संतुलन भी। आपके जैसे क्रियाशील व्यक्ति के लिए किसी बात पर दलीय भावना से ऊपर उठकर विचार कर सकना एक दुर्लभ गुण है। आपकी

सारी बातों से यद्यपि मैं सहमत नहीं हू पर मुझे अधिकाश काफी ठीक लगीं और उन सबने हमें सारी बातों पर फिर से विचार करने को प्रवृत्त किया जिससे निश्चय ही लाभ होगा। आपने गाधी के आचरण मे और उनकी प्रवृत्ति में जिस दोहरेपन की बात कही है उससे मुझ पर गहरा प्रभाव पडा है। निस्सदेह इस द्वैधता ने ही उनके व्यक्तित्व को इतनी मौलिकता प्रदान की है।

"मैं आपके दृढ राजनीतिक भाव की प्रशसा करता हू। यह कितने दुख की बात है कि आप और जवाहरलाल नेहरू जैसे भारतीय समाजवादी आदोलन के योग्यतम नेता आज या तो जेलों मे हैं या निर्वासित हैं।"

आयरलैंड के राष्ट्रपति डी वैलेरा ने भी इस पुस्तक को बडी दिलचस्पी के साथ पढा और अपने सदेश के अत में कहा "मुझे आशा है कि भारतवासियों को निकट भविष्य म ही आजादी और खुशी मिलने वाली है।" रोम में नेताजी ने पुस्तक की एक प्रति स्वय मुसोलिनी को भेंट की थी जिसने इसके जवाब मे भारत के लोगों के लक्ष्य के प्रति सहानुभूति प्रकट की थी। इस प्रकार की भी खबरें थीं कि इटली के प्रकाशक पुस्तक का इतालवी भाषा में सस्करण निकालने को तत्काल ही इच्छुक हो गए थे।

इस वृतात का उत्तरार्ध (1935 से 42) भी यूरोप में ही लिखा गया। लेकिन यह हुआ आठ साल बाद द्वितीय महायुद्ध के दौरान। पुस्तक की पाडुलिपि उनकी पत्नी से महायुद्ध के बाद वियना में प्राप्त की गई। लदन से प्रकाशित प्रथम सस्करण का 1948 में भारत मे पुनर्मुद्रण हुआ और 1935–42 से सबद्ध दूसरे भाग को 1952 में अलग से छापा गया। फिर 1964 में नेताजी रिसर्च ब्यूरो ने दोनों को मिलाकर सयुक्त सस्करण निकाला। लेकिन दुर्भाग्य से सब सस्करण एक दशक से भी ऊपर से अलभ्य हैं।

पुस्तक के पहले भाग के जापानी सस्करण दूसरे महायुद्ध से पूर्व प्रकाशित हुए थे और फिर महायुद्ध के दौरान भी। 1942 में एक इतालवी सस्करण भी निकला था जिसे प्रकाशित किया था 'इटालियन इस्टीट्यूट आफ मिडिल ऐंड फार ईस्टर्न अफेयर्स' ने। यह भी मालूम हुआ है कि नेताजी के अतिम जर्मनी-प्रवास के समय इस पुस्तक का जर्मन सस्करण भी तैयार हो रहा था लेकिन यह कभी प्रकाशित नहीं हो पाया।

यह काफी ध्यानपूर्वक निकाला गया सशोधित सपूर्ण सस्करण है। नेताजी के लिखित समूचे वर्णन को पाठकों के लिए रुचिकर बनाने की दृष्टि से शीर्षक और क्रम आदि में छोटे-मोटे परिवर्तन किए गए। मूल लदन-सस्करण में जो परिशिष्ट था उसे यहा 'उपसहार' कर दिया गया है और इसे 'भविष्य की एक झलक' शीर्षक अध्याय के बाद की बजाय पहले रखा गया है। यह भी यहा बता देना ठीक होगा कि नेताजी का लिखा प्राक्कथन क्योंकि मूल लदन-सस्करण का है अत वह 1934 तक के ही वृत्तात के बारे

में है। प्रस्तावित जर्मन संस्करण के लिए नेताजी ने जो प्राक्कथन लिखा था उसका मसौदा भी उपलब्ध है लेकिन यह आज के संदर्भ में संगत नहीं है।

परिशिष्ट में हमने 1938 की लंदन की एक भेटवार्ता प्रकाशित की है, जिसमें उन्होंने फासिस्टवाद और साम्यवाद संबंधी अपने विचारों के बारे में स्पष्टीकरण दिए हैं। इनका उल्लेख 'भविष्य की एक झलक' शीर्षक अध्याय में हुआ है।

नेताजी रिसर्च ब्यूरो नेताजी की पत्नी और सुपुत्री का आभारी है कि उन्होंने अपने सभी प्रकाशनाधिकार हमें दे दिए हैं। भारत के लोग उनके इस उदार, भव्य और सद्भावपूर्ण कार्य की हृदय से सराहना करते हैं। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय की निरंतर सहायता से अपने हाथ में लिए इस काम को हम विश्वास के साथ आगे बढ़ा सकेंगे। ब्यूरो के अनुसंधानकर्ता इस बात के लिए अनवरत प्रयत्नशील रहेंगे कि नेताजी संपूर्ण वाङ्मय के आगामी ग्रंथ भी नियमित अवधि पर बराबर प्रकाशित होते रहें। हमें आशा है कि आनंद प्रेस एंड पब्लिकेशन प्राइवेट लि आगे भी इतनी ही सुंदर छपाई करते रहेंगे।

पहले खंड का पाठकों ने जो स्वागत किया उससे उत्साहित होकर अब यह दूसरा खंड हम अपने भारतीय और विदेशी पाठकों को भेंट कर रहे हैं।

जय हिंद

शिशिर कुमार बोस

पहले संस्करण का प्राक्कथन

इस पुस्तक में आप बहुत-सी कमियां पाएंगे। यह बहुत ही जल्दी में लिखी गई थी और वह भी ऐसे समय जब मेरा स्वास्थ्य भी बेहद खराब था। सच तो यह है कि मेरी अस्वस्थता के कारण पांडुलिपि को पूरा करने में देरी हुई।

आवश्यक कागजात और संदर्भ पुस्तकें आदि के मिलने में कठिनाई होने के कारण मेरे काम में बड़ी बाधा आई। यदि लिखने के समय मैं भारत में या इंग्लैंड में भी होता तो मेरा काम बहुत आसान हो गया होता। ऐसी हालत में मेरे पास अपनी ही स्मृति पर अधिकाधिक निर्भर करने के सिवा कोई चारा नहीं था। पांडुलिपि के तैयार हो जाने के बाद कई महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं —जैसे कि अक्तूबर, 1934 के अंत में बंबई में कांग्रेस का वृहद अधिवेशन, इंडियन लेजिस्लेटिव असेंबली के चुनाव, ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमेटी की रिपोर्ट का प्रकाशन, आदि। प्रूफ पढ़ते समय मैंने कुछ संशोधन कर दिए हैं ताकि पुस्तक अद्यतन बन जाए।

एक और दुर्भाग्य की बात यह रही कि अंतिम समय पर पुस्तक को जो संवारा जाता है वह भी मैं आराम से नहीं कर पाया। इधर मैं पुस्तक के काम में जुटा था, उधर मुझे कुछ निजी कारणों से भारत जाने के लिए सारी तैयारियां करनी पड़ीं।

यह पुस्तक एक ऐसे व्यक्ति ने लिखी है जो पुस्तक में वर्णित संघर्ष में सक्रिय भाग लेता रहा है और भविष्य में भी लेता रहेगा। इस कारण आशा की जाती है कि यह वर्णन दिलचस्प होगा और साथ ही यह विदेशी पर्यवेक्षकों को भारत के संघर्ष को समझने में मदद भी पहुंचाएगा। यदि थोड़े से थोड़े अंश में भी यह उद्देश्य पूरा हुआ तो मैं समझूंगा कि मेरा परिश्रम बेकार नहीं गया है।

अंत में मैं फ्रालीन ई. शेंक्ल का आभार प्रकट करना चाहूंगा जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में मेरी मदद की है और साथ ही उन मित्रों का भी जो कई प्रकार से मेरे सहायक रहे हैं।

सुभाष चंद्र बोस

होटल द फ्रांस
वियना
29 नवंबर, 1934

प्रस्तावना

1. भारतीय राजनीति की पृष्ठभूमि

भारत के प्राचीन काल से अब तक के इतिहास की सही तस्वीर पेश करने के प्रयास इधर पिछले तीन दशकों से ही हुए हैं। इससे पहले अंग्रेज इतिहासकारों का रवैया भारतीय इतिहास के ब्रिटिश शासन से पहले के काल की उपेक्षा करने का था। उन्होंने ही सर्वप्रथम आधुनिक यूरोप को भारत की राजनीति से परिचित कराया, अतः यह स्वाभाविक ही था कि आधुनिक यूरोप भारत के बारे में यही सोचे कि भारत ऐसा देश है जहां अंग्रेजों के आने से पहले राजा-नवाब हमेशा आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे और उन्होंने (अंग्रेजों ने) भारत को जीत कर यहां शान्ति और व्यवस्था स्थापित की और वे ही सारे देश को एक राजनीतिक शासन-सत्ता के अधीन लाए।

भारत को समझने के लिए शुरू से ही दो महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना होगा। पहली तो यह कि भारत का इतिहास दो-चार दशकों या सदियों नहीं बल्कि हजारों वर्ष पुराना है। दूसरी बात यह कि केवल ब्रिटिश हुकूमत के अधीन ही भारत ने पहली बार ऐसा समझा कि यह पराजित हुआ है । अपने लंबे इतिहास और लंबे-चौड़े आकार के कारण भारत ने एक नहीं, किस्मत के अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। न तो यह किसी व्यक्ति, और न किसी राष्ट्र के लिए संभव है कि उसका सारा जीवन प्रगति और समृद्धि से परिपूर्ण रहे। अतः भारत के इतिहास में उन्नति और सुख-शांति के काल में देश सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा है। अगर कोई दावा करता है कि केवल अंग्रेजों के ही शासन काल में भारत में राजनीतिक एकता आई, तो यह उसका अज्ञान या पक्षपात ही कहा जाएगा। सच तो यह है कि यद्यपि ब्रिटेन परिस्थितियों से विवश होकर भारत को एक राजनीतिक प्रशासन के अधीन लाया और उसने अंग्रेजी भाषा को भी राजभाषा के रूप में सब लोगों पर थोपा, लेकिन लोगों को बाटने और उनमें भेदभाव पैदा करने की भी जी-जान से कोशिश की गई। इसके बावजूद यदि आज देश में जबरदस्त राष्ट्रवादी आंदोलन चल रहा है और एकता की प्रबल भावना दिखाई दे रही है, तो यह केवल इस वजह से है कि लोगों ने इतिहास में पहली बार यह महसूस करना शुरू किया है कि हम विदेशियों से पराजित हुए हैं और उन्होने उन भौतिक और सांस्कृतिक दुष्परिणामों को भी अनुभव करना शुरू कर दिया है जो कि राजनीतिक गुलामी के साथ आया करते हैं।

सतही तौर पर देखने वाले हर व्यक्ति को यही लगेगा कि भारत भौगोलिक, ऐतिहासिक और जातीय दृष्टि से बेहद बिखरा हुआ है, लेकिन इन सारे बिखराव या

त्रधता में एक मूलभूत एकता व्याप्त है। किंतु जैसा कि श्री विन्सेंट ए. स्मिथ ने कहा "यूरोप के लेखक प्राय भारत की एकता के बजाय उसकी भिन्नता के प्रति ही एक सजग रहे हैं — इसमें जरा भी शक नहीं कि भारत में एक गहरी और मूलभूत ता सन्निहित है और वह इतनी सबल है, जितनी किसी भी भौगोलिक प्रभाव या नैतिक प्रभुसत्ता से पैदा नहीं की जा सकती। वह एकता ऐसी है जो रक्त, वर्ण, भाषा, भूषा, रहन-सहन और मत-मतातरों की विभाजक रेखाओं को मिटा-गिरा देती है।"[1] गोलिक दृष्टि से देखें तो लगता है कि भारत शेष ससार से अलग अपने में पूर्ण एक यस्त इकाई है। उत्तर मे विशाल हिमालय और दोनों ओर महासागरों से घिरा भारत एक ष्ट भौगोलिक इकाई होने की बेजोड़ मिसाल है। रक्त या जातीय भिन्नता तो भारत में गी कोई समस्या रही हो नहीं क्योंकि अपने समूचे इतिहास में वह न जाने कितनी तियों को आत्मसात करने और उन सब पर अपनी समान सस्कृति और परपरा की छाप पने में समर्थ रहा है। सबको जोड़ने और मिलाने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन रहा हिंदू धर्म। उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम —आप कहीं भी जाए, आपको सर्वत्र समान र्मिक विचार, समान सस्कृति और समान परपराए मिलेंगी। सभी हिंदू भारत को अपनी य भूमि मानते हैं। हिंदुओं की पवित्र नदिया और पवित्र नगरिया देश-भर में फैली हैं।[2] द्वालु हिंदू के लिए चारों धामों की तीर्थ-यात्रा तभी पूरी होती है जब वह दूर दक्षिण सेतुबध रामेश्वर से लेकर उत्तर मे हिममडित शिखरों वाले हिमराज की गोद में स्थित दीनाथ के दर्शन कर लेता है। जो भी सत-महात्मा देश को अपने पथ या धार्मिक विचारों । और आकृष्ट करना चाहता था, उसे सारे देश का देशाटन करना होता था। उनमें से महापुरुष थे शकराचार्य जो आठवीं शताब्दी मे हुए और जिन्होंने भारत के चारों कोनों चार आश्रम (पीठ) स्थापित किए जो आज तक सुचारु रूप से चले आ रहे हैं। कोने-नै मे एक ही धर्म-ग्रथ पढ़े जाते हैं और उन धर्म-ग्रथों का पारायण और पालन किया ता है। आप कहीं भी जाइए, महाभारत और रामायण के प्रति वही मान-सम्मान दिखाई गा। मुसलमानों के आने के बाद धीरे-धीरे एक नए प्रकार के समन्वय का विकास हुआ। द्यपि उन्होंने हिंदुओं का धर्म स्वीकार नहीं किया किंतु उन्होंने भी भारत को अपना घर वीकार कर लिया और यहा के लोगों के समान सामाजिक जीवन को अपनाया और उनके दुख-सुख के साझीदार बन गए। दोनों के परस्पर सहयोग मे एक नई कला और सस्कृति ने जन्म लिया जो पुरानी से भिन्न अवश्य थी, किंतु फिर भी पूरी तरह से भारतीय थी। सगीत, चित्रकला और वास्तुकला आदि की भी नई-नई रचनाए और कृतिया सामने आईं जो दोनों धाराओं के सुखद समन्वय की देन थीं। उससे भी बड़ी बात यह थी कि मुसलमानी हुकूमत ने न तो आम लोगों की रोजमर्रा की जिंदगी को छेड़ा और न स्थानीय

1 विन्सेंट ए. स्मिथ 'द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया', भूमिका पृष्ठ 10

2 ये और इसी प्रकार के अन्य तथ्य और तर्क प्रो. राधा कुमुद मुकर्जी की पुस्तक 'द फंडामेंटल यूनिटी ऑफ इंडिया' (लागमैन्स 1914) में मिलेंगे।

स्वायत्त-शासन में ही दखल दिया, जो पुरानी ग्राम-पंचायत प्रणाली पर आधारित था। पर अंग्रेजी राज के साथ एक नया धर्म, नई सस्कृति और एक नई सभ्यता आई जो यहां की पुरानी धारा से मिलना नहीं चाहती थी वल्कि उस पर पूरी तरह हावी हो जाना चाहती थी। अंग्रेजो ने अपने से पहले वाले आक्रमणकारियों की तरह भारत को अपना घर भी नहीं बनाया। वह अपने को सदा मुसाफिर या यात्री ही मानते रहे और भारत को मात्र एक सराय या धर्मशाला। साथ ही भारत को उन्होंने कच्चे माल का दाता और अपने को तैयार माल का उपभोक्ता ही माना। इसके साथ-साथ उन्होने मुसलमान शासकों की निरंकुशता की नकल करने की कोशिश तो की, लेकिन स्थानीय मामलों में जरा भी दखल न देने की उनकी समझदार नीति पर वे नहीं चले। इसका नतीजा यह हुआ कि भारतीयों ने अपने इतिहास में पहली बार यह महसूस करना शुरू किया कि हम पर एक ऐसी जाति का प्रभुत्व है जो सास्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक हर दृष्टि से परकीय है और उसमे और हममें किसी बात की समानता नही है। भारत पर अंग्रेजी प्रभुत्व के विरुद्ध इस व्यापक विप्लव का एक मात्र यही कारण है।

भारत के आधुनिक राजनीतिक आदोलन को उचित परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए यहां की पिछली राजनीतिक विचारधारा और राजनीतिक व्यवस्था पर सरसरी नजर डालना आवश्यक है। भारत की सभ्यता अधिक नहीं तो भी 3000 ई. पू. से तो आरंभ होती ही है और तब से आज तक सस्कृति और सभ्यता की अजस्र धारा बहती रही है। यह अजस्र धारा भारत के इतिहास की एक बहुत बड़ी विशेषता है और यही यहां के लोगों की अत:शक्ति और उनकी सभ्यता एवं संस्कृति का आधार है। उत्तर-पश्चिम भारत में मोहनजोदडो और हड़प्पा की हाल की खुदाइयो से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि बहुत नहीं तो भी कम से कम 3000 ई. पू. में ही भारत सभ्यता के बहुत ऊंचे शिखर पर पहुच चुका था। यह सभवत: भारत पर आर्यों की विजय से पहले की बात है। अभी से यह कहना तो संभव नहीं होगा कि इन खुदाइयों से तत्कालीन राजनीतिक इतिहास पर कितना प्रकाश पड़ा है लेकिन आर्यों के भारत-विजय के बाद के तो बहुत से तथ्य और ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है। आदि वैदिक साहित्य में राजतंत्र से भिन्न प्रकार की शासन प्रणाली का उल्लेख मिलता है। जहां इस प्रकार की शासन-व्यवस्था थी वहा जन-जातियों की लोकतांत्रिक प्रणाली थी। उस युग में वैदिक समाज या समुदायों में 'ग्राम' सबसे छोटे और 'जन' सबसे ऊंचे सामाजिक सगठन होते थे।[1] बाद के महाकाव्यों, जैसे कि महाभारत में तो गणतांत्रिक राज्यो[2] का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस बात के भी प्रमाण है कि अत्यंत प्राचीन काल में भी सार्वजनिक प्रशासन के बारे

1 'डेवलपमेंट आफ हिंदू पोलिटी एड पोलिटिकल थ्योरीज', ले. नारायण चद्र बद्योपाध्याय, पृष्ठ 60, प्रकाशक . चक्रवर्ती चेटर्जी एड क., 15 कालेज स्क्वायर, कलकत्ता।

2 'रिपब्लिक्स इन महाभारत', ले के पी. जायसवाल (खड-1, पृष्ठ, 173-8)

में निर्णय करने के लिए लोकप्रिय संसद आयोजित की जाती थी। सारे वैदिक साहित्य में हमें दो प्रकार की संसदों—सभा और समिति (इन्हें समगति या समग्राम भी कहा जाता था)—का उल्लेख मिलता है।

सभा का अर्थ लगाया जाता है थोड़े से चुने हुए लोगों की परामर्शदात्री परिषद, और समिति का समूचे समुदाय की जमात। समिति का अधिवेशन या जमाव ऐसे महत्वपूर्ण अवसरों पर होता था जैसे कि राजा का राज्याभिषेक, युद्ध अथवा कोई राष्ट्रीय संकट, इत्यादि।[1]

राजनीतिक विकास के अगले चरण में हमें आर्यों के प्रभाव और भारत पर उनके प्रभुत्व के विस्तार के साथ-साथ राजतंत्र के विकास की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस काल में आकर उत्तर भारत के स्वतंत्र राज्यों में अपनी-अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए हुए अनेक युद्धों का वर्णन मिलता है। इन युद्धों का उद्देश्य दूसरे राज्यों को जीतकर राजनीतिक रूप से अपने अधीन करना न होकर यह दिखाई देता है कि विजित विजेता की प्रभुता को स्वीकार कर ले। जो राजा विजेता होता उसे चक्रवर्ती या मंडलेश्वर कहा जाता और इस प्रकार से दिग्विजय को 'राजसूय', 'वाजपेय' या 'अश्वमेध' यज्ञों द्वारा पुष्टि की जाती। भारत के इतिहास के वैदिक काल और महाकाव्यों के काल में सत्ता के केन्द्रीकरण की यह प्रवृत्ति और प्रबल होती दिखाई देती है और ई.पू. की छठी शताब्दी तक भारत के राजनीतिक एकीकरण का प्रयास स्पष्ट रूप में सामने आने लगता है। इस प्रयास की परिणति अगले काल में अर्थात बौद्ध काल या मौर्य काल में आकर होती है क्योंकि मौर्य सम्राट भारत को राजनीतिक रूप से एक करने में और पहली बार एक साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए।

सिकंदर महान के भारत से लौट जाने पर चंद्रगुप्त मौर्य ने 322 ई.पू. में अपना साम्राज्य स्थापित किया। इस काल में, और कुछ बाद में भी, भारत में बहुत से गणराज्य थे। मालव, शूद्रक, लिच्छवि और अन्य कई जन-जातियों की अपनी-अपनी गणतांत्रिक व्यवस्था या विधान थे। श्री के.पी. जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'हिंदू पोलिटी' में ऐसे गणराज्यों की लंबी सूची दी है। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि जब भारत राजनीतिक रूप से एक सम्राट के अधीन हो गया तब भी ये गणराज्य स्वशासी राज्यों के रूप में फलते-फूलते रहे। बस वे सम्राट की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लेते थे। साथ ही भारतीय इतिहास के इस युग में भी लोकप्रिय संसद, एक सर्वमान्य और सुस्थापित संस्था बनी रही। मौर्य सम्राटों में सबसे महान था चंद्रगुप्त का पोता अशोक, जो 273 ई. पू. के आसपास सिंहासन पर बैठा। अशोक के साम्राज्य में आधुनिक भारत ही नहीं बल्कि अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और फारस (ईरान) का भी कुछ भाग शामिल था। मौर्य सम्राटों के अधीन शासनतंत्र का

1 'डेवलपमेंट आफ हिंदू पॉलिटी एंड पॉलिटिकल थ्योरीज', डॉ. नारायण चंद्र बंद्योपाध्याय, पृष्ठ 60 प्रकाशक चक्रवर्ती चटर्जी एंड के., 15 कॉलेज स्क्वायर, कलकत्ता।

स्तर कुशलता की दृष्टि से बहुत ऊंचा और प्रभावी था। उनका सैनिक संगठन तो उस काल की दृष्टि से पूर्ण और सर्वथा निर्दोष था। पृथक-पृथक मंत्रियों के अधीन कई विभाग होते थे। पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना के निकट) का नागरिक शासन बडा प्रशंसनीय था। संक्षेप में कहें तो सारा देश एक सुगठित शासन के अधीन राजनीतिक रूप से पहली बार एक हुआ था। जब अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया तो समूचा शासन तंत्र बौद्ध धर्म का दास बन गया। अशोक राजनीतिक प्रभुसत्ता पाकर और भारत भर में बौद्ध धर्म के प्रचार से ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने बौद्ध धर्म के उच्च सिद्धांतों के प्रचार के लिए तुर्की से लेकर जापान तक प्रचारक भेजे। बहुतों ने भारतीय इतिहास के इस काल को स्वर्ण-काल माना है, क्योंकि इस समय जीवन के हर क्षेत्र में समान रूप से सर्वतोमुखी प्रगति हुई।[1]

कुछ कालांतर से पतन का आरंभ होता है और बीच में एक ऐसा समय आया जब धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक, हर प्रकार की अव्यवस्था दिखाई देती है। मुख्यत वैराग्य पर अत्यधिक बल देने के कारण बौद्ध धर्म भारत की जनता पर अपना प्रभाव खो बैठा और ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म फिर से पुनर्जीवित हुआ। दार्शनिक क्षेत्र मे वेदात दर्शन को, जिसका मूल उपनिषदों में मिलता है, फिर से गौरव प्राप्त हुआ। सामाजिक क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था को फिर से जीवन मिला और अंतिम चरण के बौद्धों के भ्रष्ट वैराग्य के स्थान पर एक नए यथार्थवाद को प्रतिष्ठा मिली। राजनीतिक अराजकता भी गुप्त साम्राज्य के साथ समाप्त हो गई। गुप्त साम्राज्य का चौथी और पांचवीं ईसवी सदी में उत्कर्ष हुआ। गुप्त सम्राटों में सबसे महान था समुद्रगुप्त जो 330 ई. में सिंहासन पर बैठा। गुप्त काल मे भारत राजनीतिक रूप से ही एक सूत्र में नहीं बंधा वरन कला, साहित्य और विज्ञान का भी बहुत विकास हुआ और ये फिर से चरम बिंदु पर जा पहुंचे।[2] यह पुनर्जागरण ब्राह्मणवादी हिंदुत्व के प्रभाव के कारण हुआ था। अत परपरावादी हिंदू इस काल को बौद्ध काल की तुलना में अधिक गौरवशाली मानते हैं। मौर्य साम्राज्य के दिनों में भारत का एशिया के देशों और रोम जैसे कुछ यूरोप के देशों से भी व्यापार, वाणिज्य और संस्कृति का सक्रिय संपर्क बना। पाचवीं शताब्दी के बाद गुप्त साम्राज्य की शक्ति तो समाप्त हो गई लेकिन सांस्कृतिक पुनर्जागरण की धारा उतने ही वेग से आगे बढ़ती गई और 640 ई. में यह फिर चरमोत्कर्ष पर पहुची जबकि हर्षवर्धन ने देश को फिर से राजनीतिक एकता के धागे में पिरोया।

यह स्थिति बहुत समय तक नहीं चली और फिर से गिरावट के लक्षण दिखाई देने लगे। इसके बाद भारत के इतिहास में एक नई चीज आई। यह थी मुसलमानों के आक्रमण। भारत के हृदय प्रदेश तक उनके हमले तो 10वीं सदी में ही होने लगे थे, फिर भी उन्हे

1 एक निष्पक्ष यूनानी नागरिक मेगस्थनीज इन तथ्यों की पुष्टि करता है।

2 इस बात का निष्पक्ष प्रमाण हमें चीनी यात्री फाहियान के वर्णन से मिलता है।

भारत को जीतने में कुछ समय लगा।[1] सबसे पहले मुहम्मद तुगलक देश के बहुत भाग पर एकछत्र राज करने में सफल हुआ लेकिन सारे देश में एक बार फिर से वै… प्रगति का एक नया युग लाने का श्रेय मुगल बादशाहों के ही भाग्य में लिखा था। मु… सम्राटों के शासन काल, 16वीं और 17वीं शताब्दी में भारत फिर से उन्नति और स… के शिखर पर जा पहुंचा। इन सम्राटों में सबसे महान था अकबर जिसने 16वीं सदी… उत्तरार्ध में भारत पर शासन किया। अकबर की योग्यता देश को राजनैतिक रूप से… करने में ही नहीं थी बल्कि उसका इससे भी महत्वपूर्ण काम था एक नए प्रका… सांस्कृतिक समन्वय का प्रयत्न, जिसमें नई संस्कृति को यहां की पुरानी संस्कृति में … मिला कर एक और नई संस्कृति को जन्म देने की कोशिश की गई।[2] उसने जो श… तंत्र खड़ा किया उसको हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों समुदायों का समर्थन प्राप्त… मुगलों का आखिरी महान सम्राट था औरंगजेब जिसकी 1707 में मृत्यु हो गई। और इ… बाद मुगल साम्राज्य बिखरने लगा।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि लोकतांत्रिक गणराज्य किस्म का ग… भारत के लिए नया नहीं, यह यहां प्राचीन काल में भी था। ऐसे गणराज्य अक्सर … से कबीले या जाति पर आधारित थे। महाभारत में ऐसे जनतांत्रिक लोक राज्यों को 'ग… कहा गया है।

इन पूर्व विकसित गणराज्यों के अलावा राजाओं और सम्राटों के राज्य में भी ज… को बहुत हद तक और बहुत सी बातों में स्वतंत्रता प्राप्त थी, क्योंकि राजा सैद्धां… शासक मात्र होता था। यह तथ्य अब भारतीय इतिहास में हुए अनुसंधानों से भली प्र… स्थापित हो चुका है, भले ही अंग्रेज इतिहासकारों ने इसकी जिद्दी ही उपेक्षा क… की हो। राजनैतिक मामलों के अलावा और भी बहुत से मामलों में जनता को क… स्वाधीनता प्राप्त थी।

अत्यंत प्राचीन काल से ही भारतीय वाङ्मय में 'पौर' और 'जनपद' जैसे कार्यका… निकायों का प्रचुर उल्लेख मिलता है। 'पौर' आज की हमारी नगरपालिका की तरह … थे और 'जनपद' का आशय शायद किसी प्रकार के व्यापक सार्वजनिक निकाय से है… दूसरी बात यह है कि जाति व्यवस्था के होने से सामाजिक मामलों में लोग स्वशासी… जिनकी प्रतिनिधि 'पंचायत' के अधीन एक प्रकार की जाति आधारित लोकतं… प्रणाली के अंतर्गत होते थे। बहुत पुराने जमाने से भी भारत में लोकप्रिय पंचायतें …

---

1 सिंध को अरबों ने … में जीत लिया था पर सिंधु तट एक अंचल मात्र है।
2 अकबर ने धर्मों के भी समन्वय और सम्मेलन की कोशिश की और उसने एक नया धर्म 'दीन-ए-इला… भी चलाया। उसके शासन काल में हिंदू-मुसलमानों को बहुत से मौकों …
3 मृत्यु के बाद इस धर्म का नामो-निशान मिट गया।
4 हाल तक यानी 1947 तक मैसूर में … और … में … स्पष्ट देखी है।

आ रही थीं। ये केवल गांव का शासन ही नहीं चलाती थीं बल्कि अपनी-अपनी जाति के कायदे-कानून का भी पालन कराती थीं और अपनी जाति के भीतर अनुशासन बनाए रखती थीं। इसके बाद पूरे बौद्ध काल में प्रजा को स्वशासन के बहुत व्यापक अधिकार प्राप्त रहे। इस काल में संसद (असेम्बली) और मत (वोट) बड़ी लोकप्रिय संस्थाएं थीं। मौर्य साम्राज्य की स्थापना होने पर भी इन संस्थाओं के अधिकारों में कोई दखल नहीं दिया गया और न गणराज्यों को ही गिराया गया। ये बराबर जीवंत और क्रियाशील रहे। गुप्त सम्राटों और हर्ष ने भी वैसा ही किया। मुसलमान शासक यद्यपि पूरी तरह निरंकुश थे, पर केन्द्रीय सत्ता ने प्रांतीय या स्थानीय मामलों में कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया। यद्यपि सूबेदार को बादशाह ही नियुक्त करता था फिर भी जब तक राजस्व नियमित रूप से सरकारी खजाने में जमा होता रहता था, तब तक प्रांतीय प्रशासन में किसी प्रकार का दखल नहीं दिया जाता था। कभी-कभी कोई धर्मांध बादशाह धर्म परिवर्तन कराने की कोशिश करता था, पर कुल मिलाकर दिल्ली की गद्दी पर चाहे कोई बैठे, प्रजा को अपने धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मामलों में पूरी-पूरी आजादी रहती थी। अंग्रेज इतिहासकार निर्विवाद रूप से इस तथ्य को अनदेखा करने के दोषी हैं। और जब वे निरंकुश एकतंत्र की बात करते हैं और कहते हैं कि हम पूर्व के लोग इसके आदी हैं, तो वे यह भूल जाते हैं कि इस एकतंत्र के लबादे के पीछे जनता को बड़े परिमाण में सच्ची आजादी प्राप्त थी जो ब्रिटिश शासन ने उनसे छीन ली है। आर्यों की भारत-विजय से पहले और बाद में स्वशासी ग्राम संस्थाएं भारत के सार्वजनिक जीवन का अभिन्न और निरंतर अंग बनी रही हैं। यह बात उत्तर के आर्यों के राज्यों और दक्षिण के तमिल राज्यों, दोनों के बारे में सही है।[1] किंतु ब्रिटिश हुकूमत के अधीन ये सब संस्थाएं नष्ट हो गई हैं और नौकरशाही के लंबे हाथ सुदूर गावों तक जा पहुंचे हैं। देश भर में एक वर्ग फुट जगह भी ऐसी नहीं बची है, जहां लोग यह महसूस करें कि हम अपने मामलों के खुद कर्ता-धर्ता हैं। राजनीतिक साहित्य में भी प्राचीन भारत में ऐसा बहुत कुछ है जिस पर गर्व किया जा सकता है। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के लिए महाभारत तो ज्ञान और जानकारी का विशाल भंडार है। हमारे धर्मशास्त्र और अन्य उत्तरवर्ती साहित्य भी इस दृष्टि से बहुत मूल्यवान हैं। इन सब में सबसे अधिक रुचिकर है कौटिल्य का अर्थशास्त्र जो संभवतः चौथी शताब्दी ई. पू. में लिखा गया था।

अब फिर हम अपने मुख्य विषय की ओर आते हैं। मुगल साम्राज्य के धीरे-धीरे नष्ट हो जाने पर यह सवाल खड़ा हुआ कि कौन सी सत्ता उसकी जगह ले। लगभग इसी समय दो देशी शक्तियों ने अपना-अपना सिक्का जमाने की कोशिश की। एक थी मध्य देश में मराठों की और दूसरी उत्तर-पश्चिम में सिखों की शक्ति। मराठों की शक्ति

1 इस संबंध में दसवीं और बारहवीं शताब्दी के दक्षिण भारत के चोलराज के बारे में अध्ययन करना उपयोगी होगा।

को बढाया शिवाजी (1627-80) ने। वह एक महान सेनापति और उतने ही महान शासक थे। उनकी मृत्यु के बाद मराठा शक्ति का 18वीं शताब्दी के अत तक उत्कर्ष हुआ। इसके विस्तार को 1761 ई के पानीपत के तीसरे युद्ध से धक्का लगा। इसमे मराठो की हार हुई और 1818 ई मे अग्रेजो ने उसे अतिम रूप से समाप्त कर दिया। यद्यपि मराठों का राज्य भी एक प्रकार से उदार एकतत्र ही था किंतु उसका सैनिक सगठन और नागरिक शासन बडा उत्तम था। सिख राजसत्ता को महाराजा रणजीत (1780-1839) ने सुदृढ किया, जिन्होंने अपने जीवन-काल मे एक सशक्त सेना और बहुत उत्तम शासन व्यवस्था कायम की। लेकिन उनके बाद उनकी जगह लेने के लिए उनके जैसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ। और जब सिखो और अग्रेजो में लडाई हुई तो वे अग्रेजो के हाथों पराजित हुए। भारत का दुर्भाग्य था कि जब वह एक राजनीतिक अराजकता के काल से गुजर रहा था और एक नई राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था विकसित करने की कोशिश कर रहा था, उसी समय वह यूरोपीय ताकतो के हाथ का खिलौना बन गया। पहले पुर्तगाली, फिर डच और फिर फ्रासीसी और अग्रेज, एक के बाद एक जल्दी-जल्दी आते चले गए। उनमे से कोई भी केवल व्यापार या धर्म-प्रचार करने से सतुष्ट नहीं था और हर एक ने यहा के आपस मे लडते-भिडते राजा-नवाबो के हाथ से राजनीतिक सत्ता हथियाने की कोशिश की। आगे चलकर फ्रासीसियो और अग्रेजो मे काफी लबा सघर्ष चला और विजयश्री मिली अग्रेजो को। बडी बात यह थी कि अग्रेज कूटनीति मे अधिक चतुर निकले और उनके अपने देश की सरकार ने भी उनका अधिक साथ दिया, जब कि फ्रास की सरकार ने अपने देशवालो का उतना साथ नहीं दिया। फ्रासीसियो ने दक्षिण भारत को अपना अड्डा बनाया और दक्षिण से शेष भारत पर अपनी सत्ता जमाने की कोशिश की। अग्रेजों ने पिछले इतिहास से शिक्षा लेकर उत्तर की ओर से अपनी कार्रवाइया शुरू कीं और बगाल पर कब्जा कर लेने के बाद वे फ्रासीसियो की अपेक्षा अधिक सफल रहे।

भारत के इतिहास के हर अध्याय के पृष्ठो पर दृष्टि डालने से हम ये आम निष्कर्ष निकाल सकते हैं :

1 हर उन्नति के काल के बाद पतन का एक काल आया और फिर से एक नई उथल-पुथल हुई।
2 यह पतन मुख्यत भौतिक और बौद्धिक थकान का परिणाम था।
3 प्रगति और नए ढग का सुदृढीकरण नए विचारो के प्रवेश और कभी-कभी नए रक्त के मिश्रण से भी हुआ है।
4 हर नए युग के सदेश-वाहक वे लोग रहे हैं जो अधिक बुद्धिबल और बेहतर सैन्य-कौशल रखते थे।
5 सारे इतिहास में यही देखने को मिलता है कि सब विदेशी तत्व धीरे-धीरे भारत के जीवन में आत्मसात् होते गए। केवल अग्रेज ही इसका पहला और अकेला अपवाद हैं।

6. केंद्र में सरकारों के आते-जाते रहने पर भी जनता को हमेशा काफी स्वाधीनता रही और यह इसी की अभ्यस्त रही।

2. भारत में ब्रिटिश राज की महत्वपूर्ण घटनाएं

इंग्लैंड ने भारत में पहली बार ईस्ट इंडिया कंपनी के जरिए कदम रखा। इस कंपनी को एक शाही फरमान के द्वारा व्यापार के एकाधिकार, भूमि पर अधिकार करने आदि की व्यापक शक्तियां दे दी गई थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी ने 17वीं सदी के शुरू में व्यापारी कंपनी के रूप में भारत में अपने कदम जमा लिए। धीरे-धीरे कंपनी और स्थानीय भारतीय शासकों में टकराव शुरू हुआ और कई स्थानों पर, जैसे कि बंगाल में, सशस्त्र टकराव हुआ। इसी तरह के एक संघर्ष में बंगाल का तत्कालीन नवाब सिराजुद्दौला, कंपनी और भारतीय देशद्रोहियों की मिली-जुली फौजों के हाथों हार गया। वास्तव में यहीं से भारत की राजनीतिक विजय का आरंभ होता है। इसके कुछ वर्ष बाद 1765 में शाहआलम ने, जो नाममात्र को ही भारत का बादशाह रह गया था, ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी लिख दी। दीवानी की मंजूरी का नतीजा यह हुआ कि इन क्षेत्रों का सारा का सारा राजस्व और वित्तीय प्रशासन कंपनी के हाथों में चला गया। इस तरह ईस्ट इंडिया कंपनी, जो कि अब तक व्यापारी कंपनी थी, प्रशासनिक निकाय बन गई यानी कि शासक भी बन बैठी। अगले कुछ वर्षों में ही कंपनी के अफसरों के खिलाफ भ्रष्टाचार और कुशासन की बहुत सी शिकायतें आने लगीं। अतः 1773 में एक कानून बना जिसे लार्ड नार्थ का रेगुलेशन ऐक्ट कहा जाता है और जिसमें ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों और प्रशासन पर सरकार के नियंत्रण का प्रावधान किया गया। इस ऐक्ट के कारण मुख्य प्रशासनिक परिवर्तन यह हुआ कि बंगाल, मद्रास और बंबई की प्रेसीडेंसियों को, जो तब तक स्वतंत्र रूप से काम करती थीं, एक गवर्नर जनरल के अधीन लाया गया। गवर्नर जनरल चार पार्षदों की सहायता से सभी क्षेत्रों पर शासन करता था। उसका मुख्यालय बंगाल में रखा गया। इस नई प्रणाली में भी बहुत सी खामियां थीं। इसके अलावा गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के शासन के खिलाफ भी व्यापक भ्रष्टाचार की शिकायतें थीं। कुछ समय बाद एक और ऐक्ट पास हुआ जिसका नाम था पिट का इंडिया ऐक्ट। यह 1784 में पास हुआ और इसमें एक बोर्ड आफ कंट्रोल (नियंत्रणकारी बोर्ड) की स्थापना का प्रावधान किया गया। इस बोर्ड में मंत्रिमंडल के सदस्य होते थे और ईस्ट इंडिया कंपनी के सारे काम-काज को इस बोर्ड के नियंत्रण में लाया गया। क्योंकि बोर्ड आफ कंट्रोल में मंत्रिमंडल के कुछ सदस्य भी होते थे, इसलिए अंततोगत्वा भारत पर ब्रिटिश पार्लियामेंट की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई।

ईस्ट इंडिया कंपनी को समय-समय पर अपने अधिकार-पत्र (चार्टर) को बहाल कराना पड़ता था। 1833 के चार्टर ऐक्ट ने कंपनी की हैसियत और काम में बहुत बड़ा

परिवर्तन कर दिया। इस ऐक्ट के पास होने से ईस्ट इंडिया कंपनी का एक व्यापारी कंपनी का स्वरूप समाप्त हो गया और वह ब्रिटेन के बादशाह की ओर से भारत पर हुकूमत करने वाली एक प्रशासकीय निकाय बन गई। इस ऐक्ट के प्रावधानों के अनुसार समूचे सैनिक और असैनिक प्रशासन और कानून बनाने की शक्ति गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल के हाथ में आ गई। बीस साल बाद यानी 1853 में जब इस अधिकार-पत्र को बहाल किया गया तब कंपनी पर सरकार का नियंत्रण और अधिक मजबूत हो गया। ऐक्ट में *व्यवस्था थी कि कंपनी के डायरेक्टरों में से एक तिहाई को बादशाह की ओर से नियुक्त* किया जाएगा। जहां तक भारत का संबंध था कई प्रकार के प्रशासकीय परिवर्तन भी हुए। बंगाल को लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन एक प्रांत बनाया गया और इस तरह भारत सरकार और प्रांतीय सरकार अलग-अलग हो गई। इस ऐक्ट में भारत के लिए एक 12 सदस्यीय लेजिस्लेटिव कौंसिल की व्यवस्था की गई। लेकिन इसके सभी सदस्य सरकारी अधिकारी थे। 1853 के चार्टर की बहाली के समय हाउस आफ कामन्स में जो बहस हुई उसमें *जान ब्राइट ने कंपनी के प्रशासन की कटु आलोचना की और कहा कि उसने शासन में* इतनी अधिक अव्यवस्था और भ्रष्टाचार फैला दिया है और जनता पर इतनी अधिक गरीबी और दुख-दर्द थोप दिए हैं, जिन पर विश्वास करना कठिन है। उन्होंने मांग की थी कि भारत पर शासन की जिम्मेदारी बादशाह को सीधे अपने हाथ में ले लेनी चाहिए। इस सलाह को तब नहीं माना गया और इसके कुछ वर्ष बाद ही वह क्रांति हुई, जिसे अंग्रेज इतिहासकारों ने सिपाही विद्रोह और भारतीय राष्ट्रवादियों ने प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की संज्ञा दी। इस विप्लव को दबा दिए जाने के बाद एक नया ऐक्ट पास किया गया जिसका नाम था 'गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1858'। इस ऐक्ट के अनुसार इंग्लैंड के बादशाह ने भारत के समस्त शासन को ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों से सीधे अपने हाथ में ले लिया। इस ऐक्ट के लागू होने पर रानी विक्टोरिया ने एक शाही घोषणा जारी की, जिसे गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने 1 नवंबर, 1858 को इलाहाबाद में पढ़कर सुनाया। क्योंकि *ब्रिटिश मंत्रिमंडल ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी था इस कारण पार्लियामेंट ही* भारत की राजनीतिक भाग्य विधाता बन गई।

इसके बाद अगला कदम 1861 में उठाया गया जब इंडियन कौंसिल ऐक्ट पास हुआ। इस ऐक्ट में गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल की लेजिस्लेटिव कौंसिल की व्यवस्था की गई जिसमें कम से कम छह, और अधिक से अधिक 12 सदस्यों की व्यवस्था थी। इनमें से आधे गैर-सरकारी व्यक्ति होते थे। केंद्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के अलावा प्रांतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल भी बनाई गई, जिनमें सरकार की ओर से नियुक्त कुछ गैर-सरकारी व्यक्ति भी होते थे। इस प्रकार बंगाल में 1862 में प्रांतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल स्थापित हुई और 1886 में उत्तर-पश्चिमी प्रांतों और अवध (बाद में संयुक्त प्रांत) में।

1857 की क्रांति की असफलता के बाद प्रतिक्रिया का एक और दौर आया और इस बीच हर तरह के ब्रिटेन-विरोधी आंदोलनों को निर्दयता के साथ कुचल दिया गया और जन साधारण को पूरी तरह नि:शस्त्र कर दिया गया। 1880 का दशक आते-आते राजनीतिक दमन खत्म हो गया और जनता ने एक बार फिर सिर उठाना शुरू कर दिया। इस बार स्वाधीनता प्रेमी और प्रगतिशील भारतवासियों की नीति और चाल 1857 की अपेक्षा बिल्कुल अलग थी। सशस्त्र क्रांति का तो प्रश्न ही नहीं उठता था, इसलिए ऐसा आंदोलन चलाया गया जिसकी कानून इजाजत देता था। अत: 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) की स्थापना हुई जिसका लक्ष्य वैधानिक तरीकों से भारत के लिए स्वराज्य प्राप्त करना था। कांग्रेस ने जो आंदोलन चलाया उसके कारण भारत की सरकार को महसूस करना पड़ा कि राजनीतिक रूप से कुछ और देना लाजमी है। फिर 1892 में एक और ऐक्ट पास हुआ जिसका नाम था 1892 का इंडियन कौंसिल ऐक्ट। इस ऐक्ट के अधीन कौंसिलों को सवाल पूछने और बजट पर बहस करने का अधिकार दिया गया यद्यपि उन्हें बजट पर वोट देने का अधिकार नहीं दिया गया था। इसके अलावा विधायिकाओं में सरकार को गैर-सरकारी व्यक्ति नियुक्त करने का भी अधिकार नहीं दिया गया था। गवर्नर जनरल की कौंसिल की सदस्य सख्या भी बढ़ाकर 16 कर दी गई।

इस शताब्दी के आरंभ में देश में व्यापक रूप से राष्ट्रीय जागरण हुआ और बंगाल, जिसने ब्रिटिश हुकूमत के जुए को सबसे अधिक झेला था, इस जन-जागरण का अगुआ बना। 1905 में लार्ड कर्जन ने इस प्रांत के दो टुकडे कर दिए। सरकारी तौर पर इसका कारण बताया गया प्रशासनिक आवश्कता, किंतु लोगों ने समझा कि इसका उद्देश्य नए आंदोलनों को पंगु बनाना है। बंग-भंग के विरुद्ध प्रचंड लहर उठी, जो सारे देश में एक प्रबल आंदोलन के रूप में फैल गई। आंदोलन में सरकार का प्रतिकार करने के तरीकों के रूप में ब्रिटिश माल का बायकाट करने का प्रयत्न किया गया। इन घटनाओं के दबाव से जनता को मामूली सी रियायत दी गई। ये मारले-मिंटो सुधारों के रूप में सामने आई। लार्ड मारले उस समय के भारत मंत्री थे और लार्ड मिंटो भारत के वाइसराय। मारले-मिंटो सुधारों की योजना को पहली बार 1906 में घोषित किया गया और 1909 में इन्हें इंडियन कौंसिल ऐक्ट की शक्ल में अंतिम रूप से पास किया गया। इस घोषणा से कुछ पहले सरकार के इशारे पर आगा खां के नेतृत्व में मुसलमान नेताओं का एक प्रतिनिधि मंडल 1 अक्तूबर, 1906 को वाइसराय से मिला। उक्त सुधार लागू होने वाले थे, अत इसको ध्यान में रखकर उन्होंने मांग रखी कि कुछ स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखे जाएं, जिसके लिए सारे भारतवासी नहीं, केवल मुसलमान ही वोट दें। मुसलमान नेताओं की इस मांग को, जिसे भारत में 'पृथक निर्वाचन' कहा जाता है, 1909 के इंडियन कौंसिल ऐक्ट में मान लिया गया। इस ऐक्ट के अधीन केंद्र और प्रांतों में पहले से बड़ी विधान परिषद कायम हुई और सदस्यों को प्रश्नों के अलावा पूरक प्रश्न पूछने, प्रस्ताव रखने और बजट पर बहस करने आदि के कुछ और अधिकार दिए गए। फिर भी चुनाव की

प्रणाली अप्रत्यक्ष रही और इस कारण बहुत से भारतीयों ने इस ऐक्ट को 1892 के इंडियन कौंसिल ऐक्ट की तुलना में कई बातों में प्रतिगामी माना। चुनाव क्षेत्र बहुत ही छोटे रखे गए थे और सबसे बड़े चुनाव क्षेत्र में केवल 692 मतदाता आते थे।[1]

मारले-मिन्टो सुधारों के लागू होने के बाद पहली बार एक भारतीय को वाइसराय की एक्जीक्यूटिव कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया गया और यह सम्मान मिला सर (बाद में लार्ड) एस. पी. सिन्हा को। इसके कुछ अरसे बाद बादशाह जार्ज पंचम भारत आए और प्राचीन भारतीय रीति के अनुसार दिल्ली में भारत के सम्राट के रूप में उनकी ताजपोशी हुई। इस सारी व्यवस्था के पीछे, और भारत की राजधानी को कलकत्ता से बदल कर दिल्ली लाने में, वाइसराय लार्ड हार्डिंग का बड़ा हाथ था। लार्ड हार्डिंग को इतिहास की असाधारण समझ थी और उसने सोचा था कि ऐसा करने से ब्रिटिश राज भारत में और दृढ़ता से स्थापित हो जाएगा। लार्ड कर्जन जैसे कुछ लोग ऐसे थे जो इस तरह के कदमों के बिल्कुल विरोधी थे। उनका ख्याल था कि दिल्ली तो अनेक साम्राज्यों का कब्रिस्तान रही है। खैर, दिसंबर 1911 में सम्राट पंचम के भारत-आगमन से और बंगाल के विभाजन को रद्द कर देने से जनता की भावना कुछ हद तक शांत अवश्य हुई और सरकार-विरोधी आंदोलन भी काफी हद तक दब गए। इंडियन नेशनल कांग्रेस में फूट पड़ गई। इसके परिणामस्वरूप नेशनलिस्टों और गरम दल वालों को संस्था से निकाल दिया गया। और बात यह हुई कि कांग्रेस के वामपंथी नेता कुछ समय के लिए राजनीतिक रंगमंच से लुप्त हो गए —कुछ तो पूना के लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की तरह जेल में होने के कारण, और कुछ बंगाल के श्री अरविंद की तरह स्वेच्छा से देश-निकाला ले लेने के कारण। पहला महायुद्ध छिड़ने तक देश में प्रायः वातावरण शांत रहा। और युद्ध छिड़ने पर देश की क्रांतिकारी पार्टी काफी सक्रिय हो गई। यह पार्टी इस शताब्दी के पहले दशक में बन चुकी थी। महायुद्ध के समय देश के जनमत ने मांग की कि ब्रिटिश सरकार यह घोषणा करे कि भारत में ब्रिटिश शासन की नीति क्या है। यह मांग इस कारण और प्रबल हुई कि ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि वह छोटे राष्ट्रों तथा दलित राष्ट्रों की स्वाधीनता के लिए लड़ रहा है। भारत के जनमत को तुष्ट करने के लिए 20 अगस्त, 1917 को भारत-मंत्री श्री ई. एस. मान्टेग्यू ने घोषणा की कि हिज मैजेस्टी की सरकार की नीति प्रशासन के हर अंग में भारतीयों को अधिकाधिक स्थान देना और ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न अंग के रूप में भारत में उत्तरदायी सरकार की दृष्टि से स्वशासी संस्थाओं का क्रमिक विकास करते जाना है।

इस घोषणा के बाद श्री मान्टेग्यू भारत आए और उन्होंने और भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने मिलकर भारत के लिए वैधानिक सुधारों के सवाल पर एक संयुक्त रिपोर्ट तैयार की। मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट को 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया

1. सर सुरेंद्र नाथ बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'ए नेशन इन दि मेकिंग' (पृष्ठ 123-25) में इन तथ्यों की पुष्टि की है।

ऐक्ट में स्थान दिया गया। इस ऐक्ट में जो सबसे महत्वपूर्ण व्यवस्था थी वह भी एक प्रकार की 'दो-अमली' हुकूमत थी। प्रांतों में सरकार के काम-काज को दो भागों में बांट दिया गया था। एक को कहा गया हस्तांतरित (ट्रांसफर्ड), और दूसरे को सुरक्षित (रिजर्व्ड)। हस्तांतरित विभाग जैसे कि शिक्षा, कृषि, आबकारी और स्थानीय स्वशासन उन मंत्रियों के हाथों में रहने थे जो विधान परिषदों के चुने हुए सदस्य हों और जिन्हें विधान परिषद के मत से ही हटाया जा सकता था। पुलिस, न्याय और वित्त जैसे सुरक्षित विभाग गवर्नर की एक्जीक्यूटिव कौंसिलों के सदस्यों के अधीन रहने थे। इन सदस्यों को हिज मैजेस्टी की सरकार द्वारा नियुक्त करने की व्यवस्था थी और ये विधान परिषद के मत से ऊपर थे यानी इन्हें विधान परिषद मत देकर हटा नहीं सकती थी। इस प्रकार गवर्नर की मंत्रिपरिषद में दो प्रकार के मंत्री होने थे —एक हस्तांरित विभागों को चलाने वाले मंत्री, और दूसरे सुरक्षित विभागों को चलाने वाले मंत्री, जो उसकी एक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य होते थे। हां, केंद्रीय सरकार में इस प्रकार की दो-अमली हुकूमत का प्रावधान नहीं किया गया था। वहां सभी विभाग गवर्नर-जनरल की एक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्यों के ही हाथ में रहने थे और उनकी नियुक्ति हिज मैजेस्टी की सरकार द्वारा ही होनी थी। और वे केंद्रीय विधान मंडल (सेंट्रल लेजिस्लेचर) के मत से अप्रभावित थे। केंद्रीय विधायिका के दो सदन थे। लोअर हाउस (निचला सदन) जिसे इंडियन लेजिस्लेटिव असेंबली कहा जाता था और दूसरा अपर हाउस (उच्च सदन) जिसे कौंसिल आफ स्टेट कहते थे। केंद्रीय विधायिका (सेंट्रल लेजिस्लेचर) में केवल ब्रिटिश भारत के ही प्रतिनिधि होते थे। भारतीय राजा-नवाबों द्वारा शासित देसी रियासतें अपने और ब्रिटिश सरकार के बीच हुई संधियों के प्रावधानों के अनुसार अपने आतंरिक प्रशासन के मामले में स्वतंत्र थीं और इस प्रकार के प्रशासन में केंद्रीय सरकार का कोई दखल नहीं था। इस सुधारों की खामियों और 1919 में अंग्रेजी फौजों के पंजाब में बर्बर अत्याचारों तथा तुर्कों को बांटने की मित्र राष्ट्रों की कोशिशों ने 1920 में भारत में महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक जबरदस्त आंदोलन को जन्म दिया। किंतु देश में अभूतपूर्व जागृति के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने राजनीतिक दृष्टि से कोई कदम आगे नहीं बढ़ाया। 1919 में गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट में एक प्रावधान इस प्रकार का रखा गया था कि दस साल के बाद यानी 1929 में यह देखने के उद्देश्य से एक कमीशन नियुक्त किया जाए कि स्वशासन की दिशा में कोई कदम बढ़ाना आवश्यक है या नहीं, और है तो क्या। इस व्यवस्था के अनुसार 1927 में सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन ने 1930 में अपनी रिपोर्ट दे दी। इसके बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा नामजद भारतीय और ब्रिटिश प्रतिनिधियों का एक गोलमेज सम्मेलन नए संविधान का ब्यौरा तैयार करने के लिए बुलाया गया। गोलमेज सम्मेलन की तीन बैठकों के बाद नए संविधान के बारे में सरकार ने अपने प्रस्ताव सामने रखे। इन प्रस्तावों को 1933 में, एक श्वेत-पत्र में प्रकाशित किया गया। श्वेत-पत्र को ब्रिटिश पार्लियामेंट के दोनों सदनों की एक संयुक्त

समिति के सामने विचारार्थ रखा गया।[1]

3. भारत में नई जागृति

इंग्लैंड जैसे छोटे से देश द्वारा भारत को राजनीतिक रूप से जीत लिए जाने के तथ्य पर विचार करते हुए सबसे पहली बात जो हर व्यक्ति को खटकती है वह यह है कि आखिर यह संभव कैसे हुआ। लेकिन यदि वह भारत की मानसिकता और भारतीय परंपराओं को समझता होगा तो उसे इसके समझने में कठिनाई नहीं होगी। भारतवासियों में विदेशियों के प्रति कभी कोई दुर्भाव नहीं रहा। उनकी इस मनोवृत्ति का एक कारण तो सारे देशवासियों का दार्शनिक दृष्टिकोण था और दूसरा था देश की विशालता, जिसके कारण चाहे जितने विदेशी बाहर से आकर यहां बस गए, उनका स्वागत ही हुआ। अतीत में भारत पर नए-नए कबीलों ने बार-बार हमले किए। लेकिन भले ही वे यहां विदेशियों की तरह आए पर जल्दी ही यहां के होकर रह गए। भारत को ही उन्होंने अपना घर बना लिया। उनका अजनबीपन जाता रहा और विदेशी यहां की राजनीतिक काया का अंग बन गए। कुल मिलाकर देखें तो जब भी विदेशी यहां बसे, साम्प्रदायिक टकराव भी बहुत लंबे अरसे तक नहीं चला। जल्दी ही एक सद्भाव पैदा होता गया और विदेशी लोग विशाल भारतीय परिवार का अंग बनते चले गए।

यही कारण था कि जब यूरोप की जातियां—पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज—पहले-पहल भारत में आए तो उन पर न तो किसी ने शक किया और न किसी प्रकार की शत्रुता या विरोध ही प्रकट किया। भारत के इतिहास में यह कोई नई बात नहीं थी—कम से कम लोगों ने ऐसा ही समझा। फिर अधिकांश विदेशी या तो शांत स्वभाव के मिशनरी थे या व्यापारी। इस वजह से भी किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं खड़ा हुआ। उन्हें सब प्रकार की सुविधाएं दी गईं और यहां तक कि शांति से अपना काम-धंधा करने के लिए भूमि तक लेने की अनुमति भी दे दी गई। जब कभी विदेशियों ने किसी राजनीतिक झगड़े में हिस्सा भी लिया तो भी वे इस बात की सावधानी रखते थे कि यहां के लोगों के ही एक पक्ष की तरफ रहें ताकि सारी जनता उनके विरोध में न उठ खड़ी हो। इस मामले में अंग्रेजों की कूटनीति सबसे अच्छी रही। अब यह सवाल उठता है कि भारतीयों के एक वर्ग ने अपने आंतरिक झगड़ों में विदेशियों की सहायता क्यों ली। इसका जवाब तो ऊपर दिया ही जा चुका है। भारत के विपरीत इसके पड़ोसी देशों में अफगानिस्तान, तिब्बत और नेपाल आदि देश अपेक्षाकृत अधिक स्वाधीन रहे। इसका कारण यही है कि वहां के लोगों ने विदेशियों को हमेशा शक की निगाह से देखा और उनके प्रति झगड़ालू रवैया रखा। कूटनीति के अलावा यूरोपियनों की सफलता का एक

---

1 संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट 22 नवंबर, 1934 को प्रकाशित हुई। अपनी रिपोर्ट में संयुक्त समिति ने श्वेत-पत्र में जो थोड़ा-कुछ देने का प्रस्ताव किया गया था, उसमें भी कटौती कर दी थी।

कारण और था। वह था उनकी सैन्य-कला। भारत के दुर्भाग्य से ऐसा हुआ कि यद्यपि 16वीं और 17वीं सदी तक भी वह विज्ञान और आधुनिक युद्ध-कला के ज्ञान में किसी से पीछे नहीं रहा, पर 18वीं और 19वीं सदी में आकर उन चीजों में पिछड़ गया। उसकी भौगोलिक स्थिति ने उसे आधुनिक यूरोप से अलग-थलग रखा। 17वीं, 18वीं और 19वीं सदियों में यूरोपीय देशों में होने वाले आपसी युद्धों के कारण वहां युद्ध-विज्ञान और कला-कौशल में बहुत प्रगति हुई और जब यूरोप की जातियां पूर्व में आई तो यह सारा ज्ञान उनके पास था। भारतीयों और यूरोपीयों की पहली टक्कर में ही यह मालूम हो गया कि सैन्य-कौशल में भारतीय पिछड़े हुए हैं। यह बड़े महत्व की बात है कि भारत पर अंग्रेजों की विजय से पहले भारतीय शासक यूरोपीयों को अपनी सेना और नौसेना में नौकर रखते थे और उनमें से बहुतेरे ऊंचे-ऊंचे पदों पर भी रहे।

अंग्रेजों को भारत में सबसे पहली महत्वपूर्ण सफलता बंगाल में मिली। वहां का शासक सिराजुद्दौला अभी बीसी में पहुंचा हुआ युवक था। फिर भी उसके लिए यह श्रेय की बात मानी जाएगी कि उस जमाने में वही एकमात्र ऐसा व्यक्ति था, जिसने यह समझा कि अंग्रेज कितनी बड़ी मुसीबत हैं, और वह उन्हें देश से बाहर निकाल फेंकने पर तुल गया। यदि उसमें कूटनीति भी उतनी ही मात्रा में होती जितनी कि देशभक्ति थी, तब तो शायद वह देश के इतिहास को दूसरा ही मोड़ दे देता। उसे उखाड़ फेंकने के लिए अंग्रेजों ने प्रभावशाली मीर जाफर को सिंहासन का लालच देकर अपनी तरफ मोड़ लिया और दोनों की मिली-जुली सेनाएं सिराजुद्दौला के लिए भारी पड़ीं। मीर जाफर को भी जल्दी ही पता चल गया कि अंग्रेजों ने उसे अपना मोहरा बनाया है और उनका लक्ष्य उसके लिए नहीं बल्कि खुद अपने लिए राजनीतिक स्वामित्व को प्राप्त करना था। सिराजुद्दौला को तो 1757 में पराजित कर दिया गया लेकिन देश के विभिन्न भागों पर अपना प्रभुत्व जमाने में अंग्रेजों को बहुत वर्ष लग गए। यह सब होते हुए भी शेष भारत, जो अभी भी स्वतंत्र था, अंग्रेजों की जीत के खतरे को नहीं समझ पाया। व्यावहारिक रूप से अंग्रेजी राज्य के कब्जे में आने वाला भारत का पहला हिस्सा बंगाल था, इसलिए अंग्रेजी राज-सत्ता को सुदृढ़ करने का यत्न भी वहीं से शुरू होना स्वाभाविक था। पुरानी हुकूमत को खत्म करने के बाद कुछ अर्से तक अव्यवस्था का रहना स्वाभाविक था और इस गड़बड़ को रोकने तथा व्यवस्था कायम करने में अंग्रेजों को कई वर्ष लग गए। 18 वीं शताब्दी का अंत आने तक व्यवस्था कायम हो गई। अब सरकार के सामने अच्छा और स्थायी आधार वाला प्रशासन कायम करने का सवाल था। इतने बड़े देश का प्रशासन चलाने के लिए सरकार के लिए स्वाभाविक था कि वह कुछ लोगों को अपने तौर-तरीके से शिक्षित करे ताकि शिक्षित लोगों का नया वर्ग उसके एजेंट के रूप में काम कर सके। अंग्रेज मिशनरी भी अपनी संस्कृति और धर्म को भारतवासियों में फैलाना चाहते थे। इन अलग-अलग जरूरतों के कारण अंग्रेजों को यह अनुभव हुआ कि उनका एक मिशन भारत में अपनी संस्कृति और सभ्यता फैलाना भी है। बस, उनकी इसी बात ने भारत में पहले विद्रोह

को जन्म दिया। जब तक वे व्यापारी रहे तब तक उनकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया, वे उन्हें छोटा-मोटा व्यापारी ही समझते रहे। जब तक वे शासक रहे तब तक भी आम लोगों ने उनको खास परवाह नहीं की क्योंकि भारत में इससे पहले भी बहुत से राजनीतिक उतार-चढ़ाव आए थे, और सरकारें बदलने का लोगों की रोजमर्रा की जिंदगी पर कोई असर नहीं पड़ा था, क्योंकि किसी भी शासन में सरकार ने इनके स्थानीय स्वशासन में कोई दखल नहीं दिया था। जब अंग्रेज़ों को यह अनुभूति हुई कि उन्हें भारत को सभ्य बनाना है तो उन्होंने भारतवासियों के जीवन के हर क्षेत्र में अंग्रेज़ियत लाने का अपना प्रयत्न शुरू किया। मिशनरी अपना कार्य फैलाने के लिए बहुत सक्रिय हो गए। उन्होंने और सरकार ने मिल कर अंग्रेज़ी ढंग की शिक्षा देने वाली बहुत सी शिक्षा संस्थाएं बंगाल भर में स्थापित कर डालीं।

सारी की सारी शिक्षा प्रणाली अंग्रेज़ी तौर-तरीके की थी और अंग्रेज़ी को केवल विश्वविद्यालयों में ही नहीं बल्कि माध्यमिक स्कूलों तक में शिक्षा का माध्यम बनाया गया। कला और वास्तुकला आदि में भी देश पर अंग्रेज़ी नमूना और शैली थोपी गई। वास्तव में नई शिक्षा प्रणाली को आरंभ करते हुए सरकार ने जानबूझ कर यह घोषित किया कि उसका लक्ष्य एक ऐसी कौम तैयार करना है जो नस्ल को छोड़कर बाकी हर बात में अंग्रेज़ होगी। इन नए स्कूलों में विद्यार्थियों ने अंग्रेज़ों की तरह खाना-पहनना, सोचना और बोलना शुरू कर दिया। और इन स्कूलों से पढ़कर जो पीढ़ी निकली वह पुरानी पीढ़ी से बिल्कुल भिन्न थी। वह तो भारतीय रही ही नहीं, पूरी तरह अंग्रेज़ों के रंग में रंग गई थी।

भय खतरा था कि एक विदेशी धर्म और सभ्यता हमें पूरी तरह निगल जाएगी जिसके कारण भारतीय जन-मानस ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का पहला मूर्त रूप राजा राम मोहन राय के रूप में सामने आया जिन्होंने ब्रह्म समाज नामक आंदोलन को जन्म दिया। उन्होंने फिर से वेदांत के मूल सिद्धांतों की ओर लौटने और उत्तरपूर्वी काल में हिंदू धर्म में जो धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियां और दोष आ गए थे, उनसे इसे पूर्णत: मुक्त करने का आह्वान किया। उन्होंने समस्त सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में नया प्राण डालने और आधुनिक यूरोप में जो कुछ भी उपयुक्त और श्रेयस्कर हो उसे स्वीकार करने की वकालत की। इस प्रकार राजा राम मोहन राय भारतीय नवजागरण के नवप्रभात के अग्रदूत और मसीहा माने जाते हैं। राजा राम मोहन राय के बाद ब्रह्म समाज का नेतृत्व संभाला कवि रवींद्रनाथ ठाकुर के पिता देवेंद्रनाथ ठाकुर ने। जनता ने उनके ऋषियों जैसे शुद्ध सात्विक जीवन को देख कर उन्हें महर्षि की उपाधि से विभूषित किया। उनके बाद उनका स्थान लिया केशवचंद्र सेन ने, जो 19 वीं सदी के उत्तरार्ध की भारत की सबसे प्रमुख हस्तियों में गिने जाते हैं। अपने जीवन की प्रारंभिक अवस्था में केशवचंद्र सेन ईसा की शिक्षाओं से अधिक प्रभावित रहे और सार्वजनिक जीवन में उन्होंने समाज सुधार पर बहुत जोर दिया। उनका व्यक्तित्व इतना तेजस्वी और महान था तथा वह अपने विचारों

के प्रति इतने उत्साही थे कि उनकी इस उग्रता के कारण ब्रह्म समाज में फूट पड़ गई। पुरानी पीढ़ी ने, जो उनकी जैसी उग्र नहीं थी, अपना नाम 'आदि ब्रह्मसमाज' रख लिया। इसके बाद ब्रह्म समाज का एक और विभाजन हुआ। केशवचंद्र सेन के अनुयायियों ने अपने को 'नवविधान' घोषित किया, और दूसरे अपने को साधारण ब्रह्म समाज कहने लगे। फिर भी ब्रह्म समाज की शाखाओं के कुछ समान सिद्धांत रहे। सभी वर्ग वेदांत के मूल सिद्धांतों में विश्वास रखते थे। सभी मूर्ति-पूजा के और समाज में वर्णव्यवस्था के कट्टर विरोधी थे। ब्रह्म समाज आंदोलन का सारे देश भर में प्रचार हुआ और कुछ स्थानों पर इसको दूसरा नाम दिया गया। उदाहरणार्थ बंबई प्रेसीडेंसी में इसका नाम प्रार्थना-समाज था।

ब्रह्म समाज का भारत की अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त नई पीढ़ी पर भारी प्रभाव पड़ा और जो लोग ब्रह्म समाजी नहीं भी बने, उन्होंने भी सुधारों और प्रगति के इसके तत्व को स्वीकार कर लिया, किंतु ब्रह्म समाज के अत्याधुनिक विचारों ने पुराणपंथी पंडितों में विरोध उत्पन्न कर दिया, जो हिंदू धर्म और हिंदू समाज के हर गुणों और अवगुणों के पक्षधर थे। लेकिन इस प्रतिक्रियावादी रवैये का नवयुवकों की नई पीढ़ी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लगभग इसी समय, यानी पिछली शताब्दी के 80 वाले दशक में, भारत में दो धार्मिक महापुरुषों का उदय हुआ जिनका देश के नवजागरण की धारा पर विशेष प्रभाव पड़ा। ये थे श्री रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद। गुरु रामकृष्ण तो सनातनी हिंदू की तरह पले-बढ़े थे, पर उनके शिष्य विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्राप्त युवक थे और अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस से मिलने से पहले नास्तिक थे। रामकृष्ण परमहस ने सभी धर्मों की मूलभूत एकता का और धर्म-कर्म के आपसी विद्वेष की समाप्ति का उपदेश दिया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सच्चे आध्यात्मिक जीवन का मार्ग है त्याग, ब्रह्मचर्य और अनासक्ति। उन्होंने ब्रह्म समाज की अत्याधुनिकता की नकल की प्रवृत्ति का विरोध किया और ईश्वर की आराधना के लिए प्रतीक रूप में मूर्ति-पूजा का समर्थन किया। अपने स्वर्गवास से पहले उन्होंने अपने शिष्य को अपने धार्मिक उपदेशों का भारत और विश्व भर में प्रचार करने का गुरुभार सौंप दिया था। तदनुसार स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जो एक प्रकार का संघ था। इसके साधु पूर्णतः हिंदू जीवन जीकर देश और विदेश में, खासकर अमेरिका में, विशुद्ध हिंदू धर्म का प्रचार करते हैं। स्वामीजी राष्ट्र में हर प्रकार के स्वस्थ क्रिया-कलापों के प्रेरणा-स्रोत रहे। उनके लिए धर्म राष्ट्रवाद का प्रेरक था। उन्होंने भारत की नव-संतति में अपने अतीत के प्रति गर्व करने, भविष्य के प्रति विश्वास और स्वयं मे आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान की भावना फूंकने का यत्न किया। यद्यपि स्वामी विवेकानंद ने कोई राजनीतिक विचार या संदेश नहीं दिया तथापि हर व्यक्ति जो उनके संपर्क में आया या जिसने उनके लेखों को पढ़ा वह देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत हो गया और स्वत. ही उसमें राजनीतिक चेतना पैदा हो गई। कम से कम जहां तक बंगाल का प्रश्न है, स्वामी विवेकानंद को वहां के आधुनिक राष्ट्रवादी आंदोलन का जनक माना जा सकता है। यद्यपि उनका

देहावसान बहुत जल्दी, 1902 में ही हो गया लेकिन उनका प्रभाव उनकी मृत्यु के बाद और अधिक बढ़ गया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस बंगाल में हुए। प्रायः उसी समय उत्तर-पश्चिमी भारत में एक और महान विभूति सामने आई। वह थे स्वामी दयानंद सरस्वती, जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज का सबसे अधिक प्रभाव पंजाब और संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) में हुआ। ब्रह्म समाज की तरह आर्य समाज ने पुनः वेदों की ओर लौटने की प्रेरणा दी और बाद में पनपे सभी दोषों व त्रुटियों का खुलकर खंडन किया। ब्रह्म समाज की तरह आर्य समाज ने भी वर्ण व्यवस्था का विरोध किया, क्योंकि आदि काल में ऐसी किसी व्यवस्था का विधान नहीं था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वामी दयानंद सरस्वती ने लोगों को शुद्ध धर्म और प्राचीन आर्यों के जीवन को अपनाने का उपदेश दिया। उनका विशेष उद्घोष था 'वेदों की ओर लौटो।'

ब्रह्म समाज और आर्य समाज, दोनों ने नव-परिवर्तन का प्रयत्न किया, किंतु रामकृष्ण मिशन ने ऐसा कोई उपक्रम नहीं किया, क्योंकि रामकृष्ण परमहंस कोई भी नया मत चलाने के विरुद्ध थे। ब्रह्म समाज और आर्य समाज, दोनों में एक विशेष अंतर भी था। ब्रह्म समाज कुछ सीमा तक पश्चिमी संस्कृति और ईसाई मत से प्रेरित था जबकि आर्य समाज की समूची प्रेरणा का स्रोत स्वदेशी था। इन तीनों में से किसी का भी मिशन राजनीतिक नहीं था। जो भी इनके संपर्क में आया उसमें तेजी से स्वाभिमान और राष्ट्र-भक्ति के भाव का संचार हुआ।

ब्रह्म समाज की स्थापना 1828 में हुई, उस समय तक भारत के बड़े भू-भाग पर अंग्रेजी राज स्थापित हो चुका था और लोग महसूस करने लगे थे कि नए आक्रांता पुरानों से भिन्न हैं। वे अपने से पहले के आक्रमणकारियों के समान मात्र धन कमाने या अपने धर्म का प्रचार करने के लिए ही यहां नहीं आए हैं बल्कि वे सदा विदेशियों की तरह ही रहकर हम पर राज करेंगे, भारत को अपना घर कदापि नहीं मानेंगे। राष्ट्रीय संकट की अनुभूति ने जन-साधारण को इस खतरे के प्रति सचेत कर दिया, जो उनके सामने खड़ा था। इसी की वजह से 1857 का विप्लव हुआ। यह केवल सेनाओं का विद्रोह, या जैसा कि अंग्रेज इतिहासकार कहते हैं, सिपाही-विद्रोह मात्र नहीं था, बल्कि एक वास्तविक राष्ट्रीय क्रांति थी। यह एक ऐसी क्रांति थी जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे और सब मिल कर एक मुसलमान के झंडे तले ही लड़े। उस समय ऐसा लगता था कि अंग्रेजों को देश से निकाल कर फेंक दिया जाएगा पर अपनी किस्मत से वह बाल-बाल बच गए। क्रांति की असफलता के कई कारणों में से एक कारण था कुछ वर्गों का सहयोग न मिलना, जैसे कि पंजाब के सिखों और नेपाल के गोरखों का विरोध। इस क्रांति के कुचल दिए जाने के बाद चारों ओर आतंक और दमन का बोलबाला हुआ और सारे

देश को एक सिरे से निहत्था कर दिया गया। यह प्रतिक्रिया लंबे अर्से तक कायम रही और इस दौरान देश भर में कहीं भी कोई सिर उठाने का साहस नहीं कर सका। पर पिछली शताब्दी के 80 वाले दशक तक स्थिति में परिवर्तन आने लगा था। लोगों का डर कम हो गया और उनमें साहस लौटने लगा था। वे आधुनिक ससार के ज्ञान से सम्पन्न होकर, विदेशियों से लड़ने के नए तरीके निकालने लगे थे। इसी सिलसिले में 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ, जिसका उद्देश्य एक और क्रांति करना नहीं था बल्कि वैधानिक उपायों द्वारा होमरूल या स्वराज्य प्राप्त करने के लिए सघर्ष करना था।

पश्चिमी भारत में उत्तरी भारत के मुकाबले पुनर्जागरण भिन्न तरह से हुआ। वहां उसने धार्मिक आंदोलन के बजाय शिक्षा-प्रसार और समाज-सुधार के आदोलन का रूप लिया। इस जागरण के जनक थे जस्टिस माधव गोविंद रानाडे, और बाद मे उनके इस कार्यभार को संभाला उनके योग्य शिष्य श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने। 1884 मे श्री बाल गंगाधर तिलक, श्री जी. जी. आगरकर और श्री वी एस आप्टे ने दक्कन एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना की। थोड़े ही दिन बाद श्री गोखले भी इसमें शामिल हो गए। लोकमान्य तिलक भी श्री गोखले की तरह समाज-सुधार में दिलचस्पी लेने के बजाय राजनीतिज्ञों में गर्मदल के विचारों के माने जाने लगे, जबकि गोखले चोटी के 'उदारपथी' नेताओं में गिने जाते थे। 1905 में गोखले ने सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी नामक सस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य भारत की सेवा के लिए राष्ट्रीय मिशनरियों को तैयार करना था और सभी संभव वैधानिक उपायों द्वारा देश का वास्तविक हित सिद्ध करना था। लोकमान्य तिलक ने इससे भिन्न तरीके अपनाए। उन्होंने गणपति-उत्सव को, जो एक धार्मिक त्योहार था, एक नया अर्थ देकर और हर वर्ष महाराष्ट्र के महान वीर शिवाजी की जन्मतिथि पर शिवाजी-उत्सव मनाने की परंपरा डाल कर जनता में जागरण उत्पन्न किया।

दक्षिण भारत में मद्रास के निकट अड्यार में 1886 मे मैडम ब्लावत्स्की और कर्नल अलकाट ने थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना की। इस सोसायटी ने भी देश के सामाजिक और सार्वजनिक जीवन में बडा योगदान किया। 1893 में श्रीमती एनी बेसेंट भी इस संस्था में शामिल हो गईं और 1901 में इसकी अध्यक्ष बन गईं और 1933 में अपनी मृत्यु होने तक इसी पद पर रहीं। श्रीमती एनी बेसेंट हिंदू धर्म की महान समर्थक और इस पर होने वाले सभी प्रहारों का करारा जवाब देने वाली थीं। यहा तक कि हिंदुत्व की बुराइयों और दोषों पर चोट करने के बजाय वह उनमें भी सार ढूंढ कर उनकी वकालत करती थीं। इस प्रकार उन्होने भारतीयो के मन मे भारतीय सभ्यता और सस्कृति के प्रति विश्वास का फिर से संचार किया, जो कि पश्चिम के प्रभाव से बुरी तरह डिग गया था। अपने शिक्षा-संबंधी और धार्मिक कार्यों के कारण उनके बहुत से अनुयायी बन गए और 1916-17 में जब उन्होंने राजनीति मे हिस्सा लेकर भारत के लिए स्वराज्य (होम रूल) की मांग के साथ जबरदस्त और उग्र आदोलन चलाया तो उनके ये अनुयायी उनके लिए एक बड़ी और मूल्यवान शक्ति सिद्ध हुए।

इस सदी के आरंभ तक विदेशी सरकार ने भारत-भूमि में अपनी जड़ें गहराई तक जमा ली थीं। अब राजनीतिक प्रशासन विभिन्न शाखाओं की स्वायत्तता के साथ एक केंद्रित शासन व्यवस्था नहीं रह गयी थी। अब यह बड़ा पेचीदा तंत्र बन गया था जिसका छोटा-बड़ा अंग हर गांव और कस्बे तक में मौजूद था और जिसने केन्द्र के आदेशों पर नौकरशाही बड़ी सख्ती से अमल करती थी।

अपने सम्पूर्ण इतिहास में जनता ने पहली बार अनुभव किया कि विदेशी राज क्या होता है। 20वीं सदी के शुरू में दक्षिण अफ्रीका में बोअर लोगों ने अपनी स्वाधीनता के लिए अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध किया, जापान ने अपनी सुरक्षा और अस्तित्व के लिए रूस के विरुद्ध लड़ाई छेड़ी और रूस की जनता ने रोटी और मुक्ति के लिए सर्वशक्ति सम्पन्न ज़ार के खिलाफ विद्रोह का झंडा उठाया। प्रायः इसी समय अंग्रेज शासकों का दर्प और घमंड आसमान को छूने लगा था और बंगाल में गंभीर राजनीतिक क्षोभ के लक्षण दिखाई देने लगे थे। इसे उभरने से पहले ही दबा देने के लिए तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन ने बंगाल प्रांत का विभाजन कर दिया। यह देश-व्यापी विद्रोह के लिए एक संकेत था और सब तरफ लोगों ने यह महसूस करना शुरू किया कि मात्र वैधानिक आंदोलन ही काफी नहीं है। बंगाल के विभाजन को जनता ने एक चुनौती के रूप में ग्रहण किया। और इसके जवाब में ब्रिटिश भारत के इतिहास में पहली बार ब्रिटिश या विदेशी माल के बहिष्कार का आंदोलन शुरू हुआ। राजनीतिक आंदोलन ने राष्ट्रीय कला, राष्ट्रीय साहित्य और राष्ट्रीय उद्योग-धंधों को बढ़ाया और प्रोत्साहन मिला। इसके साथ ही देसी संस्थाएं भी स्थापित की जाने लगीं जिनमें शिक्षा देकर युवकों को नए-नए उद्योग चलाने के लिए वैज्ञानिक और इंजीनियर बनाया जा सके। सरकार इस आंदोलन को भला कहां पसन्द करने वाली थी ? उसने इसे दबाने के लिए कड़े कदम उठाए। सरकारी दमन के जवाब में नौजवानों ने बमों और रिवाल्वरों का सहारा लिया। पहला विस्फोट 1907 में हुआ। यहीं से 20वीं सदी के क्रांतिकारी आंदोलन की शुरुआत होती है। इसे दबाने के लिए सरकार ने 1909 में एक अधिसूचना जारी करके बंगाल की ऐसी बहुत सी संस्थाओं को गैरकानूनी करार दे दिया जिनमें युवकों को शारीरिक शिक्षा दी जाती थी। क्रांतिकारी आंदोलन के शुरू होने के साथ-साथ इंडियन नेशनल कांग्रेस के संगठन में भी फूट पड़ गई। वामपंथी नेता, जैसे कि पूना के लोकमान्य तिलक, बंगाल के श्री विपिन चंद्र पाल और श्री अरविंद घोष, ब्रिटिश माल के बायकाट को कांग्रेस की योजना के अंतर्गत स्वीकार करने के पक्ष में थे। वे ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वशासन की बात से संतुष्ट नहीं थे। दक्षिण पंथी नेता बंबई के सर फिरोजशाह मेहता, पूना के श्री गोपाल कृष्ण गोखले और बंगाल के श्री (बाद में सर) सुरेंद्र नाथ बनर्जी अधिक नरम नीति के पक्ष में थे। इस विवाद में पंजाब के लाला लाजपत राय की स्थिति बीच की थी। 1907 में सूरत कांग्रेस में दोनों पक्षों की फूट खुलकर सामने आ गई और वामपंथी (जिन्हें राष्ट्रवादी या गरमदल भी कहा जाता था) अधिवेशन में परास्त हो गए। कांग्रेस संगठन दक्षिणपंथियों (या

नरमदल अथवा उदारवादी) के हाथ में आ गया। इसके कुछ ही समय बाद लोकमान्य तिलक को सरकार-विरोधी कार्रवाइयों के अभियोग में छह साल की सज़ा हो गई। श्री अरविंद घोष को मजबूर होकर स्वयं देश छोड़ देना पड़ा और विपिन चद्र पाल ने उग्रवादी राजनीति को त्याग दिया। कांग्रेस से निकाल दिए जाने और सरकार द्वारा दमन किए जाने से वामपक्षी लोग नेता-विहीन हो गए। 1915 तक इनकी यही बुरी दशा रही और उदारवादी कांग्रेस पर छाए रहे। मारले-मिन्टो सुधारों का नरम दल वालों ने स्वागत किया था और उग्रवादियों ने उनकी भर्त्सना की थी। इसके कारण भी राजनीतिक आंदोलनकारी अस्थायी तौर पर खामोश रहे। प्रथम महायुद्ध के छिड़ जाने और लोकमान्य तिलक के जेल से छूट जाने के कारण स्थिति में निश्चित रूप से सुधार हुआ। 1916 में कांग्रेस के दोनों धड़ों में समझौता हो गया तथा उग्रवादी और उदारवादी दोनों एक ही मंच पर फिर आ मिले। उसी समय कांग्रेस और आल इंडिया मुस्लिम लीग में भी लखनऊ में समझौता हुआ। इस समझौते की खास बात यह थी कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने मिलकर स्वराज्य की मांग की और पृथक निर्वाचन के आधार पर संशोधित विधान के अंतर्गत विधायिकाओं में मुसलमानों को कितना प्रतिनिधित्व दिया जाए, इस बात पर भी सहमति हो गई। इसी समय भारत की राजनीति में महात्मा गांधी के रूप में एक नया तत्व उभरा जो दक्षिण अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध अहिंसक प्रतिकार में विजयी हो कर दिसबर, 1914 में भारत लौटे थे। लखनऊ कांग्रेस के बाद लोकमान्य तिलक, श्रीमती एनी बेसेंट और मुहम्मद अली जिन्ना ने भारत के लिए स्वशासन (होम रूल) की मांग को लेकर एक जोरदार आंदोलन शुरू किया। इस आंदोलन में भाग लेने के कारण सरकार ने श्रीमती एनी बेसेंट को कुछ महीनो के लिए नजरबंद कर दिया लेकिन जन-आंदोलन के दबाव में आकर सरकार को उन्हें जल्दी ही रिहा कर देना पड़ा। उग्रवादी पक्ष उन्हें इंडियन नैशनल कांग्रेस के कलकत्ता में होने वाले अधिवेशन का अध्यक्ष बनाना चाहता था पर नरमदल के लोग इसके विरुद्ध थे। बिल्कुल अंतिम क्षणों में दोनों पक्षों में समझौता हो गया और उन्होंने अपना अलग संगठन बना लिया। जिसका नाम था 'आल इंडिया लिबरल फेडरेशन।'

1917 में ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत-मंत्री ने एक वक्तव्य दिया कि भारत में ब्रिटिश शासन का लक्ष्य भारत को उत्तरदायी शासन प्रदान करने के मामले में उत्तरोत्तर प्रगति करना है। इसके बाद शीघ्र ही श्री मान्टेग्यू भारत आए और भारत के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ आगामी सुधारों के बारे में एक रिपोर्ट तैयार की, जिसे मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट नाम दिया गया। इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए बंबई में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष पटना के प्रतिष्ठित वकील और हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री हसन इमाम थे। अधिवेशन में इस रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया गया। मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने एक नया संविधान तैयार किया जिसे 1919 का 'गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट' कहा गया। इस संविधान को

भारत के राष्ट्रवादी जनमत ने अपर्याप्त और असंतोषजनक पाया। इनमें जहां एक ओर भारत को स्वराज्य के रास्ते पर ले जाने का यत्न किया गया था, वहीं दूसरी ओर भारत सरकार ने जनता के पैरों में कुछ बेड़ियां भी डाल दी थीं। सरकार द्वारा एक नया ऐक्ट पास किया गया, जिसके अंतर्गत राजनीतिक आधार पर लोगों को बिना मुकदमा चलाए अनिश्चित अवधि तक कैद में रखा जा सकता था। इस ऐक्ट के विरोध में देशव्यापी आंदोलन हुआ और इसका नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया। पंजाब में इस आंदोलन को दबाने की कोशिश में जनरल डायर के सैनिकों ने अमृतसर में भीषण नरसंहार किया। अमृतसर के नरसंहार ने भारत में ही नहीं बल्कि इंग्लैंड के न्यायप्रिय लोगों में भी अभूतपूर्व रोष उत्पन्न कर दिया। अमृतसर की इस घटना के बाद जांच के लिए दो समितियां नियुक्त की गई—एक सरकार द्वारा और दूसरी कांग्रेस द्वारा। दोनों ही समितियों ने सेना की कार्रवाई की कठोर भर्त्सना की। कांग्रेस की समिति अपनी भर्त्सना में सरकारी समिति से और भी आगे थी। किंतु सरकार ने पीड़ितों को मुआवजा देने और अपराधियों को सजा देने के लिए जो कदम उठाए वे नितांत अपर्याप्त थे। दिसंबर, 1919 में अमृतसर कांग्रेस ने नए संविधान को, इसके असंतोषप्रद स्वरूप के बावजूद, आजमाने का निश्चय किया था, लेकिन जब अमृतसर-कांड में हुए नरसंहार के बाद सरकार का रवैया लोगों के सामने स्पष्ट हो गया तो जनता भड़क उठी। इसी समय कुछ राष्ट्रों ने तुर्की के विभाजन की जो कोशिश की, उससे भारत के मुसलमान भड़क उठे और वे सरकार विरोधी बन गए। तुर्की के सुल्तान के पक्ष में, जो इस्लाम का 'खलीफा' भी होता था, भारतीय मुसलमानों ने एक आंदोलन छेड़ दिया, जिसे 'खिलाफत आंदोलन' कहा गया। इस अवसर पर खिलाफत के नेताओं और कांग्रेस के नेता गांधीजी में एक गठजोड़ हुआ। सितंबर, 1920 के सुधारों के बारे में कांग्रेस का रुख निश्चित करने और नये विधान के अनुसार उसी साल होने वाले चुनावों के बारे में नीति तय करने के लिए कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। गांधीजी की सलाह पर नए संविधान के साथ असहयोग की नीति अपनाने का निश्चय किया गया। इस निर्णय के पीछे तीन कारणों में पहला पंजाब में सरकार के अत्याचार, दूसरा तुर्की के प्रति ब्रिटेन का रवैया और तीसरा नए वैधानिक सुधारों की अपर्याप्तता था।

भारत के एक भूतपूर्व वाइसराय, लार्ड इर्विन का मत है कि इंग्लैंड और उपनिवेशों को उत्तरदायी शासन देने के लिए जब-जब जो भी कदम उठाए गए तब-तब, थोड़ा आगे या पीछे भारत को भी कुछ न कुछ अवश्य ही दिया जाता रहा है। इसके उदाहरण के रूप में उन्होंने 1833 के चार्टर ऐक्ट, 1861 के इंडियन कौंसिल्स ऐक्ट और 1892 के इंडियन कौंसिल ऐक्ट का उल्लेख किया है और बताया है कि ये इंग्लैंड में या ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों में लोकप्रिय आंदोलनों के बाद ही पास किए गए। लार्ड इर्विन के इस कथन में काफी बल है। लेकिन हमें और भी आगे सोचना होगा — यह यह कि भारत का स्वाधीनता-आंदोलन विश्व के स्वाधीनता-आंदोलन के साथ उसी के एक

अंग के रूप में जुड़ा हुआ है। सारे संसार की तरह ही भारत में भी 19वीं शताब्दी का आरंभ बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। 1848 की विश्व-क्रांति के बाद ही भारत में 1857 की क्रांति हुई। इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना भी उसी समय हुई जब दुनिया के और हिस्सों में भी इसी तरह की उथल-पुथल चल रही थी। 1905 का आंदोलन दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध के तुरंत बाद और रूस की 1905 की क्रांति के साथ-साथ हुआ। महायुद्ध के समय जिस क्रांति की कोशिश की गई, उस तरह के यत्न विश्व भर में दिखाई पड़ रहे थे। 1920-21 का आंदोलन अंतिम था पर किसी भी हालत में इसे महत्वहीन नहीं कहा जा सकता, और यह भी आयरलैंड की सिन फीएन क्रांति तथा तुर्कों के अपनी आजादी के लिए संघर्ष के समकालीन था और उन क्रांतियों के फौरन बाद हुआ जिनके कारण पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया को आजादी मिली। अतः इसमें जरा भी संदेह नहीं कि भारत में जो जागृति आई वह विश्व भर में पिछली और इस शताब्दी में जो कुछ उथल-पुथल हुई, उसका अभिन्न अंग थी।

4. संगठन, पार्टियां और व्यक्ति

भारत की स्वाधीनता के वर्णन को सही रूप में समझने के लिए देश में काम कर रहे विभिन्न संगठनों, पार्टियों और व्यक्तियों के बारे में कुछ समझना जरूरी होगा।

भारत की सबसे महत्वपूर्ण पार्टी या संगठन इंडियन नेशनल कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) है, जो 1885 में स्थापित हुई थी। इसकी शाखाएं सारे देश में फैली हुई हैं। सारे देश की एक केन्द्रीय समिति है जिसे आल इंडिया कांग्रेस कमेटी कहते हैं और जिसमे लगभग 350 सदस्य होते हैं। यह कमेटी एक वर्ष के लिए एक कार्य समिति का चुनाव करती है। हर प्रांत में प्रांतीय कांग्रेस कमेटियां हैं और इसके अधीन जिला, सब डिवीजन, (तहसील या तालुका) यूनियन या ग्राम समितियां हैं। भिन्न-भिन्न कांग्रेस कमेटियां चुनाव के द्वारा गठित होती हैं। कांग्रेस का लक्ष्य है 'शांतिपूर्ण और न्यायोचित तरीको से पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति'। कांग्रेस के नेता महात्मा गांधी हैं जो एक प्रकार से डिक्टेटर हैं। 1929 से लेकर अब तक कांग्रेस कार्य समिति में वही लोग चुने गए हैं जिनको वह चाहते है और ऐसा कोई भी व्यक्ति जो पूरी तरह से उनकी हां मे हां न मिलाता हो और उनकी नीति को न मानता हो, इस समिति में नहीं रह सकता।[1]

कांग्रेस में एक सशक्त वामपक्ष है जो जाति-प्रथा, किसान और मजदूरों के बारे मे प्रगतिशील विचार रखता है। यह गुट राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्ति के बारे में भी अधिक जोरदार और गतिशील नीति का हामी है। इस तरह की सभी समस्याओं के बारे में महात्मा गांधी का रवैया अधिक समझौतावादी है। कुछ वर्ष पहले तक वामपक्ष के प्रमुख नेता

1. कांग्रेस का अध्यक्ष वास्तविक नेता नहीं होता। जो भी व्यक्ति कांग्रेस के बड़े अधिवेशन में सभापति होता है वही अगले अधिवेशन तक कांग्रेस का अध्यक्ष रहता है। कांग्रेस के अध्यक्ष को विभिन्न प्रांतीय कमेटियों द्वारा नामजदगी के ज़रिए चुना जाता है।

थे मद्रास के भूतपूर्व एडवोकेट जनरल और कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री आय्यंगार, पेरो से एडवोकेट और स्व. मोतीलाल नेहरू के सुपुत्र पंडित जवाहरलाल नेहरू, लाहौर के एडवोकेट और प्रमुख मुसलमान नेता डा. मुहम्मद आलम, एक पारसी भद्रजन और पेरो से एडवोकेट श्री के. एस. नरीमन, लाहौर के एक राष्ट्रवादी मुसलमान और एडवोकेट डा. सैफुद्दीन किचलू और यह लेखक। लेकिन 1930 में श्रीनिवास आय्यंगार तो कांग्रेस से हट गए और इस लेखक एवं डा. किचलू के सिवा और सब को महात्मा गांधी ने अपनी तरफ मिला लिया। फिर भी बहुत से प्रमुख नेताओं के न होने के बावजूद वामपक्ष काफी मजबूत है। इस बारे में पंडित जवाहरलाल नेहरू की स्थिति बड़ी मजेदार है। उनके विचार अग्रगामी और बड़े प्रखर हैं और वह अपने को कट्टर समाजवादी कहते हैं, पर व्यवहार में वह महात्मा गांधी के अनुयायी हैं। शायद यह कहना गलत नहीं होगा कि उनका दिमाग वामपक्ष के साथ है और दिल महात्मा गांधी के साथ।

अन्य नेताओं में मुसलमान नेता खान अब्दुल गफ्फार (प्यार से उन्हें फ्रंटियर गांधी कहा जाता है) इस समय बहुत लोकप्रिय हैं। किंतु उनके राजनीतिक रंग-रूप के बारे में अभी से कुछ नहीं कहा जा सकता। संयुक्त प्रांत के श्री पुरुषोत्तम दास टंडन और अन्य कांग्रेसी नेता यद्यपि वामपक्ष की ओर झुके हुए हैं पर वे सब पं. जवाहरलाल नेहरू के ही अनुयायी हैं। मध्य प्रांत के नेता पं. द्वारिका प्रसाद मिश्र और सेठ गोविंद दास का झुकाव भी वामपक्ष की तरफ है। 1920 से पहले जिन लोगों ने राष्ट्रीय आंदोलन में प्रमुख भाग लिया, उनमें से पूना के लोकमान्य तिलक, कलकत्ता के बिपिनचंद्र पाल, कलकत्ता के ही सर सुरेंद्र नाथ बनर्जी, पूना के श्री गोपाल कृष्ण गोखले और बंबई के सर फीरोजशाह मेहता स्वर्गवासी हो चुके हैं। इनमें से पहले दो वामपक्ष के थे और शेष दक्षिणपंथी थे। 1920 से लेकर अब तक जिन नेताओं ने महत्वपूर्ण काम किया उनमें से लाहौर के लाला लाजपत राय, कलकत्ता के देशबंधु चितरंजन दास, इलाहाबाद के पं. मोतीलाल नेहरू, कलकत्ता के श्री जे. एम. सेनगुप्त और बंबई के श्री विट्ठलभाई पटेल भी अब नहीं रहे। जो लोग कांग्रेस से अलग हो गए और जीवित हैं उनमें कलकत्ता के श्री अरविंद घोष हैं जो 1909 से फ्रांसीसी पांडिचेरी में आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, और दूसरे हैं मद्रास के श्री श्रीनिवास आय्यंगार जो 1930 से राजनीति से संन्यास ले चुके हैं।

बहुत से वामपंथियों ने मिलकर एक अ. भा. कांग्रेस समाजवादी पार्टी बनाई है। वैसे इस पार्टी को अब तक सबसे अधिक समर्थन संयुक्त प्रांत और बंबई में मिला है पर सारे देश में भी इन्हें समर्थन मिल रहा है। अभी यह कहना संभव नहीं होगा कि भविष्य में इस पार्टी की कितनी उन्नति होगी क्योंकि इसमें जो महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं, उनमें से बहुत से लोग या तो जेलों में हैं या देश से बाहर हैं। इस समय पार्टियों में काफी हेर-फेर चल रही है और राजनीति में नए सिरे से गठबंधन होने वाला है।

इंडियन नेशनल कांग्रेस में एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली मुस्लिम गुट भी है और कांग्रेस कार्यकारिणी में भी उसके प्रतिनिधि हैं। इस गुट में हैं — कलकत्ता के मौलाना अबुल कलाम आजाद, दिल्ली के डा. एम. ए. अंसारी और लाहौर के डा. मुहम्मद आलम[1]। हिंदू नेताओं में से कुछ ऐसे हैं जो हिंदू महासभा की ओर अधिक झुके हैं, जैसे कि बनारस के पं. मदनमोहन मालवीय और बरार के एम. एस. अणे।

1918 से पहले कांग्रेस में दो ही दल थे। एक उग्रवादी (राष्ट्रवादी) और दूसरा उदारवादी (या लिबरल)। 1907 में उग्रवादियों को कांग्रेस से निकाल दिया गया लेकिन 1916 में लखनऊ कांग्रेस के समय दोनों में फिर से समझौता हो गया। 1918 में उग्रवादी संख्या में उदारवादियों से कहीं अधिक हो गए और उन्होंने कांग्रेस छोड़कर अपनी एक नई पार्टी 'आल इंडिया लिबरल फेडरेशन' बना ली। आजकल इस पार्टी के नेता हैं— इलाहाबाद के सर तेज बहादुर सप्रू, बंबई के सर चिमनलाल सीतलवाड और सर फीरोज सेठना, मद्रास के राइट आनरेबल वी. श्रीनिवास शास्त्री और श्री शिवस्वामी अय्यर, इलाहाबाद के श्री सी. वाई. चिंतामणि और कलकत्ता के श्री जे. एन. बसु। आजकल महात्मा गांधी के वफादार समर्थक हैं गुजरात के सरदार वल्लभभाई पटेल, दिल्ली के डा. एम. ए. अंसारी, पटना के डा. राजेंद्र प्रसाद, लाहौर के डा. मुहम्मद आलम और सरदार शार्दूल सिंह, इलाहाबाद के पं. जवाहरलाल नेहरू, मद्रास के श्री राजगोपालाचारी, प्रसिद्ध कवियित्री श्रीमती सरोजिनी नायडू, कलकत्ता के मो. अबुल कलाम आजाद, नागपुर के श्री अभ्यंकर, कराची के श्री जयरामदास दौलतराम और कलकत्ता के डा. विधानचंद्र राय। सभी मानेंगे कि इन सबमें सबसे अधिक लोकप्रिय पं. जवाहरलाल नेहरू हैं।

इन उपर्युक्त राजनीतिक पार्टियों में सभी संप्रदायों के लोग हैं। लेकिन कुछ ऐसे सांप्रदायिक संगठन भी हैं जो अपने-अपने संप्रदाय के लोगों के लिए भी लाभ पहुंचाना चाहते हैं। मुसलमानों में सबसे महत्वपूर्ण संगठन मुस्लिम लीग है जो बहुत पहले यानी 1906 में स्थापित हुई थी। 1920 से 1924 तक आल इंडिया खिलाफत कमेटी के कारण मुस्लिम लीग का लोप सा हो गया था, किंतु 1924 में खिलाफत के खत्म कर दिए जाने के कारण भारत का खिलाफत आंदोलन भी खत्म हो गया और मुस्लिम लीग ने फिर से पहले की तरह महत्ता प्राप्त कर ली है। मुस्लिम लीग से अलग इधर हाल में ही कुछ और मुस्लिम संगठन स्थापित हुए हैं, जैसे कि आल इंडिया मुस्लिम लीग कांफ्रेंस। प्रमुख सांप्रदायिक मुसलमान नेता हैं आगा खां, श्री मुहम्मद अली जिन्ना (जो 1920 तक कांग्रेस के नेता थे) लाहौर के सर मुहम्मद इकबाल, संयुक्त प्रांत के सर मुहम्मद याकूब और पटना के श्री शफी दाऊदी। मो. शौकत अली कभी कांग्रेस और खिलाफत आंदोलन के

---

1 कराची के स्वामी गोविंद नंद ने भी निरंतर वामपथ का ही साथ दिया है। इलाहाबाद के श्री शेरवानी, दिल्ली के श्री आसफ अली और लखनऊ के श्री खलीकुज्जमा भी इस गुट के हैं। इनमें से पहले दो, नवंबर 1934 में असेम्बली के लिए चुने गए थे।

प्रमुख नेता थे। उन्होंने कई अवसरों पर साम्प्रदायिक मुसलमानों का साथ दिया है। सर अब्दुर्रहीम की स्थिति साम्प्रदायिक मुसलमान नेताओं और राष्ट्रवादी मुसलमान नेताओं के बीच की है।

आल इंडिया मुस्लिम लीग से टक्कर लेने के लिए हिंदू महासभा का जन्म हुआ है जिसका घोषित उद्देश्य हिंदुओं के अधिकारों की रक्षा करना है। देश के कुछ भागों में इसे प्रभावशाली समर्थन प्राप्त है। इसके प्रमुख नेता हैं—कलकत्ता के श्री रामानंद चटर्जी ('माडर्न रिव्यू' के संपादक), नागपुर के डा. बी. एस. मुंजे, लाहौर के भाई परमानंद, पूना के श्री एन. सी. केलकर। पंडित मदनमोहन मालवीय का यद्यपि कांग्रेस के साथ बड़ा निकट का संबंध है पर वह हिंदू महासभा में भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा के अतिरिक्त कुछ और साम्प्रदायिक दल भी हैं। उदाहरणार्थ एंग्लो-इंडियनों, भारतीय ईसाइयों, सिखों (पंजाब में) और हिंदुओं की अनुसूचित जातियों की अपनी पार्टियां हैं, जिनका उद्देश्य अपने-अपने हितों की रक्षा करना अर्थात् यथासंभव अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना है। भारत भर में हर जगह अनुसूचित जातियों में एक सशक्त राष्ट्रवादी वर्ग है जो कांग्रेस के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करता है। पंजाब के सिख आम तौर से कट्टर राष्ट्रवादी हैं।

जिन राजनीतिक दलों का हमने सबसे पहले जिक्र किया उनका राजनीतिक कार्यक्रम है और वे सरकार के खिलाफ कोई न कोई आंदोलन चलाते रहते हैं या सरकार का किसी न किसी रूप में विरोध करते हैं। लेकिन साम्प्रदायिक पार्टियां इस बात की फिक्र में अधिक रहती हैं कि सरकार की ओर से रोटी के जो टुकड़े फेंके जाएं उनमें से उन्हें अधिक से अधिक हिस्सा कैसे मिले। अपनी पुरानी घिसी-पिटी 'बांटो और राज करो' की नीति के अनुसार सरकार इन पार्टियों को कांग्रेस से बदला लेने और उसका प्रभाव कम करने के लिए बहुत प्रोत्साहन देती है। यह बात पहले 1930 में और फिर गोलमेज सम्मेलन के समय बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी, क्योंकि सम्मेलन में भाग लेने के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव भारत की जनता का वोट लेकर नहीं किया गया बल्कि ब्रिटिश सरकार ने इस काम के लिए ऐसे लोगों को नामजद किया जिनका देश की राजनीतिक आजादी की लड़ाई से कोई वास्ता नहीं था। ऐसा करके साम्प्रदायिक दलों को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया गया। सच तो यह है कि जब भी जरूरत होती है, ब्रिटिश सरकार रात भर में ही मनचाहे नेता उगा लेती है और ब्रिटिश समाचार पत्रों की मदद से दुनिया भर में उनका नाम फैल जाता है। जब 1919 में गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट विचाराधीन था तो मद्रास के स्व. डा. टी. एम. नायर को लंदन में ही कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं के विरोध में नेता बना दिया गया। 1930 में और इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने डा. अंबेडकर को बलात् नेता बना दिया क्योंकि राष्ट्रीय नेताओं को तंग करने के लिए उसे उनकी सेवाओं की आवश्यकता थी।

इंडियन नेशनल कांग्रेस के बाद अन्य महत्वपूर्ण पार्टियां मजदूरों और किसानों की हैं। फिर भी मजदूर संगठनों ने किसान संगठनों की अपेक्षा अधिक प्रगति की है। पहली बार आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस नामक मजदूर संगठन 1920 में स्थापित हुआ। इसके संस्थापक श्री एन. एम. जोशी थे। 1929 के नागपुर अधिवेशन में, जिसके सभापति पं जवाहरलाल नेहरू थे, फूट पड़ गई और दक्षिणपंथियों ने, जिसमें प्रमुख थे श्री एन. एम. जोशी, श्री वी. वी. गिरि, श्री शिवराज, श्री आर. आर. बाखले तथा कुछ अन्य ने अपना एक अलग संगठन 'ट्रेड यूनियन फेडरेशन', बना लिया। ट्रेड यूनियन फेडरेशन अब पूरी तरह ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस के साथ है और एम्सटरडम के अंतर्राष्ट्रीय फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन से सम्बद्ध है। इस संस्था की राजनीति लिबरल पार्टी के साथ जुड़ी हुई है। 1931 में लेखक के सभापतित्व में ही कलकत्ता में ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और उस समय भी फिर से संगठन के दो टुकड़े हो गए और उग्र गुट ने अलग हो कर एक और संस्था, रेड (लाल) ट्रेड यूनियन कांग्रेस बना ली। ऐसा कहा जाता है कि यह वर्ग कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (विश्व कम्युनिस्ट संगठन) की नीतियों और हथकडों का विरोधी है। साथ ही यह न तो सेकेंड इंटरनेशनल (विश्व समाजवादी संगठन) से सबद्ध है और न ही एम्सटरडम के इंटरनेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स के साथ। ट्रेड यूनियन फेडरेशन की तरह ट्रेड यूनियन कांग्रेस का ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस में कोई विश्वास नहीं है और भारत की राजनीति में लिबरल फेडरेशन की बजाय उसमें और इंडियन नेशनल कांग्रेस में अधिक समानता है। ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष अब कानपुर के पं. हरिहर नाथ शास्त्री और इसके मंत्री कलकत्ता के श्री शिवनाथ बनर्जी हैं। यह अनुमान लगाना दिलचस्प होगा कि श्री एम.एन. राय, जो पहले कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के सदस्य रह चुके हैं, भारत के मजदूर आंदोलन और राजनीतिक आंदोलन मे भविष्य में क्या हिस्सा लेते हैं। यद्यपि अभी भी बहुत से लोग उनके पिछले कार्यों, संबंधों और लेखों आदि के कारण उन्हें कम्युनिस्ट मानते हैं, पर कम्युनिस्ट उन्हें क्रांति-विरोधी मानते हैं। वह इस समय अपनी पिछली गतिविधियों के कारण छह वर्ष की कैद भुगत रहे हैं। लेकिन उनके अनुयायी रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस के विरोध में, जिस पर लोग कम्युनिस्ट संस्था होने का आरोप लगाते हैं, ट्रेड यूनियन कांग्रेस के साथ मिल कर काम कर रहे हैं। जब से श्री एम. एन. राय ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से अपना नाता तोड़ा है तब से उन मजदूर नेताओं में फूट पड़ गई है, जो पहले कम्युनिस्ट माने जाते थे। बंबई का गुट, जिसके नेता श्री एम. एस. डांगे हैं, श्री एम. एन. राय के साथी हैं, जबकि दूसरा गुट उन्हें क्रांति विरोधी मानता है।

1920 से भारत भर के किसानों में भी जागृति दिखाई देने लगी है और अप्रत्यक्ष रूप से कांग्रेस ही इसके लिए उत्तरदायी है। लेकिन अभी तक किसानो का कोई अखिल भारतीय संगठन नहीं बन पाया है। संयुक्त प्रांत में किसान आंदोलन काफी सशक्त है और

वहा उसका नाम है किसान लीग। काग्रेस के वामपक्षी कार्यकर्ता किसान आदोलन से निकट रूप से सबद्ध हैं और उनका आम दृष्टिकोण प्रगतिशील है। गुजरात में भी, जहा महात्मा गाधी का प्रभाव सबसे अधिक है, सशक्त किसान आदोलन मौजूद है पर यह पूर्णत. काग्रेस के प्रभाव में है और महात्माजी के दाए हाथ, सरदार वल्लभ भाई पटेल वहां के किसान नेता हैं। यद्यपि गुजरात में किसान आदोलन अभी तक वर्ग चेतना के आधार पर खडा नहीं हुआ है पर इसमें जल्दी ही ऐसा परिवर्तन आना लाजमी है।

पजाब में किरती (मजदूर) किसान पार्टी प्रभावशाली है और इसके कुछ कार्यकर्ता कम्युनिस्ट विचारों से प्रभावित हैं। यदि पार्टी का नेता कोई प्रभावशाली व्यक्ति होता तो पार्टी और अधिक तरक्की कर सकती थी। बगाल में किसान आदोलन काफी आगे बढा है और वहा कृषक समितिया स्थापित हुई हैं, किन्तु फिर भी काफी सख्या में ईमानदार और योग्य नेताओ का अभाव इसकी अधिक प्रगति मे बाधक है। अभी तक बगाल मे श्रेष्ठतम और योग्यतम कार्यकर्ता राजनीतिक क्षेत्र की ओर ही आकृष्ट हुए हैं, लेकिन ऐसा लगता है कि भारत की राजनीति में नए गठबधनों के कारण भविष्य में किसान आदोलन के क्षेत्र में भी कार्यकर्ताओं की कमी नहीं पडने वाली है। सेंट्रल इंडिया (मध्य भारत) में भी किसान आदोलन काफी मजबूत है पर दक्षिण भारत यानी मद्रास प्रेसिडेंसी में यह अभी पिछडा हुआ है। मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ ही हिस्से मे, जिसे आध्र कहा जाता है, किसान आदोलन जानदार है।

भारत के नौजवानों और विद्यार्थियों ने भी स्वाधीनता का एक स्वतत्र आदोलन चलाया है। समय-समय पर युवकों और विद्यार्थियों की अखिल भारतीय काग्रेस होती रहती है। लेकिन अभी तक उनके समन्वय के लिए कोई स्थायी अखिल भारतीय समिति नहीं बनी है। ये दोनों ही आदोलन आमतौर से प्रातीय आधार पर चलते रहे हैं। सब प्रातों की अपेक्षा बगाल में विद्यार्थी आदोलन सबसे सशक्त है। पिछली अ.भा. विद्यार्थी काग्रेस दिसबर 1929 में लाहौर में हुई थी। युवा आदोलन अलग-अलग प्रातो मे अलग-अलग नामों से चलता है। बगाल मे 'युवा समिति' और 'तरुण सघ' लोकप्रिय हैं। पजाब और सयुक्त प्रात में 'नौजवान भारत सभा' का अधिक प्रचार है। पहली युवक काग्रेस कलकत्ता में दिसबर 1928 में हुई थी और इसके अध्यक्ष थे बबई के प्रमुख नेता श्री नरीमन और दूसरी और अतिम काग्रेस मार्च 1931 में कराची मे हुई जिसका अध्यक्ष लेखक था। यद्यपि विद्यार्थियों और युवकों के सगठनों का दृष्टिकोण और कार्यक्रम अधिक प्रगतिवादी है फिर भी वे इंडियन नेशनल काग्रेस से निकट सबध रखते हैं।

अतिम लेकिन उतना ही महत्वपूर्ण है भारत का महिला-आदोलन। यह आदोलन पिछले 14 वर्षों में बडी तेजी से बढा है। स्त्री-जागरण के लिए बहुत हद तक महात्माजी ही जिम्मेदार हैं और यह उनका एक और जादू है। महिला-आदोलन और इंडियन नेशनल

कांग्रेस का बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है। फिर भी देश भर में स्त्रियों की स्वतंत्र संस्थाएं भी कायम हुई हैं। आमतौर से यह आंदोलन प्रांतीय आधार पर चल रहा है और बहुत से राज्यों में, जैसे कि बंगाल में समय-समय पर प्रांतीय सम्मेलन या कांग्रेस होती रही हैं। देश भर की सभी कांग्रेस कमेटियों में स्त्रियों को सम्मानित स्थान प्राप्त है और कांग्रेस की सर्वोच्च संस्था यानी कार्य-समिति में भी एक महिला प्रतिनिधि अवश्य रहती है। हाल के कांग्रेस के दो वार्षिक अधिवेशनों की अध्यक्ष महिलाएं ही रही हैं। उदाहरणार्थ 1917 में श्रीमती एनी बेसेंट और 1925 में कवियित्री सरोजिनी नायडू।

महिलाओं के उपर्युक्त राजनीतिक संगठनों के अलावा कुछ ऐसे संगठन भी हैं जिनका उद्देश्य केवल सामाजिक और शैक्षिक है। ये संगठन अखिल भारतीय रूप में काम करते हैं और समय-समय पर इनके भी अ.भा. सम्मेलन होते रहे हैं। इन संगठनों में से एक आल इंडिया वीमेंस कान्फ्रेंस (अ.भा महिला सम्मेलन) है जिसका पिछला अधिवेशन लगभग 1933 के अंत में कलकत्ता में हुआ था।

अब तक के उल्लेख का सार यह है कि आज भारत में सबसे अधिक महत्वपूर्ण संगठन इंडियन नेशनल कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) है। यह सारे देश और सभी संप्रदायों के लिए है। यह देश की स्वाधीनता के लिए तो प्रयत्नशील है ही, साथ ही राष्ट्रीय जीवन का समन्वित विकास और सब प्रकार की सामाजिक कुरीतियों को दूर करना भी इसका लक्ष्य है। सांप्रदायिक पार्टियों को छोड़कर देश के अन्य सभी संगठन और पार्टियां कांग्रेस से मित्र-भाव रखती हैं और इसके साथ निकट सहयोग से काम करती हैं। आज महात्मा गांधी कांग्रेस के निर्विवाद नेता हैं लेकिन कांग्रेस में शक्तिशाली प्रगतिवादी वामपक्ष भी मौजूद है।[1] महात्माजी ने अभी तक पूंजी और श्रम, जमींदार और किसान तथा जाति-प्रथा जैसे सामाजिक प्रश्नों पर मध्य मार्ग अपनाया है। फिर भी वामपक्ष सामाजिक और आर्थिक मुद्दों के बारे में और अधिक प्रगतिवादी तथा न झुकनेवाली नीति के लिए काम कर रहा है। और यह असंभव नहीं दिखाई देता कि कांग्रेस जल्दी ही उसके विचारों को अपना ले।

1 लेखक भी इसी पक्ष से संबंध रखता है।

अध्याय 1

घुमड़ती घटाएं (1920)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिसंबर 1919 में पंजाब के अमृतसर शहर में हुआ। इस अधिवेशन पर उन अत्याचारों की छाया थी जो इसी साल पंजाब में हो चुके थे। बंगाल के नेताओं सर्वश्री चित्तरंजन दास, विपिनचंद्र पाल और बी. चक्रवर्ती के विरोध के बावजूद नए विधान (अर्थात् 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट) को आजमाने के पक्ष में और (भारत मंत्री) श्री मान्टेग्यू को धन्यवाद देने के लिए एक प्रस्ताव स्वीकार कर ही लिया गया। श्री मान्टेग्यू ने इस विधान को बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण काम किया था। गांधीजी अमृतसर कांग्रेस के निर्णय के लिए बहुत हद तक जिम्मेदार थे और उन्होंने 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट को मंजूरी देने की शाही घोषणा का स्वागत किया। उन्होंने अपने साप्ताहिक पत्र *'यंग इंडिया'* में 31 दिसंबर, 1919 को लिखा : ''यह सुधार कानून और इसके साथ ही शाही घोषणा ब्रिटिश लोगों के भारत के प्रति न्याय के इरादे की सच्चाई है और जो भी संदेह है वे इससे दूर हो जाने चाहिए . . . अतः हमारा कर्तव्य है कि हम इन सुधारों की तीव्र आलोचना न करें बल्कि चुपचाप इन्हें लागू करके इन्हें सफल बनाने में लग जाएं।''

किंतु अगले ही नौ महीनों में हालात नाटकीय ढंग से और तेजी से बदले। जो कुछ हुआ वह गांधीजी के ही शब्दों मे सबसे भली प्रकार बतलाया जा सकता है। जब मार्च 1922 में अंग्रेज जस्टिस श्री ब्रूमफील्ड की अदालत में उन पर अपने पत्र में विद्रोहात्मक लेख लिखने के अपराध में मुकदमा चला, तो उन्होंने बडे मार्के का वक्तव्य दिया, जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि वह जीवन-भर ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के बाद आखिर में क्यों उसके विरुद्ध हो गए। अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा : ''पहला आघात मुझे लगा रौलेट ऐक्ट के रूप में, जो जनता की हर प्रकार की आजादी छीनने वाला कानून था। मैंने महसूस किया कि मुझे इसके विरुद्ध जोरदार आंदोलन चलाना चाहिए। इसके बाद पंजाब में दिल दहला देने वाले कारनामे हुए जिनकी शुरुआत अमृतसर के जलियांवाला बाग के हत्याकांड से हुई और परिणति पेट के बल रेंगकर चलने, सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाने और अन्य प्रकार के अकथनीय अपमान जनक करतूतों में जाकर हुई। मुझे यह भी पता चला कि तुर्की की अखंडता और इस्लाम के पवित्र स्थानों के बारे में भारत के मुसलमानों को प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए वचन को पूरा नहीं किया गया है। किंतु कुछ पूर्वाभासों और 1919 में अमृतसर कांग्रेस में मित्रों की चेतावनियों के बावजूद, मैं इस आशा से सहयोग और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों पर अमल करने के लिए

लहा कि प्रधानमंत्री भारत के मुसलमानों को दिए गए वचन को निभाएंगे, पंजाब के घाव को भरा जाएगा और ये सुधार यद्यपि अपर्याप्त और असंतोषजनक थे फिर भी भारत के जीवन में आशा के एक नए युग को जन्म देंगे। लेकिन मेरी यह सारी आशा चूर-चूर हो गई। खिलाफत संबंधी वायदा पूरा नहीं किया गया। पंजाब के जघन्य अपराध पर लीपापोती कर दी गई और अधिकांश अपराधी न केवल दंड-मुक्त ही रहे बल्कि वे नौकरी में भी बने रहे और भारत के खजाने से पेंशन तक लेते रहे। उनमें से कुछ को तो इनाम भी दिया गया। मैंने यह भी देखा कि सुधारों के कारण कहीं भी कोई हृदय परिवर्तन नहीं हुआ है वरन् ये सुधार भारत को धन दौलत को और अधिक चूसने एवं उसको गुलामी को और लंबा करने का ही एक तरीका हैं।''

जैसा कि भूमिका के 'भारत में नवजागरण' शीर्षक भाग 3 में बताया जा चुका है कि नया कानून जिसे लोग 'रौलेट ऐक्ट'[1] कहते हैं, 18 मार्च, 1919 को भारत सरकार को हमेशा के लिए ऐसे असाधारण अधिकार देने के लिए बना था, जिनके अंतर्गत वह महायुद्ध के दिनों वाला अध्यादेश खत्म होने पर किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकती थी और बिना मुकदमा चलाए जेल में डाल सकती थी। फरवरी 1919 में जब रौलेट बिल (या काला कानून) इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल[2] में पेश किया गया तो श्री गांधी ने इसके विरुद्ध आंदोलन छेड़ा। पंजाब में इस आंदोलन को दबाने के लिए सरकार की सेना और पुलिस ने जबरदस्त जुल्म ढाए। 13 अप्रैल को अमृतसर के जलियांवाला बाग में निहत्थे स्त्री-पुरुषों और बच्चों को गोलियों से भून डाला गया जो एक सभा करने के लिए वहां एकत्र हुए थे। इसके बाद पंजाब में मार्शल ला लगाकर भारी आतंक का दौर चला जिसमें बहुत से लोगों को खुले आम कोड़े लगाए जाते थे और मजबूर किया जाता था कि वे सड़कों और रास्तों को पेट के बल रेंगकर पार करें। इन घटनाओं की जांच के लिए और रिपोर्ट देने के लिए दो समितियां नियुक्त की गईं। एक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने नियुक्त की और दूसरी भारत सरकार ने, जिसे 'हन्टर समिति' कहा गया। कांग्रेस की जांच समिति ने शाही सेना और पुलिस द्वारा लोगों और असहाय व निर्दोष स्त्रियों पर किए गए नितांत बर्बर अत्याचारों के बारे में ऐसे साक्ष्य और प्रमाण पेश किए, जिनका खंडन नहीं किया जा सकता था। हन्टर समिति उस हद तक तो नहीं गई, जिस तक कांग्रेस की समिति गई थी, किंतु फिर भी उसकी रिपोर्ट भी किसी सरकार के लिए काफी शर्मनाक थी। जब दोनों समितियों की रिपोर्टें प्रकाशित हुईं तो वैधानिक सुधारों द्वारा एक नए दौर की शुरुआत करने के इरादे का ध्यान में रखकर जनता का सरकार से यह अपेक्षा करना स्वाभाविक था कि अब सरकार साहस से काम लेकर दोषियों को सजा देगी और मृत, घायलों या अन्य पीड़ितों को उचित मुआवजा देगी।

---

1 सर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने लिखा 'रौलेट ऐक्ट' असहयोग आंदोलन का जनक था (ए नेशन इन मेकिंग, लंदन 1927, पृष्ठ 300)।

2 जिसका अब नाम है 'इंडियन लेजिस्लेटिव असेंबली'।

1920 के मध्य तक यह स्पष्ट हो गया कि सरकार इस प्रकार की कोई कार्रवाई नहीं करने जा रही है।[1] सरकार के रवैये और व्यवहार से जनता को ऐसा लगा कि यह सभी अमानुषिक अत्याचारों को नजरअंदाज करना चाहती है। इससे सारे देश में घोर क्षोभ उत्पन्न हुआ। यहां तक कि उन लोगों के मनों में भी क्षोभ की लहर उठी जिनका सरकार और नए विधान की ओर झुकाव था। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि लार्ड चेम्सफोर्ड की सरकार यदि 1920 में पंजाब पर अत्याचार करने वालों के खिलाफ कठोर कदम उठाती तो कट्टर सहयोगवादी श्री गांधी कभी असहयोग का मार्ग न अपनाते और न दिसंबर 1919 में अमृतसर कांग्रेस में पास हुए प्रस्ताव को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही रद्द करती। इस प्रकार जलियांवाला बाग की चट्टान से टकराकर सहयोग का यह जहाज चूर-चूर हो गया जिसे भारत मंत्री श्री मान्टेग्यू ने अपनी कूटनीतिक चालों और सहानुभूतिपूर्ण रुख से 1917-18 में अपने भारत प्रवास के दौरान बड़ी मेहनत से तैयार किया था।

यह एक खुला रहस्य है कि जब श्री मान्टेग्यू और लार्ड चेम्सफोर्ड दोनों मिलकर वैधानिक सुधारों के बारे में संयुक्त ज्ञापन तैयार करने की दृष्टि से भारत का दौरा कर रहे थे तो श्री मान्टेग्यू नए विधान के पक्ष में जनमत तैयार करने की भी कोशिश कर रहे थे। 1918 में भारत से विदा होने से पहले उन्होंने इंडियन नेशनल कांग्रेस के एक भाग यानि नरमदलियों या उदारवादियों को अपनी तरफ कर लेने में निश्चय ही सफलता प्राप्त कर ली थी। जब 1918 में मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट पर विचार करने के लिए बंबई में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ तो उदारवादी कांग्रेसी जिनके नेता उस समय सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री थे उस अधिवेशन में नहीं गए और जल्दी ही उन्होंने कांग्रेस से नाता तोड़कर एक नया राजनीतिक दल बना लिया जिसका नाम था 'आल इंडिया लिबरल फेडरेशन' जो नए सुधारों को व्यवहार में लाने के लिए वचनबद्ध था। 1918 के बंबई में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन ने मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया। फिर भी दिसंबर 1919 में अमृतसर कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि रिपोर्ट के आधार पर जो विधान बनाया गया है उसे अमल में लाया जाए और साथ ही इसके लिए श्री मान्टेग्यू को धन्यवाद भी दिया गया। इस तरह 1919 की दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के बावजूद श्री मान्टेग्यू अपने व्यक्तिगत प्रभाव के कारण कांग्रेस को विरोध के मार्ग पर चलने से रोकने में सफल हुए। यह तो पंजाब के अत्याचारों के प्रति भारत सरकार का रवैया ही था, जिसने देश के धैर्य का बांध तोड़ दिया।

---

1 इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल ने एक इन्डेम्निटी ऐक्ट पास किया जिसका उद्देश्य उन अफसरों को बचाना था जो पंजाब के अत्याचारों के लिए उत्तरदायी थे। इसके अलावा पंजाब के ले. गवर्नर सर माइकेल ओ डायर को छुआ तक नहीं गया और जनरल डायर को, जोकि जलियांवाला कांड और पंजाब में मार्शल ला पर अमल करने के लिए जिम्मेदार था, बस भविष्य में भारत में सेवा के अयोग्य करार देकर छोड़ दिया गया। भारत सरकार ने जो भी थोड़ी सी कार्रवाई की थी उसे भी हाउस आफ लार्ड्स ने अस्वीकार कर दिया और पंजाब के अत्याचारियों की मदद के लिए इंग्लैंड में अभूतपूर्व चंदे इकट्ठे किए गए।

आज 1934 में कोई भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ पूछ सकता है कि जब यह स्पष्ट हो गया था कि इंडियन नेशनल कांग्रेस विरोध की ही राजनीति की ओर बढ़ रही थी तो उस समय मुसलमान सम्प्रदाय को अपनी तरफ खींचने के प्रयत्न क्यों नहीं किए गए। इस बारे में श्री मान्टेग्यू चुप नहीं बैठे थे। वह ब्रिटिश मंत्रिमंडल को प्रभावित करने के लिए बराबर कोशिश कर रहे थे, लेकिन परिस्थितियां उनके खिलाफ थीं। महायुद्ध के समय भारत के मुसलमानों में इस बात के बारे में बेचैनी थी कि जब शांति की शर्तों पर बातचीत होगी तो तुर्की के बारे में ब्रिटिश सरकार का रवैया क्या होगा। उस समय 5 जनवरी, 1918 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री लायड जार्ज ने उन्हें खुश करने के लिए एक वक्तव्य दिया था, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह भी कहा था कि ग्रेट ब्रिटेन बदला लेने की नीति से काम नहीं लेगा और उसका तुर्की को एशिया माइनर और थ्रेस के समृद्ध क्षेत्रों से, जहां तुर्की बहुसंख्या हैं, वंचित करने का कोई इरादा नहीं है। किंतु महायुद्ध समाप्त होने पर जब यह स्पष्ट हो गया कि मित्र राष्ट्रों का लक्ष्य तुर्की के पूरी तरह टुकड़े करना ही है, इससे कम कुछ नहीं, तो भारतीय मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमंडल तुर्की की तरफदारी करने के लिए मार्च 1920 में यूरोप गया। इस प्रतिनिधिमंडल के नेता, अली बंधुओं में छोटे भाई मौलाना मुहम्मद अली थे। श्री मान्टेग्यू की भरसक कोशिशों के बाद भी इस प्रतिनिधिमंडल को अपने उद्देश्य में जरा भी सफलता नहीं मिली। 1920 के मध्य तक भारत के मुसलमानों को ऐसा लगने लगा कि शायद तुर्की का स्वतंत्र देश के रूप में अपना अस्तित्व ही मिट जाएगा — मुसलमानों के खलीफा को जो तुर्की का सुल्तान भी होता था, यूरोप और एशिया के अपने इलाकों से हाथ धोना पड़ेगा और उनके पवित्र स्थल गैर-मुसलमानों के हाथों में चले जाएंगे। इस अपरिहार्य संकट के एहसास ने भारत के मुसलमानों के हर वर्ग में नाराजगी पैदा कर दी। किंतु उनकी नाराजगी चाहे जितनी गहरी रही हो वे विजेता ब्रिटिश सरकार के खिलाफ हथियार तो उठा नहीं सकते थे। अतः नए विधान के अमल का विरोध करने का ही रास्ता उनके सामने खुला था। इससे अधिक वो वे और सोच भी क्या सकते थे।

1920 के मध्य में अन्य भारतवासियों की अपेक्षा मुसलमानों में ब्रिटिश विरोधी भावना अधिक प्रबल थी। श्री मान्टेग्यू ने राष्ट्रवादी ताकतों को बांटने में तो सफलता प्राप्त कर ली थी, लेकिन मुसलमानों को खुश करने की उनकी पूरी-पूरी कोशिश के बावजूद वह उनके किसी भी वर्ग को अपने पक्ष में कर सकने में असफल रहे और मुसलमानों की शिकायतों को सामने लाने के कारण उन्हें मंत्रिमंडल से त्याग पत्र देना पड़ा।[1]

---

1 सन् 1922 में भारत सरकार ने ब्रिटिश मंत्रिमंडल से अनुरोध किया कि सेवर्स की संधि की शर्तों को बदलने की भारत की मांग को प्रकाशित कर दिया जाए। इन मांगों की मुख्य बातें थीं — तुर्की को एशिया माइनर और थ्रेस के क्षेत्र लौटाए जाएं, पवित्र स्थलों पर सुल्तान का प्रभुत्वाधिकार हो और मित्र राष्ट्रों की सेनाएं कुस्तुनतुनिया से हटें। श्री मान्टेग्यू ने समझा था कि उन्हें मंत्रिमंडल ने इन मांगों को प्रकाशित करने का अधिकार दे दिया है लेकिन मंत्रिमंडल ने इससे इनकार कर दिया और उन्हें अपना त्यागपत्र देना पड़ा।

मुसलमानों ने 'अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी' नामक अपना एक संगठन बनाया जिसका उद्देश्य इस्लाम के खलीफा को उन सब आध्यात्मिक अधिकारों को दोबारा दिलाना था जो उसे तुर्कों के सुल्तान की हैसियत से महायुद्ध से पूर्व प्राप्त थे। इस आंदोलन का नेतृत्व अलीबंधुओं के हाथ में आया। बड़े भाई शौकत अली से छोटे भाई मुहम्मद अली अधिक प्रभावशाली थे, और दोनों ही आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के स्नातक थे। मौलाना मुहम्मद अली पत्रकार थे और मौलाना शौकत अली भारत सरकार के आबकारी विभाग में ऊंचा वेतन पाने वाले अफसर थे। महायुद्ध के दिनों में दोनों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध और तुर्कों के पक्ष मे प्रचार करने के कारण नजरबंद कर दिया गया था। उनके जेल भेजे जाने के मामले को लेकर जो आंदोलन चला उसके कारण वे जनता की निगाह में और ऊंचे उठ गए और जब खिलाफत आंदोलन शुरू हुआ तो इसके नेतृत्व का सेहरा उनके सिर बंधना स्वाभाविक ही था। एक बात यह भी थी कि उनकी वेशभूषा और रहन-सहन खालिस पुराने मुस्लिम रिवाज का था जो मुसलमान जनता को पसंद था और इस कारण वे बेहद लोकप्रिय हो गए।

पंजाब के अत्याचारों और इसके बाद के घटना-चक्र ने पुराने वफादार श्री गांधी को भी विद्रोही बना दिया। जो व्यक्ति दिसबर 1919 में अमृतसर में कांग्रेस को अपने साथ ले चलने में सफल हुआ था वही 1920 में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करने के लिए अपनी सेवाएं जुटा रहा था। भारत लौटने से पहले 1914 में वह दक्षिण अफ्रीका में वहां के भारतीयों के अधिकारों के लिए दक्षिण अफ्रीका की सरकार से अहिंसक प्रतिकार की विधि से लड़ चुके थे और अहिंसा के इस शस्त्र को उन्होंने बहुत उपयोगी पाया था। फरवरी 1919 में, रौलेट बिल के कानून बनने से पहले भी उन्होंने इसी तरह का आंदोलन शुरू किया था और इसे "सत्याग्रह"[1] का नाम दिया था। लेकिन बीच में ही हिंसा फूट पडने के कारण वह उस समय असफल रहा। फिर भी वह उसी विधि को दुबारा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध अहिसक विद्रोह करने के लिए प्रयोग में लाने के लिए पूरी तरह तैयार थे। उन्होंने अपने तन और मन को कष्ट भोगने के लिए अनुशासित कर लिया था। वह दक्षिण अफ्रीका से अपने कुछ विश्वस्त अनुयायियों को भारत ले आए थे और अब छह साल भारत में रहने के बाद यहा भी उनके बहुत से समर्थक तैयार हो गए थे। अभी कांग्रेस का नेतृत्व हस्तगत करने के लिए उन्हें और भी साथियों की आवश्यकता थी। प्रायः इसी समय अलीबंधु और अन्य मुसलमान नेता

---

1 यो तो सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए आग्रह। पर इसका कई अर्थों में प्रयोग हुआ है जैसे असहयोग, अहिसक प्रतिकार या सिविल नाफर्मानी आदि। 11 सितंबर, 1906 को दक्षिण अफ्रीका में जोहासबर्ग मे 'एशियाटिक ला अमेंडमेंट आर्डिनेंस' के विरुद्ध पहली बार एक सार्वजनिक सभा में सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली गई थी। श्री गांधी के मतानुसार सत्याग्रह में किसी भी रूप में हिसा का कोई स्थान नहीं है और इसमें विरोधी को नुकसान पहुचाने का तनिक भी विचार नहीं होता। श्री गाधी ने अपनी पुस्तक 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका' की भूमिका में लिखा है कि 1919 से पहले मैंने भारत में पाच बार सत्याग्रह का प्रयोग किया।

खिलाफत आंदोलन छेड़ने की तैयारी में थे और उन्हें भी साथियों की जरूरत थी। इससे बढ़कर उनके लिए और खुशी की क्या बात हो सकती थी कि देश का प्रधान राष्ट्रवादी संगठन तुर्की के मामले को अपने हाथ में ले। अतः श्री गांधी और अलीबंधुओं में दो मुद्दों को लेकर फौरन ही गठजोड़ हो गया। ये दो मुद्दे थे पंजाब के अत्याचार और खिलाफत संबंधी शिकायत। अलीबंधुओं और उनके समर्थकों ने अपना संगठन अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी तो अलग ही रखा लेकिन वे पंजाब और खिलाफत संबंधी शिकायतों के बारे में और राजनीतिक स्वाधीनता के बारे में मिलकर आंदोलन करने को सहमत हो गए, क्योंकि राजनीतिक स्वाधीनता ही भविष्य में ऐसी चीजों को रोकने की गारंटी हो सकती थी। दूसरी ओर इंडियन नेशनल कांग्रेस देश भर में खिलाफत संगठनों का पूरा-पूरा साथ देने और खिलाफत और तुर्की संबंधी शिकायतों को दूर करने के लिए आंदोलन करने को वचनबद्ध हुई[1]।

नए विधान के अनुसार जिसे 'गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1919' कहा गया था, विधान मंडलों के लिए नवंबर 1920 में चुनाव होने वाले थे। दिसंबर 1919 में अमृतसर में इस विधान को आजमाने का निश्चय किया जा चुका था, लेकिन इस बीच जनमत में बहुत अंतर आ चुका था। अतः सितम्बर 1920 में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया जिसके अध्यक्ष पंजाब के प्रसिद्ध नेता लाला लाजपत राय थे। श्री गांधी को यह मालूम था कि नए या सुधरे विधान के बारे में विरोध की उनकी नई नीति को कांग्रेस का एक प्रभावशाली वर्ग कभी स्वीकार नहीं करेगा, इसलिए उन्होंने मुसलमान नेताओं और अ. भा. खिलाफत कमेटी से गठजोड़ करके अपने पक्ष को मजबूत कर लिया था। असल में वह देश में अपनी स्थिति के बारे में आश्वस्त थे कि यदि कांग्रेस उनके अहिंसक असहयोग की योजना को ठुकरा भी देती तो भी वह खिलाफत संगठनों की मदद से अपने अभियान को आरंभ कर सकते थे। खैर नौबत यहां तक नहीं आई। मुसलमान नेताओं के अलावा इलाहाबाद के प्रमुख एडवोकेट और संयुक्त प्रांत के नेता पं. मोतीलाल नेहरू जैसे प्रभावशाली नेता उनके साथ थे। श्री गांधी की योजना का विरोध करने वालों में कलकत्ता के प्रमुख वकील श्री चितरंजन दास और कांग्रेस के दो भूतपूर्व अध्यक्ष पं. मदन मोहन मालवीय व श्रीमती एनी बेसेंट थे। इनके साथ और कई प्रांतों के प्रभावशाली लोग भी थे। कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन से कुछ पहले ही लोकमान्य तिलक का स्वर्गवास हो गया। श्री गांधी के वहां एक संभावित प्रतिद्वंद्वी हो सकते थे। उस समय यानी उनकी मृत्यु के समय यह कहना कठिन था कि वह यदि कलकत्ता कांग्रेस में भाग लेने आते

---

1. नवंबर 1919 में दिल्ली में एक खिलाफत सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन खलीफा (जो तुर्की का सुल्तान भी था) की सहायता के लिए क्या कदम उठाए जाएं, इस बात पर विचार करने के लिए श्री गांधी की सदारत में हुआ जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल हुए। इस सम्मेलन में एक प्रभावशाली मुस्लिम नेता मौलाना हसरत मोहानी ने ब्रिटिश माल के बहिष्कार का सुझाव दिया और श्री गांधी ने सरकार से असहयोग करने का प्रस्ताव रखा। वास्तव में खिलाफत आंदोलन फिर भी 1920 तक आकर ही शुरू हो पाया।

तो क्या रुख अपनाते। अमृतसर कांग्रेस के समय उन्होंने श्री गांधी के सहयोग के प्रस्ताव में और श्री विपिनचंद्र पाल, श्री बी. चक्रवर्ती और श्री चितरंजन दास के विरोध के प्रस्ताव में बीच की स्थिति रखी थी। लोकमान्य तिलक के विचार में दूसरे पक्ष के व्यवहार के अनुसार सहयोग करना ही सही नीति थी। दूसरे शब्दों में उनकी नीति इस प्रकार थी कि कांग्रेस को चाहिए कि नए विधान में जो कुछ लाभदायक है उसे स्वीकार करके उस पर अमल करे और जो बेकार अथवा हानिकर है उसे ठुकरा दे। लोकमान्य के निकट अनुयायियों का कहना है कि जीवनपर्यंत वह इसी विचार के रहे। अपने संपूर्ण सार्वजनिक जीवन में लोकमान्य तिलक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वामपक्षी, या कहें कि राष्ट्रवादी या उग्रवादी नेता रहे। दक्षिण पक्ष वालों को नरमदल या उदार कहा जाता था। वह प्रकांड विद्वान, असीम साहसी और त्यागी पुरुष थे। सुदूर बर्मा में छह साल जेल भुगतने के बाद यह और भी तेजस्वी एवं लोकप्रिय होकर उभरे। यदि वह कलकत्ता में कांग्रेस में श्री गांधी का विरोध करने की ठान लेते तो श्री गांधी की स्थिति कठिन हो जाती। लोकमान्य तिलक की मृत्यु से श्री गांधी का मार्ग सरल हो गया। उन्होंने अधिकाधिक अहिंसक असहयोग की नीति अपनाने का प्रस्ताव रखा जिसकी शुरुआत सरकार की ओर से दिए गए खिताबों को त्यागकर और तीन प्रकार के बायकाटों (विधान मंडलों, अदालतों और शिक्षा संस्थाओं) द्वारा होनी थी और समाप्ति लगान बंदी पर होनी थी। यह प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से पास हुआ, अर्थात् 2,728 मतों में से 1,855 इसके पक्ष में रहे।

कलकत्ता के विशेष कांग्रेस अधिवेशन के प्रस्ताव पर दिसंबर 1920 में नागपुर में होने वाले नियमित वार्षिक अधिवेशन में विचार होना था, जिसके अध्यक्ष मद्रास के वरिष्ठ कांग्रेसी नेता श्री विजय राघवाचार्य होने वाले थे। श्री चितरंजन दास और उनके साथी नागपुर अधिवेशन के लिए खूब तैयारी करके आए थे और उनका एक बार फिर से श्री गांधी से दो-दो हाथ करने का इरादा था। किंतु श्री गांधी ने चतुराई से इस स्थिति को संभाला और उनमें तथा श्री दास में समझौता हो गया। श्री चितरंजन दास विशेष रूप से विधान मंडलों के बायकाट के विरुद्ध थे, लेकिन चूंकि उनके चुनाव पहले ही हो चुके थे अतः यह कोई जीवित प्रश्न नहीं रह गया था। इस कारण श्री दास को समझाकर राजी करना संभव हो गया। ऐसा हो जाने पर असहयोग प्रस्ताव की व्यावहारिक रूप से सर्वसम्मति से ही पुष्टि कर दी गई। यद्यपि पं. मदन मोहन मालवीय, श्रीमती एनी बेसेंट, श्री जिन्ना और विपिनचंद्र पाल को इससे संतोष नहीं हुआ।

अधिकाधिक असहयोग के प्रस्ताव की पुष्टि कर देने के अलावा जिसमें विधान मंडलों, न्यायालयों और शिक्षा संस्थाओं का बायकाट शामिल था, नागपुर कांग्रेस ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विधान को बदलने का भी एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। अब तक कांग्रेस के विधान में उसका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन प्राप्त करना लिखा हुआ था। इससे वे सब कांग्रेसजन, जो ब्रिटेन से हर तरह का नाता तोड़ने के पक्ष में थे और जो साम्राज्य के साथ किसी भी तरह बंधे रहने के पक्ष में नहीं थे नाराज थे।

वामपक्ष वालों को फिर से कांग्रेस में लौट आने का मौका देने के लिए कांग्रेस का लक्ष्य 'स्वराज' घोषित कर दिया गया और यह सब कांग्रेसजनों पर छोड़ दिया गया कि वह स्वराज का अपने-अपने ढंग से चाहे जो अर्थ निकालें। श्री गांधी ने स्वराज की परिभाषा अपनी ओर से इन शब्दों में की—'यदि संभव हो तो साम्राज्य के अंतर्गत और आवश्यक हो तो साम्राज्य के बाहर स्वशासन।'

नागपुर कांग्रेस अधिवेशन से पहले कांग्रेस का तंत्र बहुत ढीला-ढाला था। केवल बड़े-बड़े शहरों में ही इसकी शाखाएं थीं और उनके पास सारे साल योजनाबद्ध तरीके से करने को कुछ काम नहीं रहता था। नागपुर में सारे देश में कांग्रेस के पुनर्गठन का भी फैसला किया गया। सबसे छोटी इकाई 'ग्राम कांग्रेस समिति' रखी गई और ऐसी कई इकाइयों से मिलकर यूनियन कांग्रेस समिति बननी थी। फिर इसी प्रकार सब-डिवीजन (तालुका या तहसील), जिले, प्रांतों को और अखिल भारतीय समितियां बनाने की व्यवस्था की गई। अ. भा. कांग्रेस समिति 350 सदस्यों की रखी गई जिसमें प्रांतों के चुने हुए प्रतिनिधि होते थे। यह समिति 15 सदस्यों की कार्य समिति या कार्यकारिणी समिति को चुनती थी और यही सारे देश के लिए कांग्रेस की सर्वोच्च कार्यकारिणी होती थी। इसी समय एक अन्य निर्णय भी लिया गया। प्रांतों को भाषा के आधार पर पुनर्गठित किया गया। उदाहरण के लिए मद्रास प्रेसीडेंसी को दो प्रांतों जैसे तेलुगु भाषी आंध्र और तमिल भाषी तमिलनाडु में बांट दिया गया। कांग्रेस के नए विधान का आधार लोकतांत्रिक और संसदीय स्वरूप रखा गया। नया विधान बनाने के अलावा नागपुर कांग्रेस ने आगामी वर्ष के लिए काम की एक निश्चित योजना तैयार की।

स्वराज की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले उपायों के बारे में भी कांग्रेस विधान में एक परिवर्तन किया गया। अभी तक तो कांग्रेस वैधानिक उपायों से ही बंधी हुई थी, लेकिन भविष्य में कांग्रेस सभी प्रकार के 'शांतिपूर्ण और न्यायोचित' उपाय अपना सकती थी। यह परिवर्तन इस कारण करना जरूरी हो गया ताकि कांग्रेस असहयोग का रास्ता अपना सके वरना असहयोग तो अवैधानिक माना जाता। लक्ष्य और साधन दोनों की दृष्टि से नागपुर कांग्रेस के प्रस्ताव, पं. मदन मोहन मालवीय और श्री जिन्ना जैसे दक्षिणपंथियों और नौजवान वामपंथियों के विचारों में, जो पहली बार 1920 में ही कांग्रेस पर छाए थे, एक सुखद मध्य मार्ग थे। वामपंथी तो चाहते थे कि कांग्रेस का लक्ष्य सभी संभव उपायों और साधनों द्वारा पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना रखा जाए। यह श्री गांधी ही थे जो अपने असाधारण प्रभाव और लोकप्रियता के कारण वामपंथियों को कुछ दूर रखने में सफल हुए। वह विधान जो नागपुर में स्वीकार किया गया और जो आज तक वैसा ही चला आ रहा है, प्रायः उन्हीं का लिखा हुआ था। एक साल पहले अमृतसर कांग्रेस में उन्हें कांग्रेस के वर्तमान विधान को संशोधित करने का अधिकार दे दिया गया था।

इस अधिवेशन में जो अन्य प्रस्ताव स्वीकार किए गए वे चर्खा, खादी, हिंदुओं में

अस्पृश्यता निवारण और स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की स्मृति में एक करोड रुपये की निधि एकत्र करने के बारे में थे (देश भर में घर-घर में कपडा बुनने का उद्योग लगाने के लिए फिर से प्राचीन चर्खे का प्रचार करने का विचार श्री गांधी को एक वर्ष पहले ही आया था)। उपर्युक्त सब प्रस्ताव उपयोगी और लाभदायक थे लेकिन एक प्रस्ताव ऐसा भी था जिसे भारी भूल कहना चाहिए। वह था इंडियन नेशनल कांग्रेस की ब्रिटेन स्थित शाखा और उसके मुखपत्र 'इंडिया' को बंद करने का। इस प्रस्ताव के पालन के साथ ही विदेश में कांग्रेस के प्रचार का एकमात्र केंद्र भी बंद कर दिया गया।

नागपुर कांग्रेस की तरह कलकत्ता कांग्रेस में भी श्री गांधी को बहुत यश प्राप्त हुआ उन्हीं के द्वारा तैयार किए गए विधान और कार्य की योजना यहां स्वीकार की गई। इस अधिवेशन में उपस्थिति भी अभूतपूर्व थी। लगभग 20 हजार लोग इसमे शामिल हुए थे। जनता के जोश और उत्साह का ठिकाना नहीं था। प्रतिष्ठित अतिथियों में ब्रिटिश संसद की लेबर पार्टी के दो सदस्य श्री बेनस्पूर और कर्नल वेजवुड भी थे। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में नागपुर कांग्रेस एक अहम मुकाम था। नरमदलीय या उदारवादियों से इसमें पूरी तरह नाता तोड लिया गया था लेकिन फिर भी उग्रवादियों की पूरी-पूरी जीत हुई यह भी नहीं कहा जा सकता। जैसा कि हम बाद में देखेंगे उग्रवादियों को कांग्रेस को अपने विचारों की ओर मोड़ने के लिए अभी बहुत वर्ष काम करना बाकी था।

यदि निष्पक्षता से विचार किया जाए तो दिखाई देगा कि श्री गांधी ने कांग्रेस और देश के सामने जो योजना रखी वह भारत के इतिहास में बिल्कुल नई नहीं कही जा सकती। बंगाल के लोगों ने 1905 में वाइसराय लार्ड कर्जन द्वारा अपने प्रांत के विभाजन के विरोध में सरकार के खिलाफ जो लडाई लडी उसमें और 1920 में श्री गांधी के नेतृत्व में आरंभ अहिंसक असहयोग की लड़ाई में कई बातें समान थीं। 1905 में बंगाल ने ब्रिटिश माल का और सरकारी स्कूल कालेजों का बायकाट किया और इसी के साथ राष्ट्रीय उद्योगों का पुनरुत्थान एवं हर प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त राष्ट्रीय स्कूल-कालेजों का शुभारंभ हुआ था। और भी कुछ बातें हुईं जैसे कि श्री विपिनचंद्र पाल जैसे नेताओं ने ब्रिटिश अदालतों के सामने साक्ष्य देने से इंकार कर दिया था क्योंकि वे उनके क्षेत्राधिकार को ही नहीं मानते थे। बंगाल के उन दिनों के राष्ट्रवादी आंदोलन के उग्रवादी वर्ग के नेता श्री अरविंद घोष ने इस नीति की तुलना आयरिश 'सिन फीएन' पार्टी की नीति से की है। कई दशक पहले देश में एक और आंदोलन भी हुआ था जिसे श्री गांधी के असहयोग आंदोलन का पूर्व रूप कहा जा सकता है। जब तक यूरोप के वैज्ञानिकों ने कृत्रिम नील का आविष्कार नहीं किया था तब तक बंगाल ही नील उत्पादन का महत्वपूर्ण केंद्र था। उन दिनों नील की खेती के मालिक अंग्रेज होते थे। ये विदेशी जमींदार बहुत अत्याचारी होते थे तथा किसानों पर बहुत ज्यादतियां करते थे। जब उनकी अमानुषिकता असह्य हो गई तो जैसोर और नादियां के किसानों ने कानून को अपने हाथ में ले लिया

और उन्होंने लगान देना बंद कर दिया। किसानों ने नील की खेती बंद कर दी और अंग्रेज जमींदारों का, जो उन्हें आतंकित किया करते थे, वहां रहना असंभव कर दिया। (प्रसिद्ध बंगला लेखक दीनबंधु मित्र की पुस्तक 'नीलदर्पण' में इस प्रकार की घटनाओं का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है)। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब-जब लोगों ने देखा कि सरकार अपना कर्तव्य नहीं निभा रही है, तो उन्होंने अपने ही बलबूते पर अत्याचारों से छुटकारा पाया।

यह तथ्य भी सर्वविदित है कि श्री गांधी अपने जीवन के आरंभिक काल में ईसा मसीह की शिक्षाओं और लियो तोलस्तोय के विचारों से काफी प्रभावित थे। अत: यह दावा नहीं किया जा सकता कि उनके विचार और प्रयोग पूरी तरह मौलिक और नए थे। किंतु उनकी वास्तविक योग्यता दो बातों में थी। उन्होंने ईसा की शिक्षाओं और तोलस्तोय के विचारों को व्यवहार में लाकर दिखाया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि स्वतंत्रता के लिए अहिंसक रहकर भी लड़ा जा सकता है। पहले पहल उन्होंने असहयोग का इस्तेमाल स्थानीय शिकायतों को दूर कराने के लिए किया न कि राष्ट्र के लिए स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए। और उन्होंने बड़ी अच्छी तरह दिखा दिया कि एक विदेशी सरकार के नागरिक प्रशासन को ठप्प करके उसके घुटने टिकवा देना संभव है। कुछ और बातों का भी ऐसा सुखद संयोग हुआ जिन्होंने 1920 में श्री गांधी को सबसे आगे लाकर खड़ा कर दिया। कुछ भी हो देश कांग्रेस से एक साहसी और ओजस्वी नीति की अपेक्षा करता था और उस समय वैसा ही आंदोलन एक मात्र विकल्प था, जैसा श्री गांधी ने आरंभ किया। कलकत्ता कांग्रेस से पूर्व लोकमान्य तिलक के मैदान में न रहने के कारण भी श्री गांधी का कोई संभावित प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया था। लंबी और सूझबूझ के साथ की गई तैयारी के कारण भी श्री गांधी 1920 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का निर्विवाद नेतृत्व संभालने के लिए पूरी तरह सक्षम थे। अपने संयम और सादगी के आचरण द्वारा उन्होंने स्वयं को कष्ट-साध्य जीवन के लिए तैयार कर लिया था और 1914 से 1920 के बीच भारतीय राजनीति में अपनी शिक्षार्थी जैसी स्थिति के दौरान वह अपने साथ वफादार और विश्वस्त अनुयायियों की टोली खड़ी करने में सफल रहे थे। उन्हें सत्याग्रह के हथियार इस्तेमाल करने का अनुभव भी प्राप्त था। यद्यपि रौलेट बिलों के विरोध में 1919 में उनके आंदोलन असफल रहे थे लेकिन फिर भी वह दक्षिण अफ्रीका में काफी यश प्राप्त कर चुके थे। 1919 से पहले उन्होंने भारत में पांच बार सत्याग्रह का प्रयोग किया था और उसके बहुत अच्छे परिणाम निकले थे। अंतिम, लेकिन एक बहुत बड़ी बात यह थी कि उन्होंने देश में साधु-संत जैसी कीर्ति प्राप्त कर ली थी, जो ऐसे देश में उनके लिए अकल्पनीय रूप से मूल्यवान सिद्ध हुई जहां संतों को एक करोड़पति या गवर्नर से कहीं अधिक मान-सम्मान मिलता है।

नागपुर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लोकतांत्रिक विधान के बावजूद श्री गांधी

कांग्रेस के डिक्टेटर के रूप में ही उभरे। लोगों ने स्वेच्छा से उन्हें महात्मा की पदवी दे डाली। यह वह सर्वोपरि प्रतिष्ठा थी जो भारतवासी उन्हें दे सकते थे।

1919 में सारे साल भारत के राजनीतिक गगन मंडल में बिजलियां कड़कती रहीं, लेकिन साल के अंत में बादल फटे और ऐसा लगा कि अमृतसर कांग्रेस शांति की तरफ ले जाएगी। लेकिन अमृतसर में जो अपेक्षाएं जगी थीं वे पूरी नहीं हुईं। एक बार फिर बदलियां घुमड़ने लगीं और सन् 1920 के अंत तक आकाश पर फिर से काले और डरावने बादल छा गए। नए वर्ष के साथ ही बवंडर और तूफान का भी आगमन हुआ और इस बवंडर व तूफान का नियंता था महात्मा गांधी।

अध्याय 2

तूफान आया (1921)

कांग्रेस से उदारवादियों के निकल जाने के बाद कुछ हद तक इसमें बुद्धिजीवियों की कमी हो गई। लेकिन जनता के कांग्रेस के झंडे तले आ जाने से यह कमी कहीं अधिक पूरी हो गई। फिर महात्मा गांधी ने अपने विश्वस्त साथियों में से कुछ ऐसे वरिष्ट कांग्रेस जनों को चुना, जिनका देश में बड़ा सम्मान था और जो अपने-अपने व्यवसाय को त्याग कर कांग्रेस के लिए पूरा समय देकर काम करने को आ गए थे। कलकत्ता के प्रमुख वकील श्री चितरंजन दास[1] अब तक भारत की राजनीति और बंगला साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके थे। उन्होंने अपनी लाखों आय वाली वकालत छोड़ दी और असहयोग आंदोलन में कूद पड़े। इलाहाबाद में आये पंडित मोतीलाल नेहरू, जो इलाहाबाद हाई कोर्ट के एक प्रमुख वकील थे, ने भी अपनी वकालत छोड़ दी और मित्र का साथ दिया उनके सुपुत्र पं. जवाहरलाल नेहरू ने जो पेशे से वकील थे और जिनके भाग्य में आने वाले समय में देश में बहुत नाम कमाना लिखा था। पंजाब में महात्माजी को मिले वहां के बेताज बादशाह लाला लाजपत राय। वह भी पहले वकालत करते थे। बंबई प्रेसीडेंसी से महात्माजी को मिले पटेलबंधु विट्ठल भाई पटेल और वल्लभ भाई पटेल और लोकमान्य तिलक के उत्तराधिकारी पूना के श्री एन.सी. केलकर। मध्य प्रांत के जिन नेताओं ने महात्माजी का साथ दिया उनमें थे नेत्र चिकित्सक डा. मुंजे और एडवोकेट श्री अभ्यंकर। बिहार के नेता थे डा. राजेन्द्र प्रसाद, जिन्होंने पटना में अच्छी-खासी वकालत को त्याग कर कांग्रेस के लिए काम करना शुरू कर दिया। मद्रास प्रेसीडेंसी के तमिलभाषी क्षेत्र से आए श्री राजगोपालाचारी, श्री ए. रंगास्वामी आय्यंगार और श्री सत्यमूर्ति तथा तेलुगुभाषी क्षेत्र से श्री प्रकाशम्। ये सब भी पेशे से वकील थे। कांग्रेस की सर्वोच्च कार्यकारिणी में शामिल थे अलीबंधु — मौ. मुहम्मद अली और मौ. शौकत अली, इस्लाम के चोटी के विद्वान मौ. अबुल कलाम आजाद और दिल्ली के डा. अंसारी। ये सब मुस्लिम नेता मुसलमानों के नवजागरण के प्रतिनिधि थे। इस प्रकार स्पष्ट था कि महात्मा गांधी को अपने आंदोलन के आरंभिक काल में ही बड़ी अच्छी टोली मिल गई थी।

कांग्रेस की अपील पर जिन लोगों ने अपना व्यवसाय त्याग दिया था उनमें वकील सबसे आगे थे। देशबंधु चितरंजन दास और पं. मोतीलाल नेहरू जैसे वकीलों ने ऊँचे

---

1 उस समय चितरंजन दास की लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि उन्हें तुरत ही लोगों ने देशबंधु की उपाधि दे दी।

वकीलों की मिसाल ने उनसे छोटे दर्जे के वकीलों को भी प्रेरणा दी और देश भर में बहुत से वकीलों ने वकालत छोड़ दी और इस तरह कांग्रेस को पूरा समय काम करने वाले प्रतिष्ठित और प्रभावशाली कार्यकर्ताओं का बड़ा दल मिल गया। कांग्रेस ने अदालतों के बहिष्कार की जो अपील की थी इसमें उसे काफी सफलता मिली। एक ओर तो बहुत से वकीलों ने हमेशा के लिए अपनी वकालत छोड़ दी और दूसरी तरफ इस बात का और भी जोरदार अभियान चलाया गया कि लोग अंग्रेजों का अदालतों में न जाएं और आपस में ही समझौता या बीच-बचाव के द्वारा अपने झगड़े-टंटे निपटा लें। वास्तव में हुआ भी यह कि सारे देश में कांग्रेस ने अपने नियंत्रण में समझौता बोर्ड बनाए और जब लोगों ने अदालतों में जाना कम कर दिया तो मुकदमेबाजी से होने वाली सरकार की आमदनी भी काफी घट गई। न्यायालयों के बहिष्कार के साथ-साथ नशाबंदी का भी अभियान चलाया गया जिसमें लोगों से हर प्रकार के मादक द्रव्यों का सेवन छोड़ने का आग्रह किया गया। इस आंदोलन का देश भर में बड़ा ही चमत्कारी प्रभाव हुआ और बहुत से प्रांतों में शराब और अन्य नशीले पदार्थों से होने वाली आबकारी की सरकारी आय घट कर एक तिहाई रह गई। बिहार जैसे कुछ प्रांतों में सरकार को शराब और अन्य मादक द्रव्यों का प्रचार करने के लिए अभियान चलाने पड़े ताकि उसकी आमदनी बढ़े।

नशा विरोधी आंदोलन जनता में बहुत लोकप्रिय हुआ क्योंकि इसने नैतिक और आर्थिक दोनों ही उद्देश्यों को पूरा किया और साथ ही सरकार को इससे काफी परेशानी उठानी पड़ी। इसी अभियान के साथ अस्पृश्यता या छुआछूत मिटाने का भी आंदोलन चलाया गया। भारत के कुछ भागों में विशेषकर दक्षिण भारत में भंगी आदि कुछ जातियां अस्पृश्य मानी जाती थीं। कुछ जातियों के लोग उनके साथ बैठकर न भोजन करते, न उनका छुआ हुआ खाना खाते या पानी पीते और न उन्हें मन्दिरों में जाने देते। ऐसी भावना भारतीयों की एकता में बड़ी बाधक थी, नैतिक और मानवीय दृष्टि से बिलकुल अनुचित थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि जब कांग्रेस ने भारत को राजनीतिक स्वाधीनता दिलाने का संकल्प किया तो जनता को हर प्रकार की सामाजिक बेड़ियों से मुक्त कराना भी इसका कर्तव्य हो गया।

जनता को कुछ आर्थिक राहत देने के लिए कांग्रेस ने विदेशी कपड़े के बायकाट और चरखे की कताई और बुनाई को फिर से प्रोत्साहित करने का भी आंदोलन चलाया। विदेशी माल के बायकाट का विचार नया नहीं था क्योंकि ब्रिटिश या विलायती कपड़े के बायकाट का नारा तो बंगाल में काफी पहले 1905 में ही लगाया जा चुका था। हाथ की बुनाई को पुनर्जीवित करने की बात भी नई नहीं थी क्योंकि भारत का करघा उद्योग विदेशी और स्वदेशी मिलों के कपड़े से मुकाबला करके भी जिंदा था। हां, चरखे को फिर से जीवित करना एक नया और साहसपूर्ण विचार था, क्योंकि घर-घर में चरखा कातने का पुराना रिवाज प्रायः देश में खत्म हो चला था। शुरू में तो यह कठिनाई आई कि ऐसे

स्त्री-पुरुष ही नहीं मिलते थे जो चरखा चलाना सिखा सकें। महात्माजी स्वयं बहुत अच्छा कातते थे। उन्होंने ऐसे बहुत से लोग तैयार किए जो खुद कात और बुन सकते थे। ऐसे हजार लोगों की टोलियां तैयार करके देश भर के दूर-दूर के गांवों में लोगों को कताई सिखाने के लिए भेजी गईं। शुरू में चरखे प्राप्त करना या खरीदना भी कठिन था। शहरों से चरखे बनवा कर तब तक गांवों में भेजने पड़ते थे जब तक गांवों के बढ़ई या कारीगर फिर से चरखे बनाना न सीख गए। हाथ के कते सूत से हाथ का बुना कपड़ा खादी या खद्दर कहलाता था और मिल के कपड़े के मुकाबले काफी खुरदरा होता था। जैसे-जैसे खद्दर का उत्पादन बढ़ा यह खुद-ब-खुद भारत में कांग्रेस जनों की पोशाक बन गई। कांग्रेसियों के लिए जरूरी था कि वे स्वेच्छा से मोटी खादी पहन कर देशवासियों के सामने एक आदर्श मिसाल रखें और मिल के कपड़ों का बहिष्कार करें।

इस काम को करने के लिए धन और जन दोनों की आवश्यकता थी। अतः महात्माजी ने राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्यों और एक करोड़ रुपये के कोष की अपील की। इस अपील का बहुत अच्छा प्रभाव हुआ पर धन एकत्रित करने और सदस्य बनाने के लिए शुरू में बहुत से कार्यकर्ताओं की आवश्यकता थी। यह कार्यकर्ता वर्ग विद्यार्थियों में से निकालना था। इस प्रकार 1921 का साल स्कूलों और कालेजों के बायकाट के सबल अभियान से शुरू हुआ। भारी संख्या में विद्यार्थियों ने इस अपील को माना और सबसे अधिक इसका प्रभाव पड़ा बंगाल पर, जहां देशबंधु चित्तरंजन दास के महान त्याग ने युवकों के मन मस्तिष्क को आंदोलित कर दिया और उनमें स्फूर्ति की लहर जगा दी। इन्हीं विद्यार्थियों ने कांग्रेस के संदेश को देश के कोने-कोने तक पहुंचाया, निधि एकत्र की, सदस्य बनाए, सभाएं और प्रदर्शन किए, नशाबंदी का प्रचार किया, समझौता बोर्ड या मध्यस्थ मंडल स्थापित किए, चरखा कातना व बुनना सिखाया और कुटीर उद्योगों को पुनर्जीवित करने की कोशिशें कीं। इन विद्यार्थियों के सहयोग के बिना महात्माजी का सम्पूर्ण प्रभाव भी देश को बहुत आगे नहीं ले जा सकता था।

1921 में विद्यार्थियों को स्कूल और कालेज छोड़ने का आग्रह करने की नीति की बहुत आलोचना की गई। कुछ भी हो यदि हम 1920-21 में देश की स्थिति की भावुकता से ऊपर उठकर समीक्षा करें तो हम पाएंगे कि यदि कांग्रेस अपने संकल्पों को क्रियान्वित करना चाहती थी, तो उसके सामने ऐसा करने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं था। यह भी बता देना आवश्यक होगा कि मूल रूप से कांग्रेस ने राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित करने का काम हाथ में नहीं लिया था, लेकिन बाद में सारे देश में ऐसी शिक्षा संस्थाएं स्थापित की जाने लगीं। जो विद्यार्थी असहयोग आंदोलन के अधीन सरकारी या सरकारी नियंत्रण वाले विद्यालयों में अपनी पढ़ाई छोड़ चुके थे पर अधिक स्वस्थ वातावरण में फिर आगे पढ़ना चाहते थे वे इन नव स्थापित राष्ट्रीय विद्यालयों में अपनी पढ़ाई जारी रख सकते थे। ऐसे विद्यालय बंबई, अहमदाबाद (बंबई प्रेसीडेंसी), पूना (बंबई प्रेसीडेंसी), नागपुर

(मध्य प्रांत), बनारस (संयुक्त प्रांत), पटना (बिहार) कलकत्ता और ढाका (बंगाल) में शुरू किए गए। इनमें से कुछ साहित्यादि की शिक्षा और कुछ तकनीकी और डाक्टरी शिक्षा देते थे लेकिन चरखा कातना सबमें अनिवार्य था। बहुत से स्थानों में लड़कियों के लिए अलग विद्यालय आज भी चल रहे हैं और उनका खूब विस्तार हुआ है। इन विद्यालयों के अलावा देश भर में एक अन्य प्रकार की शिक्षा संस्थाएं भी आरंभ की गईं जो प्राचीन ऋषियों के आश्रमों की तरह 'आश्रम' ही कहलाती थीं। ये पूरा समय देने वाले राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के रहने के स्थान थे। इनमें नए-नए कार्यकर्त्ताओं को ट्रेनिंग भी दी जाती थी और प्रायः कांग्रेस कमेटियों के कार्यालय भी इन्हीं में हुआ करते थे। ये आश्रम कताई और बुनाई के केन्द्र भी हुआ करते थे। इन केंद्रों से रुई और धागा कताईकारों और बुनकरों को दिया जाता था और उनसे सूत और कपड़ा लिया जाता था। बहुत से आश्रमों में कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं और स्थानीय लोगों के लिए वाचनालय भी हुआ करते थे।

दिसंबर 1920 में नागपुर में अधिकाधिक असहयोग का जो कार्यक्रम स्वीकार किया गया था, उसमें तीन प्रकार के बायकाट के अलावा एक अन्य सूत्र, सरकार द्वारा दिए गए खिताब तथा सरकारी नौकरियां छोड़ने का भी था। खिताब तो अपेक्षाकृत अधिक लोगों ने छोड़ा। मैं भी सरकारी नौकरियां छोड़ने वाले थोड़े से लोगों में था। मैंने 1920 में इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास की थी। लेकिन मैंने सोचा कि दो मालिकों के नीचे काम करना संभव नहीं होगा। ये दो थे ब्रिटिश सरकार और मेरा अपना देश। मैंने मई 1921 में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और देश में चल रहे राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेने के लिए शीघ्र स्वदेश रवाना हो गया। उस समय राष्ट्रीय आंदोलन पूरे जोरों पर था। मैं 16 जुलाई को बंबई पहुंचा और उसी दिन मैंने तीसरे पहर महात्माजी से भेंट की। महात्मा गांधी से भेंट करने का मेरा उद्देश्य उस नेता से भेंट करना और उनकी कार्य-योजना की स्पष्ट कल्पना प्राप्त करना था जिसके आंदोलन में मैं भाग लेने जा रहा था। पिछले कुछ वर्षों में मैंने संसार के अन्य क्रांतिकारियों की कार्यविधियों और रणनीतियों का कुछ अध्ययन किया था। अपने ज्ञान और उसी के प्रकाश में मैं महात्माजी के मन और मंतव्य को पढ़ना चाहता था।

मुझे आज भी उस दिन का सारा दृश्य बड़ी अच्छी तरह याद है। मणि भवन पहुंचते ही, जहां कि बंबई में आने पर महात्माजी ठहरा करते थे, मुझे एक कमरे में ले जाया गया, जिसमें भारतीय कालीन बिछे हुए थे। दरवाजे के सामने कमरे के ठीक बीच में महात्माजी अपने निकट अनुयायियों से घिरे बैठे थे। सभी घर की बनी खादी के वस्त्र पहने थे। कमरे में प्रवेश करते ही मुझे अजीब सा लगा क्योंकि सब खादीधारियों के बीच मैं ही अकेला विलायती सूट पहने था। इसके लिए मुझे क्षमा मांगनी पड़ी। महात्माजी ने अपनी निराली और सहृदय मुस्कान के साथ मेरा स्वागत किया और जल्दी ही मेरा संकोच दूर कर दिया। फौरन ही हम दोनो का वार्तालाप शुरू हो गया। मैं हर बात को

विस्तार से और स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहता था कि उनकी योजना के क्या और कौन से चरण होंगे और योजनानुसार धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए अंत में किस तरह विदेशी नौकरशाही से सत्ता छीन ली जाएगी। इस दृष्टि से मैंने महात्माजी पर प्रश्नों की बौछार करनी शुरू कर दी और वह अपने स्वाभाविक धैर्य के साथ मेरे प्रश्नों का उत्तर देते रहे। मेरे विचार में तीन बातें ऐसी थीं जिनके बारे में स्पष्ट व्याख्या होनी आवश्यक थी। पहली यह कि कांग्रेस ने जो विभिन्न काम हाथ में लिए हैं, उनसे आंदोलन के अंतिम चरण तक यानि कि लगान बंदी या करबंदी करने तक कैसे पहुंचा जा सकेगा। दूसरा यह कि करबंदी, सविनय अवज्ञा या सिविल नाफरमानी सरकार को किस तरह इतना मजबूर कर देगी कि वह हमें आजादी देकर खुद मैदान छोड़ कर चली जाए। तीसरा यह कि महात्माजी एक साल के भीतर 'स्वराज्य' का वायदा कैसे कर सकते थे जैसाकि वह नागपुर कांग्रेस के बाद से बराबर कहते चले आ रहे थे। उनके उत्तर ने मेरे पहले सवाल का समाधान किया। उन्होंने सदस्य बनाने और एक करोड़ रुपये की निधि जमा करने के लिए जो अपील की थी उसकी अच्छी प्रतिक्रिया हुई थी, इसलिए वह इस बारे में कुछ न कहकर अपनी योजना की अगली मद पर आ गए अर्थात् विदेशी कपड़े के बायकाट और घर की कती-बुनी खादी पर। अगले कुछ महीनों में वह खादी आंदोलन पर ही ध्यान देने वाले थे और उन्हें आशा थी कि ज्यों ही सरकार को यह लगेगा कि कांग्रेस के शांतिपूर्ण रचनात्मक कार्य सफल हो रहे हैं, त्यों ही वह कांग्रेस पर चोट करने के लिए कदम उठाएगी। जब सरकार ऐसा करेगी तभी सरकार की अवज्ञा करने और जेल जाने का समय होगा। जल्दी ही जेलें इतनी भर जाएंगी कि उनमें और लोग नहीं समा सकेंगे, और फिर आएगा हमारे आंदोलन का अंतिम चरण यानी लगानबंदी।

महात्माजी के अन्य दो प्रश्नों के उत्तर संतोषजनक नहीं थे। मैंने उनसे पूछा कि क्या बायकाट आंदोलन से लंकाशायर (ब्रिटेन में वस्त्र उद्योग का बड़ा केंद्र) में इतना संकट पैदा हो जाएगा जिसके कारण संसद और मंत्रिमंडल पर इतना दबाव पड़ेगा कि वे भारत की शर्तें मानने को मजबूर हो जाएंगे। लेकिन महात्माजी की बातचीत से मैंने ऐसा समझा कि वह इसे ऐसा साधन नहीं मानते, जिससे सरकार कांग्रेस की शर्तें मानने को तैयार हो जाए। फिर उनकी असल अपेक्षा क्या थी यह मैं नहीं समझ पाया। या तो वह समय से पूर्व अपने सब रहस्य नहीं खोलना चाहते थे या उन्हें उन चालों और तरीकों के बारे में खुद भी स्पष्ट कल्पना नहीं थी, जिनसे सरकार को कुछ करने को मजबूर किया जा सकता था।[1] कुल मिलाकर दूसरे सवाल का उनका उत्तर मुझे निराशाजनक लगा या तीसरे का उत्तर भी इससे बेहतर नहीं था। स्वराज्य उनके लिए विश्वास की वस्तु बन गई यानि एक वर्ष में स्वराज्य अवश्य मिल जाएगा। यह बात मेरे लिए स्पष्ट नहीं थी

1 आज इस प्रश्न पर फिर से दृष्टि डालने पर मुझे ऐसा लगता है कि महात्माजी को शायद आशा थी कि ब्रिटिश सरकार का हृदय परिवर्तन हो जाएगा और वह भारत की राष्ट्रीय मांगें को मान लेगी।

और सच कहूं तो मैं इससे कहीं अधिक लंबे समय तक स्वराज्य के लिए काम करने को तैयार था। खैर, घंटे भर की बातचीत से मैंने जो कुछ समझा था उसके लिए उनका आभारी होने के सिवा मैं और कर भी क्या सकता था। यद्यपि मैंने अपने मन को बहुत समझाया कि मेरे ही समझने में कमी रह गई होगी लेकिन मेरी तर्क बुद्धि ने बार-बार मुझसे कहा कि महात्माजी ने जो योजना बनाई है, उसमें स्पष्टता की बेहद कमी है। भारत की आजादी की ओर ले जाने वाले अपने आंदोलन के आगे आने वाली परिस्थितियों या चरणों के बारे में उनके खुद के विचार भी स्पष्ट नहीं थे।

मैं हताश और निरुत्साहित हुआ पर करता क्या? महात्माजी ने मुझे कलकत्ता में देशबंधु चित्तरंजन दास से जाकर मिलने की सलाह दी। मैं तो कैम्ब्रिज से पहले ही उन्हें पत्र लिख चुका था कि मैंने इंडियन सिविल सर्विस से इस्तीफा दे दिया है और मैं राजनीतिक आंदोलन में हिस्सा लेना चाहता हूं। इंग्लैंड में हमारे कानों में पड़ चुका था कि वह अपनी शानदार वकालत छोड़ कर अपना सारा समय राजनीतिक काम में लगाने वाले हैं और उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति भी राष्ट्र को दान कर दी है। इस महापुरुष से मिलने की उत्सुकता में मैं अपनी वह सब हताशा और हतोत्साह भूल गया जो महात्माजी से अपनी भेंट मे मुझे मिला था और जितनी उत्तेजना और उत्साह के साथ मैं बंबई आकर उतरा था उतने ही उत्साह के ही साथ मैं बंबई से कलकत्ता के लिए रवाना हुआ। कलकत्ता पहुंच कर सीधा देशबंधु के घर जा पहुंचा। मुझे एक बार फिर निराश होना पड़ा क्योंकि वह प्रांत के भीतरी भागों के लंबे दौरे पर निकले हुए थे। उनके लौटने की प्रतीक्षा करने के अलावा मेरे पास कोई चारा नहीं था। जब मुझे उनके लौटने का पता चला तो मैं फिर उनसे मिलने गया। वह घर पर नहीं थे, पर उनकी पत्नी श्रीमती वासंती देवी ने बड़े ही स्नेह और आत्मीयता से मुझे बिठाया। जल्दी ही वह वापस आ गए। मेरी तरफ बढ़ता हुआ उनका भारी-भरकम शरीर आज भी मेरी आंखों के सामने चित्रवत् आ जाता है। अब वह पहले वाले चित्तरंजन दास नहीं थे जिनसे मैं एक बार पहले सलाह लेने के लिए मिला था। तब वह कलकत्ता के एक प्रमुख वकील थे और मैं राजनीतिक कारणों से विश्वविद्यालय से निष्कासित छात्र। अब वह भी एक दिन में हजारों रुपये कमाने और घंटे भर में ही हजारों रुपये खर्च कर देने वाले चित्तरंजन दास नहीं थे। उनका घर भी अब पहले जैसा महल नहीं था लेकिन वह वही चितरंजनदास थे जो सदा युवकों के सच्चे मित्र, उनकी आकांक्षाओं को समझने और उनके दुखों में उनसे सदा सहानुभूति रखते आए थे। अपनी बातचीत के दौरान मैंने अनुभव करना शुरू किया कि वह ऐसे आदमी हैं, जो जानते हैं कि उन्हें क्या करना है। वह ऐसे व्यक्ति थे जो अपना सर्वस्व दे सकते थे और दूसरे से, जो कुछ वह दे सकता था, मांग सकने में भी सक्षम थे। वह ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें जवानी कोई दोष नहीं बल्कि गुण दिखाई देती थी। उनसे बात करते-करते मैंने अपना मन पक्का कर लिया। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरा नेता मिल गया है और बस मुझे उसी का अनुकरण करना है।

कलकत्ता में आ बसने पर मैंने देश की स्थिति का और खास कर बगाल की स्थिति का जायजा लेना शुरू किया। उस समय सारे देश में असाधारण उत्साह था।[1] तीन सूत्री बायकाट काफी सफल रहा। यद्यपि विधान मडल खाली नहीं थे पर कोई कांग्रेसजन उनमें झांकता नहीं था। कुल मिलाकर वकीलों ने अच्छा काम कर दिखाया था और छात्र वर्ग तो इस अग्नि-परीक्षा से बहुत ही सफल होकर निकला था। कांग्रेस सदस्य बनने और निधि एकत्र करने की अपील का भी अच्छा परिणाम निकला था। इन हालात से प्रोत्साहित होकर महात्माजी ने जुलाई में विदेशी कपड़े के बायकाट और कताई-बुनाई को फिर से जीवित करने का अपना आंदोलन छेड़ दिया। लोकमान्य तिलक की बरसी पर 1 अगस्त, 1921 को देश भर में विदेशी कपड़े की बड़ी-बड़ी होलियां जलाई गईं। कांग्रेस नेताओं ने इन होलियों के साथ देश का सारा आलस्य, दुर्बलता और गद्दारी के भस्म किए जाने जैसे प्रतीकार्थ भी लगा दिए थे। मुसलमानों का पूरा-पूरा समर्थन इस आंदोलन को मिल रहा था। असहयोग के अनोखे तरीके ने इसे और भी बल प्रदान किया। 'एक वर्ष में स्वराज्य' के नारे ने बहुत से ऐसे लोगों को भी इस आंदोलन में खींच लिया जो लंबे अर्से तक कुर्बानियां करने को तैयार न होते।

बंगाल में इन दिनों दो महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं। एक थी असम-बंगाल रेलवे की हड़ताल और दूसरी मिदनापुर जिले में लगानबंदी आंदोलन। रेलवे की हड़ताल से पूर्वी बंगाल और असम में रेल और स्टीमर यातायात पूरी तरह ठप्प हो गया था। हड़ताल का संचालन बंगाल की कांग्रेस कमेटी ने किया था और शुरू में यह इतनी सफल रही कि लोगों को इस बात का एहसास हो गया कि यदि वे सरकार के खिलाफ मिलकर एक हो जाएं तो वे कितनी बड़ी ताकत बन सकते हैं। समय रहते इस हड़ताल का फैसला नहीं हो पाया और यह बहुत लंबे समय तक चलती रही, अतः टूट गई। जिसका परिणाम बहुत हानिकारक हुआ। इस हड़ताल के कारण ही श्री जतीन्द्र मोहन सेनगुप्त आगे आए और जनता की निगाह में चढ़ गए। दूसरी महत्वपूर्ण घटना मिदनापुर जिले का लगानबंदी आंदोलन था। 1919 में बंगाल के गवर्नर की कार्यकारी परिषद के सदस्य सर एस. पी. सिन्हा (बाद में लार्ड सिन्हा) की कोशिश से गांवों को कुछ मात्रा में स्वशासन देने के कथित उद्देश्य से एक ऐक्ट बनाया गया था, जिसके अधीन प्रांत के थोड़े-थोड़े गांवों को मिलाकर यूनियन बोर्ड बनाने की व्यवस्था थी। इस कानून की मुख्यतः इन दो आधारों पर काफी आलोचना हुई थी। पहला यह कि जो शक्तियां गांवों को मिलनी चाहिए थीं, वे जिला अधिकारियों के ही हाथ में रहीं जैसे कि गांवों में पुलिसजनों को नियुक्त करना। दूसरे यूनियन बोर्डों की स्थापना से कुछ अतिरिक्त कर तो लग गए थे पर उनके बदले में लाभ कुछ नहीं मिलने वाले थे। ऐक्ट में ऐसा प्रावधान था कि प्रांतीय सरकार चाहे तो वह किसी भी जिले में इस व्यवस्था को लागू करे और चाहे तो वापस ले ले। एक

---

1 छुआछूत मिटाने, शराब, नशाखोरी और मादक द्रव्यों की बिक्री आदि के विरुद्ध प्रचार में जनता ने बहुत उत्साह दिखाया था।

वकील श्री बी.एन ससमल के नेतृत्व में मिदनापुर जिले के लोगों ने इस ऐक्ट को अपने जिले से हटवाने के लिए आंदोलन चलाया और अपनी माग पर जोर देने के लिए उन्होंने नए बने यूनियन बोर्डों द्वारा लगाए गए कर देना बंद कर दिया। जिले पर नया ऐक्ट लागू करने के लिए सरकार की ओर से कई दमनकारी कदम उठाए गए। लोगों की जायदाद जब्त की गई, गांव वालों को तंग किया गया, उन पर मुकदमे चलाए गए, पुलिस और सेना ने भी जोर जबरदस्ती की। 1921 में सारा साल दमन चक्र चलता रहा फिर भी अगले साल, 1922 में, इस ऐक्ट को वापस लेना ही पड़ा। इस करबंदी आंदोलन से मिदनापुर के लोगों में काफी आत्म-विश्वास और मनोबल आया और साथ ही उनके नेता श्री बी.एन. ससमल को लोकप्रियता मिली।

अपने इस वर्णन को यहीं रोक कर यह बताना आवश्यक होगा कि 1921 में सरकार ने क्या रुख अख्तियार किया। पहले तो वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने महात्मा गाधी को खास महत्व नहीं दिया। जनवरी मे वर्तमान बादशाह के चाचा कनाट ड्यूक नई विधायिकाओं का उद्घाटन करने के उद्देश्य से भारत आए। इंडियन नेशनल काग्रेस ने उनकी यात्रा का बायकाट किया और ड्यूक जहा भी गए वहीं प्रदर्शन हुए। इन प्रदर्शनो से भारत सरकार चिढ़ गई और उपेक्षापूर्ण तटस्थता का उनका अब तक का रवैया धीरे-धीरे बदलने लगा। अप्रैल में लार्ड चेम्सफोर्ड की जगह इग्लैंड के भूतपूर्व सुयोग्य मुख्य न्यायाधीश लार्ड रीडिग भारत के वाइसराय बन कर आए। मई में लार्ड रीडिंग के भारत आने के थोड़े समय बाद ही उनकी और महात्मा गाधी की भेंट का प्रबंध किया गया। इस भेंट में लार्ड रीडिंग ने महात्मा गाधी को आश्वासन दिया कि जब तक हिंसा नहीं होगी वह कांग्रेस के काम में दखल नहीं देंगे। उन्होंने यह भी बता दिया कि महात्मा गांधी के दाहिने हाथ अर्थात मौलाना मुहम्मद अली ने हिंसा अपनाने की अपील की है और सरकार उन पर मुकदमा चलाने की सोच रही है। महात्माजी ने वायदा किया कि वह मौलाना से सार्वजनिक रूप से वायदा कराएंगे कि उन्होंने हर प्रकार से हिंसा को त्याग दिया है और यह वादा पूरा भी किया गया। इस मामले में यद्यपि गलत या अपमानजनक कोई बात नहीं थी फिर भी जनता को ऐसा लगा कि चतुर वाइसराय ने महात्मा और मौलाना दोनों को मात दे दी है। यद्यपि, इस भेंट के बाद मौलाना मुहम्मद अली पर मुकदमा नहीं चलाया गया लेकिन कराची में, अगस्त में खिलाफत काफ्रेंस में भाग लेने के कारण उन्हें और अन्य मुस्लिम नेताओं को सितंबर महीने में गिरफ्तार कर लिया गया और दो वर्ष की कैद की सजा सुना दी गई। इस कार्फ्रेंस में एक प्रस्ताव पास करके सब मुसलमानो से सैनिक और असैनिक हर प्रकार की सरकारी नौकरी छोडने को कहा गया था और यह कानून भंग करना था। अली बधुओं और उनके साथियों को सजा हो जाने के बाद महात्मा गांधी चुनौती स्वीकार करने के लिए आगे आए। खिलाफत कांफ्रेंस वाले प्रस्ताव पर ही 46 प्रमुख कांग्रेसी नेताओं ने हस्ताक्षर करके उसे प्रकाशित कराया और फिर देश भर में इसे हजारों मंचों से दुहराया गया। लेकिन सरकार ने इस अवज्ञा की तरफ ध्यान नहीं दिया

और एक आदमी को भी गिरफ्तार नहीं किया। सितंबर में इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली (यानि नए विधान के अधीन स्थापित केन्द्रीय पार्लियामेंट) ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें 1929 से पहले विधान की समीक्षा और संशोधन करने का अनुरोध किया गया था। तुरंत तो इसका कोई जवाब सरकार की तरफ से नहीं आया लेकिन अगले साल (भारत मंत्री) लार्ड पील ने इस बारे में 3 नवंबर, 1922 के एक खरीते में कहा था कि विधान पर इतनी जल्दी दुबारा विचार करना जल्दबाजी होगी।

उपर्युक्त वर्णन से ऐसा लगेगा कि 1921 के सारे साल महात्मा गांधी एक लहर में ऊपर से ऊपर उठते गए और उनके रास्ते में कोई बाधा नहीं थी। लेकिन ऐसा सोचना ठीक नहीं होगा। इसमें कोई शक नहीं कि देश का बहुत बड़ा जनमत उनके साथ था लेकिन जहां तक बुद्धिमान लोगों का प्रश्न था कुछ तत्व उनके विरोध में भी थे। पहली बात तो यह कि उदारवादी सर्वत्र उनके विरोधी थे और उन्होंने अधिकांश प्रांतों में मंत्री पद स्वीकार कर लिए थे। उदारवादी लोगों का यह सहयोग भारत मंत्री श्री मान्टेग्यू के प्रयत्नों का सीधा परिणाम था और जब तक वह अपने पद पर रहे अर्थात् मार्च 1922 तक उदारवादी लोग विधान का बड़े उत्साह से समर्थन करते रहे। ब्रिटिश मंत्रिमंडल से उनके इस्तीफे के बाद उदारवादियों में प्रतिक्रिया शुरू हुई और उन्होंने महसूस करना शुरू किया कि उनके लिए अपना सहयोग बनाए रखना उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा है। अप्रैल 1922 में सर तेज बहादुर सप्रू ने वाइसराय की कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया। धीरे-धीरे सभी उदारवादी सरकार के विरुद्ध हो गए और स्थिति यहां तक बदली कि जब 1927 में साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई तो कांग्रेसजनों और उदारवादियों ने एक मंच से उसके बायकाट की अपील की।

भारत के विश्वविद्यालयों के अधिकारियों की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण भी प्रायः बहुत कुछ उदारवादियों जैसा ही था क्योंकि उन पर भी शिक्षा संस्थाओं के बायकाट की कांग्रेस की नीति का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। यद्यपि थोड़ी देर तक यह प्रभाव असहयोग आंदोलन के ज्वार में डूब गया था फिर भी वह कांग्रेस के विपरीत अपने बचे-खुचे प्रभाव को इस्तेमाल करते ही रहे। इस दिशा में उन्हें भारत के यशस्वी कवि डा. रवीन्द्रनाथ टाकुर जैसी विभूति का समर्थन प्राप्त हुआ। कविवर रवीन्द्रनाथ अपनी यूरोप यात्रा से जुलाई के मध्य में बंबई पहुंचे। वास्तव में मैं और वह एक ही जहाज से सफर कर रहे थे। समुद्र यात्रा के दौरान मुझे उनके साथ कांग्रेस की असहयोग की नई नीति पर बातचीत करने का मौका मिला था। वह असहयोग के विचार के विरोधी तो नहीं थे, वह इतना ही चाहते थे कि अभी और अधिक रचनात्मक कार्य की आवश्यकता है ताकि ऐसी अवस्था आ जाए जिसमें पूर्णतः जन सहयोग और समर्थन के आधार पर राज्य के भीतर एक और राज्य स्थापित हो जाए। वह जो चाहते थे वह बिलकुल आयरिश सिन फीन के आंदोलन के अनुरूप था और इस बारे में मेरे और उनके विचार पूरी तरह एक से थे। लेकिन भारत पहुंचते ही वह ऐसे लोगों के गुट से घिर गए जो असहयोग आंदोलन के विरोधी थे और

जो इस आंदोलन की त्रुटियों की और महात्माजी के आधुनिक विज्ञान और आधुनिक चिकित्सा विषयक निजी विचारों पर उंगली उठाते थे, जिनका कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम से कोई संबंध नहीं था। इस विचार से प्रभावित होकर कि असहयोग आंदोलन का उद्देश्य पश्चिम के विज्ञान संस्कृति और सभ्यता से पूरी तरह नाता तोड़ना है, कविवर ने कलकत्ता में एक व्याख्यान दिया जिसमें उन्होंने संस्कृति की एकता और शेष संसार की संस्कृति और सभ्यता से भारत को काटने के प्रयत्न की घुमा-फिराकर भर्त्सना की और शिक्षा संस्थाओं के बायकाट को भी गलत बताया। कांग्रेस के लोग इस हमले को चुपचाप सहन नहीं कर सकते थे पर इसका जवाब दे सकने योग्य रवीन्द्रनाथ जैसी गरिमा वाले साहित्यिक व्यक्ति को पाना भी तो असंभव था। खैर इसका जवाब देने के लिए सामने आए बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचंद्र चटर्जी। उन्होंने 'संस्कृतियों का संघर्ष' के अंतर्गत रवीन्द्रनाथ के कथन का जवाब दिया। इस भाषण का साराश यह था कि यद्यपि संस्कृति का आकार सार्वदेशिक और सार्वभौम है, फिर भी हर देश की अपनी विशेष संस्कृति होती है जो उसकी राष्ट्रीय मेधा की उपज होती है। भारत को अपनी संस्कृति का विकास कर उसे सुरक्षित रखना है और यदि उसे ऐसा करने में उन शिक्षा संस्थाओं का, जो अंग्रेजों के प्रभाव में हैं, बायकाट करना पडे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। महात्माजी को कविवर रवीन्द्रनाथ के आक्षेप बहुत बुरे लगे थे। खास कर इस वजह से कि दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद दोनों में गहरी मित्रता हो गई थी। महात्माजी को उन्हें शांत करने के लिए उनसे कई बार मिलने जाना पड़ा। समय के साथ-साथ कवि का सारा विरोध भी पूरी तरह खत्म हो गया और बाद के आंदोलनों में वह महात्माजी के कट्टरतम समर्थकों में रहे।

महात्माजी की असहयोग की नीति का विरोध तो हुआ, बुद्धिजीवियों की ओर से उनकी अहिंसा का भी विरोध हुआ और यह किया क्रांतिकारी दल ने। महायुद्ध के दौरान हजारों क्रांतिकारियों को जेलों में डाल दिया गया था और बाद में 1919 में माफी दिए जाने के फलस्वरूप इन्हें रिहा कर दिया गया था। बहुत से क्रांतिकारी प्रतिकार न करने के सिद्धांत को नहीं मानते थे। उनका कहना था कि ऐसा करने से लोगों का मनोबल गिरेगा और प्रतिरोध करने की उनकी शक्ति जाती रहेगी। ऐसी संभावना थी कि सैद्धांतिक मतभेदों के कारण भूतपूर्व क्रांतिकारियों का पूरा वर्ग कांग्रेस के विरोध में जा सकता है। वास्तव में उनमें से कुछ ने बंगाल में असहयोग आंदोलन के विरोध में प्रचार आरंभ कर दिया था। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसके लिए धन की सहायता दी 'सिटिजन्स प्रोटेक्शन लीग' नामक अंग्रेज व्यापारी समुदाय ने। यह धन एक भारतीय वकील की मार्फत बांटा गया, जिसने दाता का नाम प्रकट नहीं किया। देशबंधु चित्तरंजन दास भूतपूर्व क्रांतिकारियों के इस विरोध को दूर करने के लिए और कांग्रेस आंदोलन के लिए उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करने को आतुर थे। आखिर सितंबर में उन्होंने महात्माजी के साथ इनकी एक बैठक का आयोजन किया और उसमें वह खुद भी उपस्थित रहे। इस बैठक मे महात्माजी मे

क्रांतिकारियों को खुलकर बातचीत हुई। महात्माजी और देशबंधु चित्तरंजन दास दोनों ने क्रांतिकारियों को समझाया कि अहिंसक असहयोग से जनता का मनोबल घटने की बजाय उसके प्रभावी प्रतिरोध की शक्ति और बढ़ेगी। इस बैठक का फलदायी परिणाम यह निकला कि सबने वायदा किया कि हम कांग्रेस को स्वराज्य के लिए संघर्ष करने का पूरा मौका देंगे और उसके काम में जरा भी रोड़ा नहीं अटकाएंगे। इतना ही नहीं, बहुतों ने वफादार कांग्रेस कार्यकर्ता के रूप में कांग्रेस संगठन में शामिल होना भी स्वीकार कर लिया।

महात्माजी और भूतपूर्व क्रांतिकारियों का यह मिलन सितंबर 1921 में बंद कमरे में उस अवसर पर हुआ था जब वह और कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य देशबंधु चित्तरंजन दास के मेहमान के रूप में उनके घर पर ठहरे हुए थे। यह पहला अवसर था जब मैं कांग्रेस के प्रमुख नेताओं से मिला। उस समय देशबंधु के अलावा अन्य प्रमुख व्यक्ति थे पं. मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय और मौलाना मुहम्मद अली। यह कहना कठिन है कि इन लोगों के सक्रिय समर्थन के बिना 1921 में महात्माजी को कितनी सफलता मिली होती। लालाजी और देशबंधु के महत्व को समझने के लिए हमें उनके न रहने पर पंजाब और बंगाल की राजनीतिक स्थिति की कल्पना ही करनी होगी। और फिर 1921 में कनिष्ठ नेहरू (पंडित जवाहरलाल नेहरू) न तो इतने प्रसिद्ध हुए थे न उन्हें इतना अनुभव ही था कि अपने पिता का स्थान ले सकते। इस बात के अलावा कि ये तीनों दिग्गज अपने-अपने प्रांतों में बड़े प्रभावशाली थे, उनका महत्व इस कारण भी था कि ये कांग्रेस की बेजोड़ बौद्धिक प्रतिभाएं थीं। यदि ये लोग महात्मा गांधी को सलाह दे सकते तो वह बहुत सी ऐसी महान भूलें न करते, जो वह राजनीतिक नेता के रूप में कर बैठे। इन दिग्गजों की मृत्यु के बाद कांग्रेस के नेतृत्व का बौद्धिक स्तर गिर गया। यह ठीक है कि आज कांग्रेस कार्यसमिति में ऐसे लोग हैं जो चरित्र, साहस, देशभक्ति और त्याग की दृष्टि से भारत के उत्कृष्ट व्यक्ति हैं किन्तु उनमें से अधिकांश को मूलतः इस कारण चुना गया है कि वे महात्माजी के अंध-भक्त हैं। ऐसे बहुत कम हैं जो स्वतंत्र रूप से चिंतन कर सकें या जिनमें इतना साहस हो कि महात्माजी यदि कोई गलत कदम उठाएं तो खुलकर इसके खिलाफ बोल सकें। अतः आज के हालात में कांग्रेस कार्यकारिणी बस एक अकेले व्यक्ति का खेल है।

1921 में उपर्युक्त नेताओं के अलावा जनता में अली बंधुओं (मो. मुहम्मद अली और मो. शौकत अली) का भी असाधारण स्थान था। ऐसा कुछ तो उनके अपने काम के कारण, कुछ महायुद्ध के समय उनके कष्ट सहने के कारण और कुछ मुसलमानों में नई जागृति के कारण था। फिर भी उनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण महात्माजी द्वारा उनके पक्ष में किया गया प्रचार था। महात्माजी ने उनके साथ अपने को इतना जोड़ लिया था कि वे उनके दाहिने और बाएं हाथ समझे जाने लगे थे। महात्माजी ने उनके साथ सारे देश का दौरा किया और आज भी लोगों को याद है कि उन दिनों जहां गांधीजी की जय

का नारा लगता था तो साथ ही अली बंधुओं की भी जय बोली जाती थी। यद्यपि कुछ वर्ष बाद अली बंधु महात्माजी से अलग हो गए पर मेरे विचार में इसके लिए उनके साथ महात्माजी के घनिष्ठ संबंध पर उंगली उठाना उचित नहीं होगा। मेरे विचार में गलती यह नहीं थी कि खिलाफत के मसले को अन्य राष्ट्रीय मसलों के साथ क्यों जोड़ा गया बल्कि गलती यह थी कि खिलाफत कमेटी को देशभर में कांग्रेस से अलग एक स्वतंत्र संगठन क्यों बने रहने दिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि बाद में जब गाजी मुस्तफा कमाल पाशा ने नए तुर्की नेता की हैसियत से वहां के सुलतान को गद्दी छोड़ने पर मजबूर कर दिया और खलीफा की गद्दी ही समाप्त कर दी तो खिलाफत का सारा मतलब और महत्व ही खत्म हो गया। खिलाफत आंदोलन के अधिकांश नेता संप्रदायवादी, प्रतिक्रियावादी और अंग्रेज परस्त मुस्लिम संगठनों में जा मिले। यदि खिलाफत कमेटियां अलग से न गठित हुई होतीं और मुसलमानों को कांग्रेस संगठन में शामिल होने को तैयार किया जाता तो बहुत संभव था कि खिलाफत के मसले के खत्म हो जाने पर वे कांग्रेस में ही बने रहते।

साल के मध्य तक देश की राजनीतिक स्थिति तनावपूर्ण होने लगी। उस समय न तो सरकार और न कांग्रेस ही जानती थी कि तूफान कब थमेगा। हां, देश के विभिन्न भागों में संघर्ष के लक्षण अवश्य दिखाई देने लगे थे। इन सारी घटनाओं से जनता का रुख आक्रामक था, सरकार बराबर बचाव का रुख अपनाए रही। बंगाल के मिदनापुर जिले में लगानबंदी आंदोलन का पहले ही जिक्र किया जा चुका है। यह कराची में खिलाफत सम्मेलन के बाद सितंबर में अली बंधुओं की गिरफ्तारी और सजा के बाद हुआ। दो अन्य घटनाएं भी उल्लेखनीय हैं। एक पंजाब में अकाली आंदोलन और दूसरा दक्षिण में मोपला विद्रोह। अकाली सिखों में प्रायः ऐसा वर्ग था जैसे इसाइयों में 'प्यूरिटन' होते हैं। ये मुख्यतः सिखों के गुरुद्वारों के प्रबंध को सुधारना चाहते थे। ये गुरुद्वारे प्रायः बहुत मालदार थे और इनका संचालन महंतों के हाथों में होता था। यद्यपि महंतों से अपेक्षित था कि वे त्याग और वैराग्यमय जीवन बिताएं और ट्रस्टियों की तरह गुरुद्वारों की देखभाल करें। पर वे जनता के दान और चढ़ावे के पैसे से बड़ा विलासी और चरित्रहीन जीवन बिताते थे। अकाली इन महंतों को हटाकर गुरुद्वारों का प्रबंध आम लोगों की समितियों के हाथों में लाना चाहते थे। जैसा कि गुलाम देश में हमेशा होता है, सरकार निहित स्वार्थी का साथ देती है और यहां भी उसने महंतों का ही समर्थन किया। इस प्रकार यह आंदोलन जो महंतों के विरोध में शुरू हुआ था सरकार-विरोधी आंदोलन बन गया। अकालियों का तरीका पूरी तरह कांग्रेस की अहिंसक व असहयोग की नीति के अनुसार था। गुरुद्वारों पर कब्जा करने के लिए जत्थे भेजे जाते थे। इन जत्थों को गिरफ्तार किया जाता, निर्दयता से पीटा जाता और बलपूर्वक तितर-बितर किया जाता था। यह आंदोलन एक साल, नवंबर 1922 तक चला। हार कर सरकार को अक्ल आई और उसने पंजाब लेजिस्लेटिव कौंसिल में वह कानून पेश किया, जिसकी अकाली शुरू से ही मांग कर रहे थे। मोपला लोग

मुसलमानों का ही एक सप्रदाय थे। उनका विद्रोह स्थानीय हिन्दुओं के विरुद्ध था पर साथ ही सरकार भी इसका निशाना बनी, जिससे उसको काफी चिन्ता और परेशानी उठानी पडी। इस विद्रोह का इस कारण भी महत्व है कि यह हिन्दू-मुस्लिम एकता पर पहली चोट थी, जिससे कि वह कमजोर पड गई।

विद्रोह की इन छोटी-मोटी चिंगारियों के बावजूद नवबर 1921 तक देशव्यापी सघर्ष का कहीं नामो-निशान नहीं था। 'एक साल में स्वराज्य' के नारे के बाद भी कोई गर्मी नहीं थी। काग्रेस जन इस स्थिति से बेचैन थे और उनका हौसला पस्त होता जा रहा था। इसी समय सरकार ने उनकी मदद की। सरकार ने घोषणा की कि प्रिंस आफ वेल्स (ब्रिटिश राजकुमार) भारत आएगे और वह 17 नवबर को जहाज से बबई पहुचेंगे। इस घोषणा के पीछे सरकार का वास्तविक उद्देश्य जनता की उत्तेजित भावनाओं को ठडा करना और अपने (सरकार के) पक्ष में जनमत को मोडना था। काग्रेस कार्यकारिणी ने फौरन राजकुमार की यात्रा का बायकाट करने की हिदायतें जारी कर दी। कहा गया कि यद्यपि जनता को राजकुमार से कोई निजी शिकायत या शिकवा नहीं है पर चूंकि वह उस नौकरशाही के हाथ मजबूत करने आ रहे हैं, जिसके खिलाफ वह सघर्ष कर रही है अत उसके पास राजकुमार की यात्रा का बायकाट करने के अलावा कोई चारा नहीं है। इस बायकाट का पहला कदम था देश भर में हर तरह का काम-धधा बद करके पूरी हडताल करना। बबई में उस दिन का बायकाट सफल नहीं रहा। सरकार और काग्रेस के समर्थकों मे वहा मुठभेड हुई, जिसके परिणाम स्वरूप काफी दिनों तक दगे होते रहे। लेकिन इसके विपरीत उत्तर भारत में, खासकर कलकत्ता मे प्रदर्शन असाधारण रूप से सफल रहा, जिसका बहुत बडा कारण था खिलाफत सगठनों का पूरे दिल से साथ देना। कलकत्ता में तो इतनी अधिक सफलता मिली कि एग्लो-इडियन समाचार पत्रों 'स्टेट्समैन' और 'इग्लिशमैन' ने अगले दिन लिखा कि काग्रेस स्वयसेवको ने मानों शहर को अपने कब्जे में ले लिया था और सरकार ने मानो हुकूमत मे हाथ खींच लिया था। इन पत्रों ने काग्रस स्वयसेवकों के खिलाफ कार्रवाई की माग की। बगाल सरकार ने 24 घटों के भीतर एक अधिसूचना जारी करके उन्हें गैर कानूनी घोषित कर दिया। देश के अन्य भागों में भी इसी तरह की अधिसूचनाए जारी की गईं।

हम तो कलकत्ता में सघर्ष के लिए उतावले बैठे ही थे। इस सरकारी अधिसूचना का भला हम दिल खोल कर क्यों न स्वागत करते। आम राय यह थी कि सरकारी चुनौती का फौरन जवाब दिया जाए। लेकिन हमारे नेता देशबधु चित्तरजन दास सावधानी से चलना चाहते थे। वह प्रात मे अपने पीछे आने वाला की सख्या का अनुमान लगाना चाहते थे और महात्मा गाधी एव काग्रेस कार्यकारिणी से सलाह-मशविरा आदि करना चाहते थे। प्रात में भिन्न-भिन्न भागों को यह जानने के लिए चिट्ठिया भेजी गईं कि यदि काग्रेस ने सरकारी प्रतिबध का खुला उल्लघन किया तो जनता से कितना समर्थन मिलेगा। सप्ताह से भी कम समय में प्रात के जिलो मे बडी उत्साहजनक रिपोर्टें बडी सख्या में आनी

शुरू हो गई। इसके बाद अपना अगला कदम तय करने के लिए प्रांतीय कांग्रेस समिति की बैठक नवंबर के अंत में बुलाई गई। यह बैठक बंद कमरे में हुई। इस समिति में बंगाल के कांग्रेस संगठनों के करीब 300 प्रतिनिधि थे। मैं भी तब तक इस समिति का सदस्य बन गया था और इसकी कार्यवाही में भाग ले सका। सर्वसम्मति से यही फैसला हुआ कि सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ किया जाए और क्योंकि आपातकाल था अतः समिति की सारी शक्तियां देशबंधु दास को दे दी गईं और उन्हें अपने उत्तराधिकारी नामजद करने का भी अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार उन्हें प्रांत का डिक्टेटर नियुक्त कर दिया गया। बाद में सारे देश में इसी प्रकार की व्यवस्था अपनाई गई।

पार्टी के गर्म मिजाज युवकों की राय थी कि एक बड़ा प्रदर्शन करके शुरुआत की जाए। किन्तु नेता ने ऐसा न करके छोटे रूप में शुरुआत करने का निश्चय किया। उन्होंने कहा कि मैं आंदोलन को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहता हूं और लड़ाई को केवल एक ही मुद्दे तक सीमित रखना चाहता हू। यह मुद्दा था —यदि पांच-पाच स्वयंसेवकों के जत्थे, जो वर्दी में न होकर सादा कपड़ों में शांति के साथ खादी बेचेंगे तो क्यो सरकार इनके खिलाफ कार्रवाई करेगी। यदि सरकार ने वैसा किया तो जनता सरकार की इस कार्रवाई को पूरी तरह निरंकुश और अनुचित मानेगी और फिर सभी वर्गों के लोग कांग्रेस के समर्थन में आ जुटेंगे। इसी मामले पर लड़ाई छिड़ गई और मुझे अभियान का भार सौंपा गया। राष्ट्रीय कालेज (नेशनल कालेज) के प्रिंसिपल का काम मैं अब जारी नहीं रख सका और बड़ी बात यह थी कि इस कालेज के छात्र और कुछ अध्यापक भी आंदोलन में भाग लेना चाहते थे। हमने ऐसे स्वयंसेवको के लिए अपील निकाली कि जो सरकारी प्रतिबंध को तोड़ने और उससे होने वाली हानि उठाने को तैयार हों वह आदोलन में भाग ले सकते हैं। इसकी प्रतिक्रिया निरुत्साहजनक रही। साफ था कि जनता अभी उदासीन थी। उसे सक्रिय करने के लिए कुछ उत्तेजना और प्रेरणा की जरूरत थी। हमारे नेता ने सुझाव दिया कि दूसरों के सामने उदाहरण रखने के लिए उनके पुत्र और पत्नी स्वयंसेवक के रूप में आगे आएं। हमने इस आधार पर इस विचार का विरोध किया कि जब तक एक भी पुरुष बचा रहे तब तक किसी भी स्त्री को आंदोलन में शामिल होने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए। किन्तु हमारे नेता अपने इरादे पर दृढ रहे। बस अगले ही दिन देशबंधु के सुपुत्र जो मेरी ही उम्र के थे स्वयंसेवकों के जत्थे के आगे-आगे निकले और फौरन गिरफ्तार कर जेल भेज दिए गए। इससे वातावरण बदला। पहले से कहीं अधिक संख्या में स्वयंसेवक भर्ती होने लगे। किंतु यह भी काफी नहीं था। अब बारी आ गई श्रीमती चित्तरजन दास की। वह भी अपनी संबंधी श्रीमती उर्मिला देवी और एक अन्य महिला कुमारी सुमति देवी के साथ स्वयंसेवकों के जत्थे के आगे होकर निकली। जब शहर में खबर फैली कि श्रीमती चित्तरजन दास और अन्य महिलाएं पकड़ कर जेल ले जाई गई हैं तब तो तहलका मच गया। रोष और घृणा इतनी बढ़ी कि बूढ़े और जवान, गरीब और अमीर भारी संख्या में स्वयंसेवकों में भर्ती होने लगे। इससे अधिकारियों में

बड़ी घबराहट फैल गई और उन्होंने शहर को बिल्कुल फौजी छावनी बना डाला। लेकिन लड़ाई में अभी तो हमारी आधी ही जीत हुई थी।

रोष केवल जनता तक ही सीमित नहीं था। अभी तक जो पुलिस वफादार थी उसमें भी सरकार के प्रति' रोष फैल गया था। जब श्रीमती दास ने पुलिस के आने पर जेल जाने के लिए पुलिस गाड़ी में कदम रखा तो बहुत से पुलिस कांस्टेबलों ने कसम खाई कि हम आज ही अपनी नौकरी से इस्तीफा दे देंगे। सरकारी क्षेत्र इससे काफी परेशान हो उठे। क्योंकि कोई नहीं कह सकता था कि यह छूत की बीमारी कहां तक फैलेगी। सरकार ने तुरंत ही पुलिस कांस्टेबल के वेतन में काफी वृद्धि करने की घोषणा कर दी। उसी रात गवर्नमेंट हाउस में एक भोज था जिसमें इस बात के कारण काफी सनसनी दिखाई दी। एक प्रमुख उदारवादी नेता श्री एस.एन. मलिक ने जब श्रीमती दास की गिरफ्तारी की खबर सुनी तो वह विरोध स्वरूप गवर्नमेंट हाउस से तत्काल चले आए। वातावरण में इतनी उत्तेजना थी कि सरकार को आधी रात से पहले ही श्रीमती दास और उनके साथियों को रिहा करने के आदेश देने पड़े और जनता को ऐसा प्रकट किया गया कि उनको गलती से गिरफ्तार कर लिया गया था। अगले ही दिन से हजारों की संख्या में मिल मजदूर और विद्यार्थी स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखाने लगे। कुछ ही दिनों में शहर की दोनों बड़ी जेलें राजनीतिक बंदियों से खचाखच भर गईं। तंबुओं की जेलें बनाई गईं पर उनके भरने में भी देर नहीं लगी। अब सरकार ने कठोर कदम उठाने शुरू किए। उसने देशबंधु चित्तरंजन दास और उनके निकट सहयोगियों को गिरफ्तार करने के आदेश जारी कर दिए। 10 दिसंबर, 1921 की शाम तक हम सब जेल में पहुंच गए थे।

लेकिन इन गिरफ्तारियों से जनता में और जोश फैला। जब और अधिक लोग गिरफ्तारियां देकर जेलें भरने लगे तो जेल प्रशासन काबू से बाहर होने लगा। फिर बहुत से राजनीतिक बंदियों को रिहा करने के आदेश दे दिए गए पर कोई जेल से जाने को तैयार नहीं था।

और फिर किसी को पहचानना ही असंभव था तो छोड़ा किसको जाए। कई बार ऐसा किया जाता था कि बंदियों को दूसरी जेल में तबादले के बहाने या संबंधियों से मिलाने के बहाने जेल कार्यालय में ले जाया जाता और वहां ले जाकर छोड़ दिया जाता। जब इस चाल का भी पता चल गया तब कोई बंदी किसी जेल अधिकारी के बुलावे पर अपनी कोठरी से बाहर नहीं आता था। फिर अधिकारियों ने बंदियों को जबरन जेल के फाटक पर ले जाकर उन्हें रिहा करना शुरू कर दिया। जेल के बाहर भी सरकार के हथकंडे बदल गए थे। सरकार ने स्वयंसेवकों को गिरफ्तार करना बंद कर दिया। भीड़

असहयोग आंदोलन के नियमों के अनुसार कार्यकर्ताओं के लिए आवश्यक था कि ब्रिटिश न्यायालय में मुकदमा चलाए जाने पर अपनी सफाई पेश न करें। न्यायालय को इससे बड़ी आसानी हो गई थी और मिनटों में ही मुकदमे का फैसला हो जाता था।

तथा प्रदर्शनकारियों पर पुलिस को खुल कर डंडे बरसाने के आदेश दे दिए गए। कई बार पुलिस प्रदर्शनकारियों को अपनी गाडियों में भर कर ले जाती और शहर से तीस-तीस मील दूर ले जाकर छोड़ देती और उन्हें पैदल लौटने को मजबूर करती। सर्दियों के दिनों में प्रदर्शनकारियों पर ठंडे पानी की बौछार की जाती।

परंतु यह स्पष्ट था कि इन तात्कालिक और कामचलाऊ हथकंडों से काम नहीं चलेगा। सरकारी दृष्टि में स्थिति उसके काबू से बाहर होती जा रही थी। कांग्रेस के नए-नए हथकंडों से सरकार चक्कर में पड़ गई थी। यह आंदोलन को दबाने के लिए बड़े पैमाने पर अविवेकपूर्ण और निर्दयता के साथ ताकत का इस्तेमाल कर सकती थी जैसा कि आगे चलकर उसने किया भी। पर प्रिंस आफ वेल्स के भारत में होने की वजह से वह मजबूर थी। प्रिंस आफ वेल्स 24 दिसंबर को कलकत्ता पहुंचने वाले थे, जोकि 1921 के आंदोलन का गढ था। इससे एक सप्ताह पहले वाइसराय लार्ड रीडिंग कलकत्ता आए। कलकत्ता की बार (वकील संघ) पहले उन्हें एक भोज के लिए आमंत्रित करने को सहमत हो गई थी क्योंकि वह इंग्लैंड के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश थे। किंतु देशबंधु चित्तरंजन दास की गिरफ्तारी के कारण बार ने अपना निमंत्रण रद्द कर दिया। इस प्रकार भारत सरकार हर तरफ से विरोध के कारण बेहद मुसीबत में फंस गई। पहली बात तो यह थी कि यद्यपि सविनय अवज्ञा आंदोलन बंगाल में सबसे उग्र था, किन्तु सारे उत्तर भारत में भी यह काफी जोरदार था और कोई भी प्रांत इससे पूरी तरह अछूता नहीं रहा था। इसके अलावा पंजाब में अकाली आंदोलन, बंगाल के मिदनापुर जिले में लगान बंदी आंदोलन और दक्षिण भारत में, मालाबार के मोपला विद्रोह ने संकट को और भी जटिल बना दिया था। भारत के बाहर आयरलैंड का सिन फोएन आंदोलन काफी सफल रहा था और ग्रेट ब्रिटेन के साथ 6 दिसंबर, 1921 को ही एक संधि पर हस्ताक्षर किए गए थे। कुछ महीने पहले ही अफगानिस्तान ने मुस्तफा कमाल पाशा के साथ संधि की थी और पर्शिया (ईरान) ने सोवियत रूस के साथ। मिस्र में सैयद जगलुल पाशा की नेशनलिस्ट वफद पार्टी काफी सशक्त और सक्रिय भी थी। इस प्रकार यह दिखाई देता था कि सारा मुस्लिम जगत ग्रेट ब्रिटेन के खिलाफ एकजुट हो रहा था। भारत के मुसलमानों पर इसकी प्रतिक्रिया होनी आवश्यक थी। इन परिस्थितियों में लार्ड रीडिंग की सरकार का कांग्रेस के साथ समझौते के लिए उत्सुक होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। ऐसे ही समय उन्हें एक शांति वाहक भी मिल गया। यह थे पं. मदनमोहन मालवीय, जो निजी कारणों से 1921 के आंदोलन से अलग रहे थे। वह वाइसराय का संदेश लेकर देशबंधु चित्तरंजन दास से मिलने प्रेसीडेंसी जेल में पहुंचे। प्रस्ताव यह था कि यदि कांग्रेस अपने सविनय अवज्ञा आंदोलन को फौरन वापस ले ले ताकि जनता प्रिंस आफ वेल्स की यात्रा का बायकाट न करे तो सरकार कांग्रेस स्वयंसेवकों को गैर-कानूनी घोषित करने वाली अधिसूचना वापस ले लेगी और इसके अधीन जिन्हें सजाएं हुई हैं, उन्हें रिहा कर दिया जाएगा। इसके बाद भारत के भावी संविधान के बारे में फैसला करने के लिए सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधि

का एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाएगा।

नेता (चितरंजन दास) ने कलकत्ता के चोटी के मुस्लिम नेता मो. अबुल कलाम आजाद और पं. मदनमोहन मालवीय के साथ लंबा विचार-विमर्श किया। कुछ और मुद्दों पर निर्णय होना था जिसमें से एक था अली बंधुओं और उनके साथियों को रिहाई का सवाल। इन्हें सितंबर में दो साल की कड़ी कैद की सजा दी गई थी। इस बारे में सरकार का जवाब यह था कि क्योंकि उन लोगों को कांग्रेस के सविनय अवज्ञा आंदोलन के तहत सजा नहीं हुई है अतः कांग्रेस को समझौते की शर्तों के रूप में उनकी रिहाई पर जोर नहीं देना चाहिए। किंतु वाइसराय यह आश्वासन देने को तैयार थे कि उन्हें कुछ समय बाद छोड़ दिया जाएगा। जब देशबंधु दास ने इस विषय पर हम नवयुवकों से बातचीत छेड़ी तो हम लोगों ने इन शर्तों पर युद्धविराम के विचार का डटकर विरोध किया। इस पर उन्होंने हमसे विस्तार से बहस की और तत्काल समझौता करने के पक्ष में अपने तर्क रखे। उन्होंने कहा कि चाहे यह सही या गलत सिद्ध हो लेकिन महात्माजी ने एक साल के भीतर स्वराज्य दिलाने का वचन दे रखा है। यह साल खत्म होने वाला है। मुश्किल से पंद्रह दिन बचे हैं और इस बीच कुछ न कुछ ऐसा अवश्य प्राप्त होना चाहिए जिससे कांग्रेस की इज्जत बच सके और स्वराज्य के बारे में महात्माजी का वचन भी पूरा हो सके। वाइसराय का प्रस्ताव तो मानो हमारे लिए ईश्वर की देन है। यदि 31 दिसंबर से पहले कोई समझौता हो जाता है और सभी राजनीतिक बंदी जेलों से छूट जाते हैं, तो आम आदमी को यही लगेगा कि कांग्रेस की जीत हुई है। गोलमेज सम्मेलन चाहे सफल हो या असफल लेकिन यदि असफल हुआ और सरकार ने जनता की मांगों को नहीं माना तो कांग्रेस जब चाहे अपनी लड़ाई दुबारा शुरू कर सकती है और जब वह ऐसा करेगी तो उसे जनता का और अधिक विश्वास प्राप्त होगा तथा उसकी प्रतिष्ठा पहले से अधिक बढ़ जाएगी।

यह तर्क अकाट्य था और मैं पूरी तरह संतुष्ट हो गया। देशबंधु दास और मौलाना अबुल कलाम आजाद के संयुक्त हस्ताक्षरों से महात्मा गांधी को एक तार भेजा गया, जिसमें समझौते की प्रस्तावित शर्तों को मानने की सिफारिश की गई थी। इसका जवाब यह आया कि मैं (महात्माजी) अली बंधुओं और उनके साथियों की रिहाई को और गोलमेज सम्मेलन की तारीख और उसकी रचना की घोषणा को भी समझौते की शर्तों में शामिल कराना चाहूंगा। दुर्भाग्य से वाइसराय और अधिक चर्चा या बहस के लिए तैयार नहीं थे और तुरंत निर्णय चाहते थे। देशबंधु इस समय क्या करते? उन्होंने अपने इन मित्रों को जेल से बाहर बुलाया और कहा कि वे महात्माजी से जाकर मिलें और उन्हें हर संभव तरीके से राजी करें। इन मित्रों ने वैसा ही किया। कलकत्ता और साबरमती (अहमदाबाद के निकट वह स्थान जहां महात्माजी रहा करते थे) के बीच कई तारों का आदान-प्रदान हुआ। आखिरकार महात्माजी मान भी गए। पर अब तो बहुत देर हो चुकी थी। भारत सरकार भी प्रतीक्षा करते-करते थक गई थी और उसने भी अपना विचार बदल दिया। देशबंधु के तो गुस्से और निराशा का ठिकाना नहीं था। उन्होंने कहा कि हमने ऐसा मौका

हाथ से खो दिया है जो जीवन में मुश्किल से एक बार ही आया करता है।

राजनीतिक बंदी ही नहीं कांग्रेस के छोटे-बड़े कार्यकर्ता सब यही अनुभव कर रहे थे कि महात्माजी ने बहुत बड़ी भूल की है। केवल वे थोड़े से लोग ही कुछ नहीं बोलते थे जो महात्माजी में अंधविश्वास रखते थे। खैर अब क्योंकि अवसर हाथ से जाता रहा था अतः बिगड़ी हुई बात को बनाने के अलावा कोई चारा नहीं था। देशबंधु को आगामी कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष चुन लिया गया। यह अधिवेशन दिसंबर के अंतिम सप्ताह में अहमदाबाद में होने वाला था। उनके अधूरे भाषण को जो असल में असहयोग आंदोलन के सिद्धांतों और तरीकों की पुष्टि और समर्थन में था, कांग्रेस को भेज दिया गया और अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठे दिल्ली के प्रभावशाली नेता हकीम अजमल खां। अहमदाबाद कांग्रेस में बहुत उत्साह दिखाई देता था और इसका मुख्य प्रस्ताव वह था जिसमें सारे देश से व्यक्तिगत और सामूहिक सविनय अवज्ञा की नीति अपनाने का अनुरोध किया गया। हर स्त्री और पुरुष से राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल में भर्ती होकर आपात् अध्यादेशों को तोड़ने और जेल जाने का आह्वान किया गया था। कांग्रेस ने सारे देश के लिए महात्माजी को डिक्टेटर बनाया। बंगाल कांग्रेस समिति देशबंधु को प्रांत का डिक्टेटर बनाकर पहले ही ऐसा कर चुकी थी। यह उसी की मिसाल का अनुकरण था।

अहमदाबाद कांग्रेस में एक मजेदार घटना हुई। संयुक्त प्रांत के एक प्रभावशाली मुस्लिम नेता मौलाना हसरत मोहानी ने एक प्रस्ताव रखा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विधान में इसका लक्ष्य स्पष्ट रूप से एक गणराज्य (भारत का संयुक्त राज्य) की स्थापना होनी चाहिए। उन्होंने इस बारे में इतना ओजस्वी वक्तृत्व प्रदर्शित किया और श्रोता भी इतने मंत्रमुग्ध से हो गए कि लगता था कि यह प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से स्वीकार किया जाएगा। लेकिन महात्माजी जब बोलने के लिए खड़े हुए और उन्होंने बड़ी गंभीरता से इसका विरोध किया तो नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। फिर भी यह प्रस्ताव बाद के कांग्रेस अधिवेशनों मे बार-बार लाया जाता रहा और अंत मे इसे 1929 में लाहौर कांग्रेस में ही स्वीकार किया गया और तब इसको पेश करने वाला कोई और नहीं स्वयं महात्मा गांधी थे।

कांग्रेस के भंग कर दिए जाने के साथ 1921 का साल समाप्त हुआ। 31 दिसंबर तक कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं घटी। जिस स्वराज्य का वायदा किया गया था वह भी नहीं मिला। कुछ महीने पहले ही बंगाल के भूतपूर्व क्रांतिकारियों के साथ अपनी बातचीत में महात्मा गांधी ने कहा था कि मुझे वर्ष के अंत तक स्वराज्य मिलने का इतना विश्वास है कि मैं तो 31 दिसंबर के बाद बिना स्वराज्य मिले जीवित रहने की कल्पना भी नहीं कर सकता। उन्होंने यह भी कहा था कि प्रांतों की स्वायत्तता और केंद्र में दो अमली शासन तो मैं जब मांगता मिल जाता, लेकिन मैं तो पूरा औपनिवेशक स्वराज्य (डोमिनियन स्टेटस) चाहता था और यदि वह मिल जाए तो मैं साबरमती आश्रम पर यूनियन जैक (अंग्रेजों का राष्ट्रीय ध्वज) फहराने को तैयार हूं। जब 31 दिसंबर, 1921

तक कुछ नहीं हुआ और साल खत्म हो गया तो ये शब्द मेरे मनश्चक्षुओं के सामने स्वप्न की तरह तैरने लगे।

वर्षांत से पहले महात्मा गांधी के सिवा सभी प्रमुख नेता जेलों में थे। वास्तव में देशबंधु और वाइसराय के बीच जब वार्ता चल रही थी तो कोई भी प्रभावशाली मेधावी नेता ऐसी स्थिति में नहीं था जो महात्माजी को यह सलाह दे सकता कि उन्हें कौन सा रास्ता अपनाना चाहिए। यदि वे ऐसा कर सकते तो बहुत संभव था कि हालात कुछ और ही मोड़ ले लेते। हां, इसमें जरा भी संदेह नहीं कि बारह महीनों में ही देश ने आश्चर्यजनक प्रगति की थी और इसका अधिकांश श्रेय महात्माजी को ही था। बस अफसोस इस बात का है जब निर्णय करने की नाजुक घड़ी आई तो वह पर्याप्त कूटनीति और दूरदर्शिता का परिचय नहीं दे सके। इस संबंध में मुझे देशबंधु की एक बात याद आती है जो वह अक्सर महात्माजी के गुणों और दोषों के बारे में कहा करते थे। उनका कहना था कि महात्माजी किसी आंदोलन की शुरुआत बड़ी समझदारी से करते हैं, उसे बड़ी कुशलता से आगे बढ़ाते हैं, उन्हें सफलता पर सफलता मिलती जाती है और वह चरम बिंदु पर पहुंच जाते हैं, लेकिन वहां पहुंच कर वह घबरा जाते हैं और लड़खड़ाने लगते हैं।

इस अध्याय की समाप्ति से पूर्व हम वर्ष की सफलताओं और असफलताओं का जायजा लेना चाहेंगे। अत्यंत सुगठित पार्टी संगठन 1921 के साल की देश को एक महत्वपूर्ण देन थी। इससे पहले कांग्रेस एक वैधानिक पार्टी और मुख्यतः भाषणबाज संस्था थी। महात्माजी ने इसे नया विधान और राष्ट्रव्यापी आधार ही नहीं दिया बल्कि इससे भी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि उन्होंने कांग्रेस को एक क्रांतिकारी संगठन में बदल दिया। लाल,[1] हरे और सफेद रंगवाला झंडा सारे देश में अपना लिया गया और इसकी बहुत महत्ता हो गई। हर जगह एक से नारे लगते थे। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक एक ही नीति और विचारधारा प्रचलित थी। अंग्रेजी भाषा का महत्व भी खत्म हो गया और कांग्रेस ने हिन्दी (या हिन्दुस्तानी) को सारे देश की समान भाषा स्वीकार किया। खादी स्वतः सब कांग्रेसजनों की अधिकृत वर्दी बन गई। संक्षेप में यही कहना पड़ेगा कि आधुनिक राजनीतिक दल की सारी विशेषताएं भारत में भी दिखाई देने लगी थीं। इस सबका श्रेय निस्संदेह आंदोलन के नेता महात्मा गांधी को ही है। दुर्भाग्य से कुछ गंभीर गलतियां—उनके ही शब्दों में हिमालय जैसी बड़ी भूलें—उनसे हुईं। और इस सच्चाई के बावजूद आज भी वह अपने देशवासियों के मन के सिंहासन पर विराजमान हैं। किंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने स्थिति को समझने की कई भूलें कीं। लेकिन उनकी विधायक उपलब्धियां इतनी अधिक हैं कि देशवासी उनकी गलतियों को माफ करने को तैयार हैं।

---

1 इस लाल रंग की जगह अब केसरिया रंग ने ले ली है।

इस प्रसंग में आंदोलन की उन कमियों का जिक्र करना आवश्यक है जो उसमें शुरू से ही रहीं और समय बीतने के साथ उजागर होती गईं। पहली बात तो यह कि एक ही व्यक्ति के हाथ में बहुत अधिक शक्ति और जिम्मेदारी दे दी गई थी। इस प्रकार की स्थिति से तब तक तो अधिक हानि नहीं हुई जब तक देशबंधु चितरंजन दास, पं. मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत रायजी जैसे नेता जीवित थे। वे महात्माजी को कुछ सीमा तक नियंत्रण में रखते रहे। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद कांग्रेस की सारी बुद्धि एक व्यक्ति के पास गिरवी रख दी गई और जो कोई भी स्वतंत्र रूप से सोचने और खुलकर बोलने का साहस करता है उसे महात्माजी और उनके चेले पथभ्रष्ट समझने लगते हैं और उसके साथ उसी के अनुकूल बर्ताव करने लगते हैं। और दूसरे एक साल के भीतर स्वराज्य की बात नासमझी ही नहीं बल्कि बचकानेपन की बात थी। इसके कारण हर समझदार व्यक्ति कांग्रेसजन को बेवकूफ मानने लगा। इसमें शक नहीं कि महात्माजी के अनुयायियों ने बाद में यह सफाई देनी शुरू की कि चूंकि देश ने उन शर्तों को पूरा नहीं किया जो स्वराज्य के लिए जरूरी थीं इसीलिए एक साल में स्वराज्य नहीं मिला। यह सफाई भी उतनी ही संतोषजनक है जितनी नासमझी की बात थी स्वराज्य का वायदा। क्योंकि कोई भी नेता कह सकता है कि मेरी ये शर्तें पूरी करो और घंटे भर में स्वराज्य लो। राजनीतिक भविष्यवाणी करते हुए किसी भी जिम्मेदार नेता को असंभव शर्तें नहीं लगानी चाहिए। उसे स्वयं अनुमान लगाना चाहिए कि प्रस्तुत परिस्थितियों में कौन-कौन सी शर्तें पूरी हो सकेंगी और उनका क्या नतीजा निकलेगा। तीसरे खिलाफत के सवाल को भारतीय राजनीति में ले आना दुर्भाग्यपूर्ण था। जैसा कि कहा जा चुका है कि यदि खिलाफती मुसलमान अपना संगठन न बनाते और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ही शामिल हो जाते तो नतीजे इतने अवांछित कदापि नहीं होते। ऐसी स्थिति में तुर्कों द्वारा खुद खिलाफत के मसले को खत्म कर दिए जाने पर खिलाफती मुसलमान खुद ब खुद राष्ट्रवादियों के संगठन में आत्मसात हो जाते।

वह तूफान जो 1920 से बन रहा था, नवंबर 1921 में आकर फटा। नवंबर और दिसंबर के दो महीनों में यह बहुत वेग से चलता रहा और जब नया साल शुरू हुआ तो यह कहना कठिन था कि यह कितने दिन और चलेगा। किन्तु 1922 के साल में इसका उल्टा ही होना था जैसा कि हम अब देखेंगे।

अध्याय 3

ज्वार उतरा (1922)

आज इतने दिनों बाद इस बात को समझना संभव नहीं है कि 1921 में भारतवासियों ने किस गहराई के साथ विश्वास कर लिया था कि साल के अंत तक स्वराज्य आ जाएगा। यहां तक कि जनसाधारण ही नहीं; बल्कि बहुत गण्यमान्य व्यक्ति भी स्वराज्य के लिए उतने ही आशावान थे। मुझे एक बंगाली वकील का 1921 में एक सार्वजनिक सभा में दिया गया भाषण आज भी याद है, जिसमें उसने कहा था कि हमें पूरा यकीन है कि इस साल के समाप्त होने से पहले हमें स्वराज्य अवश्य मिल जाएगा। आप यदि यह पूछें कि हमें यह कैसे मिलेगा तो मैं इसका उत्तर नहीं दे पाऊंगा, पर कुछ भी हो हमें यह मिलेगा अवश्य। 1921 में ही कलकत्ता के एक राजनीतिज्ञ के साथ महात्माजी द्वारा जारी की गई कुछ हिदायतों पर चर्चा कर रहा था। उन्होंने कहा था कि कांग्रेस के पास जितना भी कोष है, उसे साल के अंत तक अवश्य खर्च कर देना चाहिए और अगले वर्ष के लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखना चाहिए। किसी भी सामान्य- समझदार व्यक्ति को यह उचित नहीं जंचेगा, पर मेरे मित्र ने महात्माजी का पक्ष लेते हुए कहा, 'हमने जानबूझ कर 31 दिसंबर से आगे न सोचने का तय किया है।' आज यह निरा पागलपन लग सकता है, लेकिन फिर भी इससे पता चलता है कि उस वर्ष देशवासियों में कितना आशावाद और उत्साह का उद्वेग था, भले ही इसे मूर्खतापूर्ण कहा जाए।

1922 का नया साल आने पर महात्माजी ने जनता के उत्साह को और बढ़ाने के विशेष प्रयत्न किए। अतः उनकी योजना का जो अंतिम सूत्र करबंदी था, उसी को शुरू करने का निर्णय लिया गया। उन्होंने 1 फरवरी, 1922 को वाइसराय लार्ड रीडिंग को अल्टीमेटम दे दिया कि यदि एक सप्ताह के भीतर सरकार अपने हृदय परिवर्तन का संकेत नहीं देती है तो वह गुजरात के बारडोली सब-डिवीजन में आम लगान बंदी का अभियान शुरू कर देंगे। कहा जाता था कि बारडोली सब-डिवीजन में ऐसे बहुत से लोग थे, जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अहिंसक प्रतिकार आंदोलन में महात्माजी के साथ काम किया था और उस प्रकार के काम का अनुभव प्राप्त कर लिया था। बारडोली में लगान और करबंदी आंदोलन की शुरुआत देशभर में इसी तरह का आंदोलन छेड़ने का संकेत था। बंगाल में भी एक साथ करबंदी[1] आंदोलन शुरू करने के लिए काफी तैयारियां की गई थीं। संयुक्त प्रांत और आंध्र भी इस प्रकार के आंदोलन के लिए अच्छी तरह तैयार थे। महात्माजी के अल्टीमेटम से देश भर में उत्तेजना का ज्वार फैल गया। सब लोग सांस साधे अंतिम

1 चौकीदारी कर न देना। उस समय गांवों में पुलिस को रखने के लिए ग्रामवासियों से धन कर वसूल किया जाता था।

घड़ी की प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय एक ऐसी अप्रत्याशित घटना घटी कि सब लोग अवाक और स्तब्ध रह गए, यह थी चौरी चौरा की घटना।

बात 4 फरवरी की है। संयुक्त प्रांत के एक गांव चौरी चौरा में गांववालों ने गुस्से में आकर पुलिस थाने में आग लगा दी और उसमें कुछ पुलिस वाले भी मारे गए। जब महात्माजी को इसकी खबर मिली तो वह हालात के इस हद तक पहुंच जाने पर बहुत भयभीत हो गए और उन्होंने तत्काल कांग्रेस कार्य समिति की बैठक बारडोली में बुलाई। उनके कहने पर कार्यकारिणी ने देश भर में सविनय अवज्ञा आंदोलन (अर्थात करबंदी समेत सरकारी कानूनों और आदेशों को न मानना) अनिश्चित काल के लिए पूरी तरह बंद कर देने का निश्चय किया और कांग्रेस जनों से कहा गया कि वे केवल शांतिपूर्ण रचनात्मक कार्य करें। रचनात्मक कार्यक्रम में ये चीजें शामिल थीं: हाथ की कताई और बुनाई, अस्पृश्यता निवारण, सांप्रदायिक एकता, नशीली चीजों के व्यापार को रोकना, राष्ट्रीय शिक्षा का विस्तार, मुकदमेबाजी को रोकना और झगड़े निपटाने वाले बोर्डों की स्थापना तथा ऐसे किसी भी काम में सरकार के कानून या उस समय लागू अध्यादेश का जानबूझ कर उल्लंघन न करना।

उस समय तो डिक्टेटर का हुक्म मान लिया गया, लेकिन कांग्रेस के खेमे में विद्रोह बराबर होता रहा। कोई इस बात को समझ नहीं सका कि चौरी चौरा की अकेली घटना की वजह से महात्माजी ने देश भर में चल रहे आंदोलन को क्यों बंद कर दिया। इस कारण भी लोगों में नाराजगी और अधिक थी कि एक तो महात्माजी ने भिन्न-भिन्न प्रांतों के प्रतिनिधियों से सलाह लेना जरूरी नहीं समझा था और फिर दूसरे, उस समय देश की स्थिति सविनय अवज्ञा आंदोलन की सफलता के लिए अत्यंत अनुकूल थी। ठीक उस समय पीछे हटने का हुक्म देना, जबकि जनता का आक्रोश चरम सीमा पर था, एक राष्ट्रीय आपत्ति से कम नहीं था। महात्माजी के सहायक देशबंधु चित्तरंजन दास, पंडित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत राय उस समय जेल में थे, पर वह भी आम लोगों की तरह रुष्ट थे। उस समय मैं देशबंधु के साथ था और मुझे याद है कि वह महात्माजी के बार-बार गलती करने पर कितने आग-बबूला और दुखी हुए थे। वह 'दिसंबर की भूल' को भूलने ही लगे थे कि इतने में ही बारडोली की पीछे हटने की घटना हुई जो सच में बड़ा आघात था। लाला लाजपत राय भी ऐसा ही अनुभव कर रहे थे। उनकी कभी ऐसी ही भावनाएं थीं और कहा जाता है कि घोर निराशा में उन्होंने महात्माजी को जेल से 70 पृष्ठों का एक लंबा पत्र लिखा था।

महात्माजी द्वारा उठाए गए इस अकस्मात कदम का एक और कारण बताया गया है। ऐसा आरोपित है कि बारडोली के करबंदी आंदोलन को असफल करने के लिए सरकार ने गुप्त रूप से काफी अच्छा प्रबंध किया था और करों की अगली किस्त का काफी हिस्सा अग्रिम वसूल लिया गया था। सरकार में जो लोग महात्माजी से सहानुभूति

रखते थे, उन्होंने यह गुप्त सूचना उन्हें दे दी और बता दिया कि सरकार उनके आंदोलन को नाकाम करने के लिए क्या उपाय कर रही है। उन्होंने महात्माजी को इस बात के लिए भी आगाह कर दिया कि यदि उन्होंने आंदोलन छेड़ा तो इसके असफल होने की संभावना है। जब महात्माजी को इन तथ्यों का पता चला तो उन्हें निराशाजनक स्थिति का एहसास हुआ। यह सोचकर कि यदि बारडोली का आंदोलन सफल नहीं होता है तो देशभर में आंदोलन को फैलाया नहीं जा सकेगा। इसीलिए उन्होंने चौरी चौरा की घटना को अवज्ञा आंदोलन में वापस लेने का बहाना बनाने का निश्चय किया। किंतु जो महात्माजी को निकट से जानते हैं, उन्हें इस कारण पर विश्वास नहीं होगा।

जब अनुयायी अपने डिक्टेटर के खिलाफ झुंझलाहट और गुस्सा निकाल रहे थे, तो इंग्लैंड के चतुर भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश (वाइसराय) आलोरा नहीं बैठे थे। 1921 में उन्होंने महात्माजी को काफी छूट दे दी थी। लेकिन अहमदाबाद कांग्रेस के बाद वह ऐसे मौके की तलाश में थे, जिससे महात्माजी की गतिविधियों को रोका जा सके। महात्मा गांधी ने अपने साप्ताहिक पत्र 'यंग इंडिया' में कुछ ऐसे लेख लिखे जो हमेशा के लिए उनके लेखों में सर्वोत्तम माने जाएंगे और जिन्हें सरकार ने राजद्रोहात्मक माना। उनके आधार पर महात्माजी को गिरफ्तार करके लंबी अवधि तक जेल में डाला जा सकता था। बस उन्हें विचारना यह था कि महात्माजी की गिरफ्तारी से आम जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। लार्ड रीडिंग को डर था कि डिक्टेटर द्वारा अहिंसा की लाख दुहाई देने पर भी उनकी गिरफ्तारी पर व्यापक रूप से गड़बड़ी, दंगे और खून-खराबा होगा। वह लार्ड चेम्सफोर्ड के बाद आए थे, जिनके जमाने में 1919 का जलियांवाला कांड हुआ था, जिसकी पुनरावृत्ति वह नहीं चाहते थे। अतः वह बड़ी उत्सुकता और घबराहट के साथ ऐसे अवसर की ताक में थे, जब स्वयं महात्माजी ऐसा कदम उठाएं, जिससे देशभर में हतोत्साह का वातावरण बने और स्वयं कांग्रेस में ही उनके खिलाफ विद्रोह उठ खड़ा हो। वास्तव में यदि भारत सचिव श्री मान्टेग्यू उनके रास्ते में न आते, तो यही लार्ड रीडिंग के लिए कोई कदम उठाने का सही क्षण होता। भारत सरकार के सौभाग्य से मंत्रिमंडल के साथ मतभेद होने के कारण श्री मान्टेग्यू ने मार्च के आरंभ में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। इस तरह सरकार के मार्ग की अंतिम बाधा भी दूर हो गई और 10 मार्च, 1922 को महात्मा गांधी को बंदी बना लिया गया।

महात्मा गांधी पर मुकदमा चलाया जाना एक ऐतिहासिक घटना थी। देशबंधु चितरंजन दास ने गया कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में इसे 'पॉटियस पाइलेट' के सामने ईसा मसीह की सुनवाई के समान बताया। प्रसिद्ध वाई. एम. सी. ए. नेता श्री के. टी. पाल[1] ने भी अपने भाषण में इसी प्रकार की तुलना की। अपने मुकदमे के दौरान महात्माजी ने अपने लम्बे बयान में स्वयं को किसान-बुनकर बताया। उन्होंने यह भी बताया कि वह वफादार और सहयोगकर्त्ता [illegible] अडिग राजद्रोही और असहयोगकर्त्ता कैसे बन गए। उन्होंने अपने बयान के अंत में कहा : दल और अफसरों के लिए एक ही रास्ता खुला

1 'ब्रिटिश कनेक्शन विद इंडिया', लेखक : के. टी. पाल, लंदन, 1927 पृ. 59

है कि आप लोग या तो अपने-अपने पदों से त्यागपत्र दें और इस बुराई से अपने आप को अलग कर लें। यदि आप यह समझते हों कि जिस कानून पर आपको अमल करना लाजमी है, यह एक बुराई है, या फिर आप यदि यह समझते हों कि जिस कानून पर आप अमल करने में सहायता कर रहे हैं वह इस देश के लोगों के लिए अच्छा है और इस दृष्टि से मेरा काम सार्वजनिक हित के लिए उचित नहीं है तो आप मुझे कठोर से कठोर दंड दें।

अंग्रेज जज श्री ब्रूमफील्ड ने उन्हें छह साल की सजा सुना दी।

श्री मान्टेग्यू का इस्तीफा इस बात का संकेत था कि प्रधानमंत्री श्री लायड जार्ज के संयुक्त मंत्रिमंडल में कंजरवेटिव पार्टी की शक्ति बढ़ रही थी। टोरी (कंजरवेटिव) सदस्यों के दबाव में श्री लायड जार्ज ने अगस्त में प्रसिद्ध फौलादी चौखटे वाला वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने सिविल सर्विस को भारतीय प्रशासन का 'फौलादी चौखटा' बताया और कहा कि भारत में चाहे जितने परिवर्तन हो जाएं, पर वह चौखटा ब्रिटिश ही रहेगा। इस वक्तव्य से भारत में बड़ा क्षोभ फैला, क्योंकि जनता तो उस दिन की आस लगाए बैठी थी जबकि सिविल सर्विस के वेतन और अधिकार कम किए जाएं और देशवासियों को अपने देश के प्रशासन में उचित स्थान मिले। लगभग इसी समय नए भारत अवर सचिव लार्ड विंटरटन भारत आए। उनके भारत आगमन के उद्देश्यों में से एक था, भारत के राजाओं-नवाबों के बारे में नई नीति का पूर्वाभास देना। एक साल पहले जब प्रिंस आफ वेल्स भारत आए थे, उस समय उन्होंने देखा था कि उनकी जो आवभगत रियासतों में हुई थी और जो बाकी देश भर में हुई, उसमें बड़ा अंतर था। ब्रिटिश भारत में जहां जनता ने राजकुमार के आगमन का बायकाट किया था, वहां रियासतों में इस प्रकार का कोई अप्रिय अनुभव नहीं हुआ। इसी क्षण से ब्रिटिश सरकार ने रियासतों के शासकों के प्रति नया रवैया, यानी अधिक मित्रता और सद्भाव का रवैया अपनाया था। राजाओं ने इस बात का लाभ उठाकर भारत सरकार को ऐसा कानून बनाने के लिए राजी कर लिया जिससे ब्रिटिश भारत में रियासतों के विरोध में होने वाले आंदोलनों और प्रचार को दबाया जा सके। अत: सितंबर, 1922 में असेम्बली में एक बिल लाया गया, जिसका नाम था 'इंडियन स्टेट्स (प्रोटेक्शन अगेन्स्ट डिसअफेक्शन) बिल' अर्थात् भारतीय रियासत (राज विरोध से रक्षा) बिल। इसे असेम्बली ने अस्वीकार कर दिया। लेकिन वाइसराय ने इसे शीघ्र और आवश्यक प्रमाणित करके कानून का रूप दे दिया। इस संबंध में यह याद रखना होगा कि नए भारत अवर सचिव लार्ड विंटरटन ने वाइसराय और बंबई, मद्रास तथा बंगाल के गवर्नरों के साथ अपनी बातचीत में रियासतों के शासकों के प्रति इस नए रवैये की हिमायत की थी और उनके जाने के बाद भारत सरकार के प्रतिनिधि को जब भी मौका मिलता, राजा-नवाबों का खुद गुणगान करते।

अक्तूबर में इंग्लैंड में आम चुनाव हुए। संयुक्त सरकार टूट गई और कंजरवेटिव

पार्टी सत्ता में आई। उसके नेता थे — श्री बोनार ला और सेक्रेटरी तथा अंडर सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया नियुक्त हुए वाइकाउंट पील और लार्ड विन्टरटन। अगले महीने सर बासिल ब्लेकेट को भारत सरकार का वित्त सदस्य बनाकर भेजा गया। इधर भारत में प्रतिक्रिया का वेग बढ़ता जा रहा था। भारत के उदारवादी नेताओं ने श्री मान्टेग्यू के प्रभाव में आकर विधान पर अमल करना शुरू किया था और मंत्री पद स्वीकार कर लिए थे। लेकिन वह अपने को अधिकाधिक खराब स्थिति में पा रहे थे। श्री मान्टेग्यू के मार्च में त्यागपत्र देने के बाद सर तेजबहादुर सप्रू भी अप्रैल में वाइसराय की कार्यकारिणी से इस्तीफा दे चुके थे। फिर मार्च 1923 में जब स्थिति असह्य हो गई तो संयुक्त प्रांत में शिक्षामंत्री श्री चिन्तामणि ने भी त्यागपत्र दे दिया। सन् 1922 में सरकार ने केवल यही अच्छे काम किए—एक तो बंगाल के मिदनापुर जिले में जनता की मांग को मान लेना, दूसरा पंजाब में अकाली सिखों की मांग को मान लेना। मिदनापुर में 'गांव स्वशासन कानून,' जिसके विरोध में करबंदी आंदोलन शुरू किया गया था, को वापस ले लिया गया और पंजाब में एक नया कानून पास किया गया। गुरुद्वारों का नियंत्रण महंतों के हाथों से लेकर जनता की समितियों को सौंप दिया गया।

आइए, अब इस वर्णन को यहीं रोक कर देखें कि इस दौरान नेतागण क्या कर रहे थे। दिसंबर 1921 के पहले सप्ताह में पंजाब कांग्रेस समिति की बैठक के समय लाला लाजपत राय और उनके अधिकांश प्रमुख साथी गिरफ्तार कर लिए गए। कुछ ही दिन बाद देशबंधु चित्तरंजन दास और उनके साथी, जिनमें बंगाल कांग्रेस के मंत्री श्री बी. एन. ससमल और मैं भी शामिल था, पकड़ लिए गए। इसके बाद पं. मोतीलाल नेहरू और संयुक्त प्रांत के अधिकांश प्रमुख कांग्रेसजनों को पकड़कर जेल में ठूंस दिया गया। असहयोग के नियमों के अनुसार किसी कांग्रेसजन को ब्रिटिश न्यायालय में अपनी सफाई पेश करने की इजाजत नहीं थी। इससे सब जगह इस्तगासे का काम बड़ा सरल हो गया था। अधिकांश मुकदमें चंद मिनटों से अधिक नहीं चलते थे और एक मजिस्ट्रेट आधे दिन में ही सैकड़ों मामलों का फैसला कर डालता था। पर देशबंधु दास के मामले में बात और ही हुई। उनका मुकदमा दो महीनों तक चला, क्योंकि मैं और श्री ससमल भी उनके साथ थे, इसलिए हमें भी बेकार की लंबी मुकदमेबाजी की तकलीफ उठानी पड़ी। उस समय यह आम चर्चा थी कि देशबंधु की प्रतिष्ठा और प्रभाव की वजह से मजिस्ट्रेट बिना किसी बैधता का दिखावा किए उन्हें सजा नहीं देना चाहता। अतः इस्तगासे को बार-बार समय दिया जाता रहा कि वह उनके खिलाफ सबूत इकट्ठे करे और मामला बनाए। इस्तगासे का आरोप कुछ नोटिसों पर आधारित था, जिस पर देशबंधु के हस्ताक्षर बताए गए थे और जो स्वयंसेवकों के संगठनों पर पाबंदी लगाने की सरकारी घोषणा का उल्लंघन माने जा रहे थे। जो बंगाल कांग्रेस समिति के कार्यालय में काम करते थे, वे जानते थे कि इन नोटिसों पर वास्तव में उन्होंने हस्ताक्षर नहीं किए हैं। फिर भी सरकारी हस्तलिपि

विशेषज्ञ ने शपथ लेकर यह साक्ष्य दिया कि हस्ताक्षर देशबंधु के ही हैं और इस सबूत के आधार पर उन्हें छह मास की कैद की सजा सुना दी गई। अपने मुकदमे के अंत में अपने बयान में उन्होंने अन्य गैर-कानूनी चीजों की तरफ इशारा किया और यह सिद्ध करने की कोशिश की, जब सरकार को अपना कोई उद्देश्य पूरा होता दिखाई देता है तो वह कानून को तोड़ने में भी बाज नहीं आती। सजा सुनाए जाने से पहले उनके पास इस्तगासे की ओर से संदेश भेजा गया कि यदि वह बारडोली प्रस्ताव को मान लें, जिसके द्वारा अवज्ञा आंदोलन को रोक दिया गया था, तो सरकार उन्हें रिहा कर देगी। लेकिन उन्होंने इस तरह के किसी भी प्रस्ताव को मानने से साफ इंकार कर दिया।

सजा हो जाने के बाद उन्हें और हमें जल्दी ही कलकत्ता की एक और जेल, अलीपुर सेंट्रल जेल में भेज दिया गया, जहां हमें बंगाल के सभी जिलों के प्रतिनिधियों से मिलने का अवसर मिला। महात्माजी के थोड़े से कुछ अंधानुयाइयों को छोड़कर आमतौर से बारडोली निर्णय के बारे में लोगों में नाराजगी हो थी। यह भावना मुख्यत. महात्माजी के खिलाफ थी, क्योंकि वही डिक्टेटर थे और अ. भा. कांग्रेस समिति ने बारडोली प्रस्ताव उन्हीं के इशारे पर पास किया था। लेकिन अब कदम पीछे हटाया जा चुका था और कुछ नहीं हो सकता था, इसलिए देशबंधु ने अपनी चालें बदलकर जनता में एक बार फिर से उत्साह भरने के नए तौर-तरीके निकालने की कोशिशें की। इस योजना के अनुसार कांग्रेसजनों को अब चुनाव का बहिष्कार करने की बजाय उसमें उम्मीदवारों के रूप में खड़े होकर और सीटों को जीतकर सरकार का समान रूप से संगत और निरंतर विरोध करने की अपनी नीति जारी रखना था। कलकत्ता कांग्रेस ने 1920 में विधान मंडलों के बहिष्कार की जो नीति तय की थी, वह बुरी तरह असफल सिद्ध हुई, क्योंकि राष्ट्रवादियों ने विधान मंडलों में प्रवेश नहीं किया। अतः अवांछित लोगों ने चुनाव लड़कर उन पर कब्जा कर लिया। इन लोगों ने देश में लोकप्रिय आंदोलन को समर्थन देने की बजाय सरकार का साथ दिया । उनकी सहायता से सरकार दुनिया को यह दिखा सकी कि दमन की अपनी नीति में उसे विधान मंडलों के चुने हुए सदस्यों का समर्थन प्राप्त है। देशबंधु का मत था कि क्रांतिकारी संघर्ष में किसी भी सुविधाप्रद स्थल को शत्रु के हाथों में नहीं रहने देना चाहिए। इसलिए विधान मंडलों में सब निर्वाचित स्थानों और सार्वजनिक निकायों (नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों इत्यादि) की सीटों पर कांग्रेसजनों को कब्जा करना चाहिए। जिसे ठोस रचनात्मक कार्य करने का अवसर मिले, उसे करना चाहिए। लेकिन ऐसा न होने पर वे कम से कम सरकार के सदस्यों और उसके एजेंटों का विधिवत विरोध तो जारी रख सकते हैं और इस प्रकार उन्हें गलत हरकतें करने से रोक सकते हैं। दूसरे यह कि चुनाव अभियान द्वारा कांग्रेस को सारे देश में एक साथ अपना प्रचार करने का मौका और सुअवसर मिलेगा। इस नई नीति को स्वीकार करने का यह कतई मतलब नहीं होता कि कांग्रेस ने अपने और कार्यों को छोड़ दिया है। इसका सिर्फ इतना ही अर्थ है कि उन कार्यों का विस्तार करके उनमें विधान मंडलों और सार्वजनिक निकायों के

निर्वाचित स्थानों को हथियाना भी शामिल कर लिया गया है।

इस नई योजना के बारे में अलीपुर सेंट्रल जेल में खूब गर्मागर्म बहस होती। जल्दी ही यह पता चल गया कि इन सारी बहसों में विरोधियों का एक तर्क था कि गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, 1919 ने विधान मंडलों में कानूनी विरोध के लिए कोई गुंजाइश छोड़ी नहीं है। अंग्रेजों और सरकारी सदस्यों के रहते यह संभव नहीं तो कठिन अवश्य था कि वे केंद्रीय विधान मंडल, असेम्बली या प्रांतीय कौंसिलों में बहुमत प्राप्त कर सकते। फिर यह कि असेम्बली के मामले में वाइसराय को और प्रांतीय कौंसिल के बारे में गवर्नरों को निषेधाधिकार और प्रमाणित करने का अधिकार प्राप्त था जिससे वे विधायिकाओं के निर्णय को नकार सकते थे। इसका जवाब यह था कि यद्यपि विधान मंडलों में चुने हुए सदस्यों का बहुमत नहीं था, फिर भी वह सरकार के खिलाफ निरंतर विरोध करके विधान मंडलों के बाहर आंदोलन को बल पहुंचा सकते थे। दूसरे कम से कम कुछ विधान मंडलों में तो चुने हुए सदस्यों को बहुमत मिल ही सकता था और फिर यदि वाइसराय या गवर्नर किसी भी विधान मंडल के निर्णय को रद्द करते हैं तो वे स्वयं देश और विदेश की जनता की अदालत में अपराधी माने जाएंगे। अंतिम बात यह कि वर्तमान विधान के अनुसार मंत्रियों या उनके विभागों के खिलाफ मत को किसी प्रांत का कोई गवर्नर नकार नहीं सकता था और यदि प्रांतीय कौंसिल ने मंत्रियों के वेतन के प्रस्ताव को बहुमत से ठुकरा दिया तो वे स्वतः अपने पद से हटा दिए जाएंगे और दो अमली प्रणाली के विधान के अनुसार काम बंद हो जाएगा। अलीपुर जेल में कई सप्ताह तक जैसे-जैसे इस बारे में बहस चलती गई, राजनीतिक कैदियों में दो पार्टियां बनती गईं और यहीं पर भावी स्वराज्य पार्टी और अपरिवर्तनवादियों की पार्टी की नींव पड़ी। मई 1922 में बंगाल के कांग्रेसजनों का एक सम्मेलन, जिसे प्रांतीय सम्मेलन नाम दिया गया, चटगांव में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का अध्यक्ष श्रीमती दास को बनाया गया, क्योंकि पिछले साल के आंदोलन में उन्होंने बड़ी वीरता से हिस्सा लिया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि कांग्रेस को अपनी रणनीति में परिवर्तन करने पर विचार करना होगा और अन्य बातों के साथ-साथ सुझाव दिया कि विधान मंडलों में जाकर वहां पर असहयोग के बारे में भी हमें विचार करना चाहिए। यह अनुमान लगाना कठिन नहीं था कि इनके इस भाषण के पीछे कौन बोल रहा है। इसे उनके पति का एक निश्चय समझकर सारे देश भर में विवाद का एक तूफान खड़ा हो गया। ऐसा होने पर स्पष्ट हो गया कि महात्माजी के अनुयायी उस रास्ते से किसी भी प्रकार हटने को तैयार नहीं हैं, जो महात्माजी ने अपने निर्णयों से पूर्व निश्चित कर दिया था और कांग्रेस द्वारा नई योजना के अनुसार चलने से पहले अच्छी-खासी टक्कर लेकर रहेंगे। इस मतभेद ने इतने तनाव को ठंडा करने की बजाय उसे और बढ़ाया। देशबंधु जेल में अपने समर्थकों के साथ बहुत बार विचार-विमर्श करते और उन्होंने बड़े विस्तार से अपने भावी कार्य की रूपरेखा तैयार की। उन्होंने

जिन कदमों के बारे में सोचा था, उनमें से एक था अंग्रेजी और देशी भाषा में समाचार पत्र निकालना। उनके इसी चिंतन के फलस्वरूप उनके पत्र 'फारवर्ड' का जन्म 1923 में हुआ और जल्दी ही भारत के अग्रणी राष्ट्रवादी पत्रों में इसकी गणना होने लगी।

सन् 1922 के दौरान भारत में बहुत से स्थानों पर राजनीतिक बंदियों और जेल अधिकारियों में झगड़े और दंगे हुए। बंगाल में फरीदपुर और बारीसाल की दो जेलों में बात बहुत बढ़ गई। इन जेलों में राजनीतिक कैदी अधिकारियों से बेहतर बर्ताव की मांग करने लगे और उन्होंने उस अपमानजनक व्यवहार के सामने झुकने से इंकार कर दिया, जो प्रायः इन्हीं जेलों में नहीं, बल्कि भारतभर की जेलों में कैदियों के साथ किया जाता था। अधिकारी भी अपनी जिद पर अड़े थे। उन्होंने बंदियों को कोड़े लगाने शुरू किए, लेकिन इससे भी राजनीतिक बंदियों के हौसले को नहीं तोड़ा जा सका। जब कोड़े लगाने की खबरें बाहर पहुंची तो जनता में और अधिक क्षोभ उमड़ा। दब्बू बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल को भी कुछ कार्रवाई करनी पड़ी और सरकार में भी इसे लेकर मतभेद हो गए। जेलों के प्रभारी सदस्य सर अब्दुल रहीम ने राजनीतिक कैदियों को कोड़े लगाने को गलत बताया, लेकिन वह सरकार को राजी नहीं कर सके। इसके विरोध में उन्होंने जेल विभाग को छोड़ दिया, जिसे बंगाल सरकार के तत्कालीन गृह सदस्य सर ह्यू स्टीफेंसन ने संभाल लिया।

मार्च में महात्मा गांधी के गिरफ्तार हो जाने के बाद कांग्रेस कार्यकारिणी की समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे? खैर, एक समिति नियुक्त की गई, जिसे सविनय अवज्ञा जांच समिति का नाम दिया गया और इसे यह काम सौंपा गया कि वह देश का दौरा करके अवज्ञा आंदोलन को फिर से शुरू करने की संभावना के बारे में रिपोर्ट दे। इस समिति के सदस्यों में आम भावना यह थी कि इतनी जल्दी अवज्ञा आंदोलन दुबारा शुरू करना संभव नहीं होगा। किन्तु जिस बात का हल नहीं सूझ रहा था, वह थी कि इस बीच कांग्रेस आखिर करे तो क्या करे? क्या कांग्रेस अपना शांतिपूर्ण रचनात्मक कार्य करती रहे या देशबंधु ने जो योजना सुझाई है, उसको स्वीकार करे? समिति ने देशभर का व्यापक दौरा किया और कुछ महीनों के बाद अपनी रिपोर्ट दी। निष्कर्षों के बारे में समिति के सदस्यों में मतभेद था और दोनों पक्षों में समान सदस्य थे। हकीम अजमल खां (दिल्ली), पंडित मोतीलाल नेहरू (इलाहाबाद) और श्री विट्ठलभाई जे. पटेल (बंबई) देशबंधु की विधान मंडलों में प्रवेश की योजना के पक्ष में थे और डा. एम.ए. अंसारी (दिल्ली), श्री के.आर. आय्यंगार (मद्रास) और श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (मद्रास) इसके विरुद्ध थे। चूंकि यह रिपोर्ट कांग्रेस के गया अधिवेशन से थोड़ा पहले ही प्रकाशित हुई, जिसके अध्यक्ष देशबंधु होने वाले थे, अतः इससे उनके हाथ और मजबूत हो गए।

सितंबर 1922 में बंगाल के उत्तरी जिलों में अभूतपूर्व बाढ़ आई। यद्यपि आज के

भारत में अकाल और बाढ़ कम कम हो गई हैं, फिर भी 1922 की बाढ़ अपूर्व विनाशकारी थी। बंगाल के चार जिले इससे प्रभावित थे। वहां फसलें बरबाद हो गईं, मकान बह गए और अनगिनत पशु मारे गए। कई मौतें भी हुईं। समूचा क्षेत्र पानी की एक विशाल झील दिखाई देता था। प्रान्तीय कांग्रेस समिति महात्मा की अपील पर उठ खड़े हुए और बाढ़ पीड़ित क्षेत्रों में मदद के लिए पहुंचने वाले पहले दलों में मैं भी था। विज्ञान स्नातक और राहत समिति के प्रधान श्री पी.सी. राय के प्रयत्नों से और जनता की उदारता के कारण चार लाख रुपये से ऊपर की राशि और बहुत से वस्त्र, अन्न और चारा (पशुओं के लिए) भी एकत्रित हो गया। इस अवसर पर सरकार ने 20 हजार रुपये दिये और सरकार की इस कंजूसी की हिमायत में बर्दवान के महाराजा ने, जो गवर्नर की कार्यकारी परिषद (एक्जीक्यूटिव कौंसिल) के सदस्य भी थे, कहा कि सरकार कोई दान देने वाली संस्था नहीं है। जनता ने सरकारी मदद के बिना जो महान कार्य किया, वह बहुत सफल रहा। इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी, क्योंकि इसके लिए अधिकतर उसी के सदस्य जिम्मेदार थे। वास्तव में सौभाग्य से इसके काम के लिए बंगाल के गवर्नर लार्ड लिटन ने भी बाढ़ पीड़ित इलाकों का दौरा करने के बाद इसकी सराहना की। उसके बाद से कांग्रेस हमेशा बाढ़ों और अकालों के समय राहत कार्य करती आ रही है।

अगस्त और दिसम्बर महीनों के बीच दो उल्लेखनीय घटनाएं और घटीं। पहली घटना थी अभी गठित हुई ट्रेड यूनियन कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन, जिसके सभापति देशबन्धु चित्तरंजन दास थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने बड़े मार्के की बात कही कि मैं जिस स्वराज्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हूं, वह किसी एक वर्ग के लिए नहीं होगा, बल्कि उन लोगों के लिए होगा, जिनकी संख्या 98 प्रतिशत है। इस अधिवेशन से पहले और बाद में वह मजदूर आंदोलन में काफी दिलचस्पी लेते रहे और कुछ समय के लिए टाटा आयरन एंड स्टील कम्पनी जमशेदपुर के मजदूर संघ के प्रधान भी रहे। दूसरी घटना थी कलकत्ता में नवयुवक सम्मेलन की बैठक। यह सम्मेलन युग में युवक आंदोलन का अग्रदूत था। युवक सम्मेलन में यह बात प्रकट हुई कि नवयुवक चाहते हैं कि उनका संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से बिल्कुल अलग रहे। उनका अपना आंदोलन और अपना ही संगठन हो।

नवम्बर के अंत के करीब कलकत्ता में अ.भा. कांग्रेस समिति की बैठक हुई जिसमें देशबन्धु चित्तरंजन दास और महात्मा जी के समर्थकों में जोर-आजमाइश होनी थी। यह कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन से पूर्व की स्थिति थी। दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में हंगामेपूर्ण वातावरण में गया का कांग्रेस अधिवेशन शुरू हुआ। युद्ध के अनुमान या भविष्यवाणी तो थी ही कि देशबन्धु की करारी पराजय होगी, लेकिन मतदान के समय कोई यह नहीं कह सकता था कि ऊंट किस करवट बैठेगा। खैर, फिर भी इतना स्पष्ट था कि देशबन्धु को सभी प्रांतों से काफी समर्थन मिलेगा, खास कर बंगाल, मद्रास

प्रांत, पंजाब, मध्य प्रांत और महाराष्ट्र (उस समय बंबई प्रेसीडेंसी का एक भाग) से। विषय समिति में इस पर धुआंधार बहस हुई और इसके बाद इसे कांग्रेस के खुले अधिवेशन के सामने आना था। मद्रास के विख्यात नेता श्रीनिवास आय्यंगार जो मद्रास वकील संघ के प्रधान थे और जिन्होंने मद्रास के महाधिवक्ता पद से त्यागपत्र दे दिया था, इस आशय का एक संशोधन रखा कि कांग्रेस चुनाव तो लड़े पर विधान मंडलों में जो कार्रवाई होती है, उसमें हिस्सा न ले। इस संशोधन पर मुख्य मतदान हुआ और इसमें महात्माजी के समर्थकों को भारी बहुमत मिला। उनके उत्साह का ठिकाना नहीं था और उस दिन के हीरो थे मद्रास के नेता श्री राजगोपालाचारी, जो कांग्रेस के सामने गांधीवाद के दूत के रूप में उभर कर आए।

श्री चित्तरंजन दास की स्थिति दुविधापूर्ण हो गई। वह कांग्रेस के अध्यक्ष थे, पर उनकी योजना ठुकरा दी गई थी। अपना भावी कदम निश्चित करने के लिए उन्होंने अपने समर्थकों की बैठक बुलाई। बैठक में यह निश्चय किया गया कि वह कांग्रेस से इस्तीफा दें और 'स्वराज पार्टी' के नाम से अपनी अलग पार्टी बनाएं। अगले दिन जब अ.भा. कांग्रेस समिति का अधिवेशन अगले साल यानी 1923 के लिए कार्यक्रम तय करने के लिए फिर शुरू हुआ तो पं. मोतीलाल नेहरू ने उठकर 'स्वराज पार्टी' की स्थापना की घोषणा कर दी। इस घोषणा से सब दंग रह गए और महात्माजी के समर्थकों के अपनी जीत की खुशी में खिले चेहरे मुरझा गए। अधिकांश बौद्धिक देशबंधु की ओर थे और इसमें जरा भी संदेह नहीं था कि उनके बिना कांग्रेस अपनी बहुत-सी शक्ति और महत्व खो बैठेगी। पं. मोतीलाल नेहरू ने जो ऐलान किया था, देशबंधु ने कार्रवाई का समापन करते हुए उसकी पुष्टि कर दी और अध्यक्ष पद से अपना त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि वह अधिकृत प्रस्तावों के विरुद्ध देश को अपनी योजना मनवाने के लिए तैयार करने के उद्देश्य से काम करना चाहते थे।

गांधीजी के समर्थक गया से जाते समय अपनी जीत से संतुष्ट थे, पर जो फूट पड़ गई थी, उसके कारण खिन्न थे। उधर स्वराजवादी पराजय की भावना लेकर, किन्तु लड़ने और जीतने के संकल्प के साथ विदा हुए।

अध्याय 4

स्वराजवादियों का विद्रोह (1923)

स्वराजवादी अर्थात स्वराज पार्टी के समर्थक अपने-अपने प्रांत में भरपूर काम करने का कार्यक्रम लेकर गया से लौटे। आम सहमति थी कि देशबंधु बंगाल, मध्य प्रांत और दक्षिण भारत में प्रचार-कार्य करेंगे। पं. मोतीलाल नेहरू उत्तर भारत में और विट्ठलभाई पटेल बंबई प्रेसीडेंसी में। सभी राष्ट्रवादी समाचारपत्र स्वराजवादियों के विरोध में थे। अत: स्वराजवादियों के पास अपने प्रचार के लिए भाषण ही एक मात्र साधन था। कलकत्ता में हमने अपने प्रचार को बढ़ाने के लिए चार पृष्ठों का एक पत्र 'बंगलार कथा' निकालना शुरू किया और अपने नेता के हुक्म पर रातों रात मुझे उसका सम्पादक बना दिया गया। मद्रास में श्री रंगास्वामी आय्यंगार, जो बाद में 'हिंदू' के सम्पादक हुए, हमारे बहुत सहायक बने। उनका तमिल दैनिक 'स्वदेशमित्रम्' स्वराज पार्टी की नीति का बड़ा प्रचारक रहा। बाद में उन्होंने हमारे प्रचार को बढ़ाने के लिए इसी नाम से एक अंग्रेजी साप्ताहिक भी शुरू किया। पुणे का मराठी का अत्यन्त प्रभावशाली पत्र 'केसरी' हमारे उद्देश्य का अग्रणी समर्थक बना। लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद श्री केलकर 'केसरी' के सम्पादक बने, क्योंकि वह स्वराज पार्टी के कट्टर समर्थक थे, इसीलिए 'केसरी' के सारे साधन भी हमारी पार्टी के काम आए।

जब देशबंधु गया कांग्रेस के बाद बंगाल लौटे तो उन्होंने अपनी स्थिति को बहुत कमजोर पाया। कांग्रेस की सारी मशीनरी हमारे राजनीतिक विरोधियों के हाथ में चली गई थी जिन्हें अब अपरिवर्तनवादी कहा जाने लगा था क्योंकि वे कांग्रेस की वर्तमान योजना और कार्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं चाहते थे। जब हमने अपने समर्थन का हिसाब लगाया तो हमें पता चला कि हम अल्पमत में थे। हमारे लिए धन इकट्ठा करना भी कठिन हो गया था, क्योंकि हमने कांग्रेस के अधिकृत कार्यक्रम का विरोध किया था। फिर भी हमारे पास अनुशासित और दृढ़ निश्चयी कार्यकर्ताओं की टोली थी और हम असीम उत्साह के साथ काम में जुट गए। उस समय हमने काम का जो तरीका निकाला, उसमें एक था—कांग्रेस संगठन की समय-समय पर जगह-जगह बैठकें बुलाना और कांग्रेस के प्रस्ताव को उलटने का अनुरोध करना। पहले पहल तो हमारी पार्टी जगह-जगह हारती ही रही, पर जब किसी एक जगह बहुमत हमारे पक्ष में होता तो इससे दूसरे स्थानों के कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहन मिलता।

जब भारत भर में आरंभिक प्रचार हो गया तो पहला स्वराजवादी सम्मेलन मार्च में इलाहाबाद में पं. मोतीलाल नेहरू के घर पर हुआ। इस सम्मेलन में स्वराज पार्टी का

संविधान बनाया गया और प्रचार अभियान की योजना बनाई गई। जब विधान बन ही रहा था तो स्वराज पार्टी के अंतिम लक्ष्य के बारे में यह विवाद खड़ा हो गया कि औपनिवेशिक स्वराज्य को लक्ष्य रखा जाए या पूर्ण स्वाधीनता को ? इस बारे में कांग्रेस के संविधान में कुछ स्पष्ट नहीं था। इसमें केवल इतना लिखा था कि स्वराज्य हमारा लक्ष्य है। पर स्वराज (या स्वराज्य) की परिभाषा नहीं बताई गई थी, क्योंकि स्वराज पार्टी अधिक व्यावहारिक थी, इस कारण वह स्वराज को परिभाषित करना चाहती थी, किन्तु इस सवाल पर पूर्ण सहमति संभव नहीं हुई; क्योंकि स्वराजवादियों में दो दल थे। अतः समझौते के लिए यह तय हुआ कि विधान में यह घोषित किया जाए कि पार्टी का निकट लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज प्राप्त करना है। इस प्रकार युवकों और बूढ़ों का टकराव फिलहाल टल गया।

स्वराज सम्मेलन समाप्त होने के बाद श्री चित्तरंजन दास दक्षिण भारत के लंबे दौरे पर निकल पड़े। उन्होंने यह बहुत ही कठिन काम हाथ में ले लिया था। उस समय मद्रास प्रेसीडेंसी गांधीवादियों का गढ़ थी और उन्होंने जानबूझ कर इस गढ़ को भेदने का बीड़ा उठाया था। दक्षिण भारत की कड़ी गर्मी के बावजूद उनका दौरा बहुत ही सफल रहा। देश के अन्य भागों में भी उनकी इस सफलता का प्रभाव पड़ा। कलकत्ता लौटकर उन्होंने बंगाल में प्रचार को दिशा देने का काम संभाला और इसके भी बहुत अच्छे परिणाम निकले। उसी समय पार्टी में अ.भा. कांग्रेस समिति की कई बार बैठकें बुलाने का निश्चय किया गया और हर बार देखा गया कि स्वराजवादियों को पहले से अधिक मत मिले। सन् 1923 के मध्य तक यह स्थिति आ गई कि कांग्रेस कार्यकारिणी का, जिसमें सारे ही सदस्य अपरिवर्तनवादी थे, अ.भा. कांग्रेस समिति में बहुमत नहीं रहा और उसे त्यागपत्र देना पड़ा। यद्यपि अपरिवर्तनवादी पद संभालने की स्थिति में नहीं थे, किन्तु स्वराज पार्टी भी ऐसी स्थिति में नहीं थी। अतः एक ऐसी पार्टी ने सत्ता संभाली, जिसे और कोई नाम न मिलने के कारण मध्यमार्गी कह लेते हैं। इस पार्टी ने स्वराजवादियों की योजना को तो स्वीकार नहीं किया, पर यह कट्टर गांधीवादी भी नहीं थी। प्राय: इसी समय बंगाल में भी अपरिवर्तनवादी हार गए और ऐसी बंगाल कांग्रेस कमेटी बनी जो मध्यमार्गी थी और स्वराजवादियों के प्रभाव में थी। इस व्यवस्था में मौलाना अकरम खां बंगाल कांग्रेस कमेटी के प्रधान बने लेकिन पुराने सचिव डा. पी.सी.घोष ने अपना पद छोड़ने से इंकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि दो समानांतर कांग्रेस कमेटियां काम करने लगीं। दोनों ही अपने को प्रतिनिधि संस्था मानती थीं। कई महीने तक यही स्थिति चलती रही और बाद में कांग्रेस कार्यकारिणी ने मौ. अकरम खां की अध्यक्षता वाली कमेटी के पक्ष में अपना फैसला दिया।

अधिकांश प्रांतों में और खास कर बंगाल में दोनों पार्टियों में संबंध बेहद कटु हो गए थे। यद्यपि दोनों का उद्देश्य भारत के लिए स्वराज्य प्राप्ति ही था। इस कटुता से

ज़िम्मेदार कांग्रेसजन चिंतित थे और उन्होंने गांधीजी से निवेदन शुरू किया कि इन विरोधी गुटों में समझौता कैसे कराया जाए। इसी समय पर सुझाव आया कि सितंबर 1923 में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाए। यह निर्णय गांधीजी के समर्थकों के लिए बड़ी चोट थी, क्योंकि दिल्ली कांग्रेस में स्वराजवादी निश्चय ही [illegible] अपनी योजना पर ज़ोर देने लगे थे और यह भी अपेक्षा [illegible] दिल्ली में उनकी [illegible] की [illegible] अधिक थी। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, जो देश के सबसे अधिक बुद्धिमान और प्रतिष्ठित मुसलमान नेताओं में थे, दिल्ली अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में [illegible] और [illegible] के [illegible] को ले जाने की स्वराजवादियों की नीति की हिमायत की थी।

दिल्ली कांग्रेस से पहले ही [illegible] में [illegible] और [illegible] मौलाना मुहम्मद अली और पंजाब के प्रसिद्ध नेता डा. किचलू जेल से छूटे थे। उनके [illegible] का अपरिवर्तनवादियों ने स्वागत किया, क्योंकि वे उनकी नीति और [illegible] के समर्थक थे। पर स्वराजवादियों ने [illegible] [illegible] कर ली थी कि उन्हें [illegible] नहीं [illegible] था। देशबंधु चित्तरंजन दास कलकत्ता के प्रतिनिधियों के बहुत बड़े दल के साथ [illegible] में अधिवेशन में पहुंचे और कलकत्ता के [illegible] ने स्थिति बदल दी। जैसे ही [illegible] हो गया कि स्वराजवादी [illegible], अपरिवर्तनवादी [illegible] समझौता करने को राजी हो गए। मौलाना मुहम्मद अली ने इस बात का दावा किया कि उन्हें गांधीजी की ओर से एक [illegible] संदेश (जिसे उन्होंने वायरलेस संदेश कहा) मिला है, जिसमें कांग्रेस के दो विरोधी गुटों में समझौता करने को कहा गया है। इस प्रकार सितंबर 1923 की विशेष दिल्ली कांग्रेस में बिना अधिक कहा-सुनी के [illegible] एक प्रस्ताव पास किया गया। यह प्रस्ताव था कि कांग्रेसजन विधान मंडलों में [illegible] और [illegible] विरोध करने के लिए आगामी चुनावों में [illegible] ले सकते हैं, लेकिन [illegible] ने कांग्रेस को इस बारे में कोई निर्देश नहीं दिया।

स्वराजवादी दिल्ली से बहुत खुश [illegible] हुए। [illegible] विरोध और [illegible] का [illegible] करते हुए [illegible] के [illegible] और [illegible] के [illegible] थे। लेकिन [illegible] का भी [illegible] नहीं था। आगामी चुनावों की तैयारी के लिए केवल [illegible] थे और [illegible] था।

कहते हैं कि [illegible] है [illegible] उनके स्वराजवादियों का साथ दिया था। अनेक [illegible]। [illegible] में [illegible] के [illegible] थे और [illegible] था कि स्वराजवादी अपनी [illegible]। [illegible] के [illegible] थे और केन्द्रीय विधान मंडल में भी स्वराजवादियों

का सशक्त दल चुनकर पहुंचा था। आपसी सहमति से यह तय किया गया कि प. मोतीलाल नेहरू सभा में स्वराज पार्टी के नेता होंगे और देशबंधु बंगाल की कौंसिल में पार्टी का नेतृत्व करेंगे, यहां उन्हें वैधानिक गतिरोध उत्पन्न कर सकने की उम्मीद थी।

केंद्र और प्रांतों के विधान मंडलों में निर्वाचित सीटों को जीतने में स्वराजवादियों को जैसी सफलता मिली वैसी ही अन्य चुनावों में भी मिली। संयुक्त प्रांत में 1923 में स्थानीय निकायों (नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों) के चुनाव हुए। पं मोतीलाल नेहरू के निर्देशन में यहां भी स्वराज पार्टी को काफी सफलता मिली और बहुतेरी नगरपालिकाएं और जिला बोर्ड स्वराज पार्टी के नियत्रण में आ गए। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी स्वराज पार्टी ने काफी प्रगति की। कलकत्ता में देशबंधु ने अक्टूबर में अपना एक दैनिक 'फारवर्ड' निकाला। यह उन्होंने दिल्ली अधिवेशन में अपनी जीत के बाद आरंभ किया, क्योंकि समाचार पत्र के कई कार्यकर्ता अचानक जेल भेज दिए गए थे। इस कारण मुझे इस संगठन का कार्यभार सौंपा गया। यद्यपि पत्र आरंभ करने से हम पर कठोर परिश्रम करने की जिम्मेदारी आ पड़ी थी, किन्तु हमें सफलता भी शीघ्र ही मिली थी और यह पत्र अपने जीवन काल में पार्टी की बढ़ती हुई लोकप्रियता और शक्ति के साथ आगे बढ़ने में पूरी तरह सक्षम रहा। थोड़े ही समय में 'फारवर्ड' ने देश के राष्ट्रवादी पत्रों में अपना अग्रणी स्थान बना लिया। अपने ओजस्वी लेखों, ताजा और विविध समाचारों के अलावा इस पत्र की मुख्य विशेषता थी—सरकारी गोपनीय चीजों का पता लगाना और फिर उनको प्रकट करना।

1923 में सविनय अवज्ञा आंदोलन नागपुर सत्याग्रह को छोडकर प्रायः वैधानिक तरीके का रहा। नागपुर में वहां के अधिकारियों ने शहर की कुछ सडकों से राष्ट्रीय झंडे लेकर निकलने पर पाबंदी लगा दी। इसके विरोध में उन्हीं निषेध वाली सड़कों और मार्गों से राष्ट्रीय झंडे लेकर जुलूस निकाले जाने लगे। इस तरह यह झंडा आंदोलन कई महीनों तक चला और बहुत से लोग इसमें गिरफ्तार कर जेल भेजे गए। यह मामला जल्दी ही अखिल भारतीय स्वरूप धारण कर गया, क्योंकि इसे सबने राष्ट्रीय ध्वज का अपमान माना और देश के सभी भागों से लोग नागपुर जाकर प्रतिबंध को तोड़कर गिरफ्तारियां देने लगे। आखिर में गवर्नर के सरकारी आवास को अक्ल आई और ऐसा समझौता हो गया जिसमें जनता की मांगों को काफी हद तक मान लिया गया। इस सिलसिले में यह याद रखने की बात है कि यह आंदोलन, जिसे नागपुर झंडा सत्याग्रह के नाम से जाना जाता है, कट्टर गांधीवादियों ने चलाया था जो यह दिखाने को बहुत आतुर थे कि गांधीवादी तरीका निष्प्रभ नहीं हुआ है और इससे देश को अभी भी उबारा जा सकता है।

1923 में गांधीवाद की मुख्य विद्रोही तो स्वराज पार्टी ही थी पर उसी साल गांधीवाद के विरोध में एक और विद्रोह उठ खड़ा हुआ जो आगे चलकर काफी महत्वपूर्ण सिद्ध

हुआ। गांधीवादी विचारधारा से असंतुष्ट होने के कारण बंबई में थोड़े से लोगों ने समाजवादी साहित्य का अध्ययन शुरू किया। इन लोगों के नेता थे—श्री डांगे। उन्होंने अपना एक क्लब चलाया और समाजवाद का प्रचार करने के लिए एक साप्ताहिक भी प्रकाशित करना आरंभ किया। कांग्रेस नेताओं में उनके संरक्षक बने केवल श्री विट्ठलभाई पटेल। इन लोगों ने बंबई में मजदूर संगठन का काम शुरू किया और कुछ ही वर्षों में उन्होंने भारत के प्रथम कम्युनिस्ट दल का रूप ले लिया। बंबई के अनुकरण पर कुछ दिनों बाद बंगाल में भी एक 'वर्कर्स एंड पीजेंट्स पार्टी' बन गयी। पर बंबई के दल की तरह इस पार्टी ने न तो अधिक तरक्की की और न इसे कोई खास महत्व मिला। इसका कारण खोजना कठिन नहीं। बंगाल, जिसका दिल और दिमाग कलकत्ता है, लंबे समय से राष्ट्रवादी आंदोलन का गढ़ रहा। वहां इस आंदोलन का आधार था एक लघु बुर्जुआ वर्ग। बड़ी बात यह थी कि बंबई की तरह बंगाल में कोई प्रभावशाली पूंजीपति वर्ग भी नहीं था। इस कारण बंगाल में बंबई जैसा तीव्र और खटकने वाला वर्गभेद भी नहीं पनपा। बंबई में बंगाल की तरह बुर्जुआ वर्ग न तो सशक्त था और न प्रभावशाली। दूसरे, वहां राष्ट्रवादी आंदोलन भी बंगाल की अपेक्षा नया ही था। इन हालातों में आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि बंबई में गांधीवाद के विरुद्ध विद्रोह समाजवादी या साम्यवादी रंग का ही हो सकता था। इसके विपरीत बंगाल में गांधीवाद के खिलाफ विद्रोह का रुख कम्युनिस्ट या साम्यवादी की अपेक्षा क्रांतिकारी अधिक रहा। इस विशिष्टता के बारे में हम आगे 'बंगाल की स्थिति' शीर्षक अध्याय में विचार करेंगे।

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि मार्च 1922 में श्री मान्टेग्यू के ब्रिटिश मंत्रिमंडल से इस्तीफा देने के बाद ब्रिटेन और भारत में प्रतिक्रियावादी शक्तियों का प्रभाव बढ़ गया। लायड जार्ज का संयुक्त मंत्रिमंडल जल्दी ही खत्म हो गया और अक्तूबर 1922 में आम चुनाव हुए जिसमें कंजरवेटिव पार्टी सत्ता में आई। नवंबर 1922 में सर बासिल ब्लैकेट भारत सरकार के वित्त सदस्य नियुक्त किए गए। उनका पहला काम था फरवरी 1923 में अपने पहले बजट में ही नमक कर को बढ़ाकर दुगुना करना। भारत में नमक कर हमेशा से नापसंद किया जाता रहा है। कुछ तो इस कारण से कि इससे लोगों को प्रकृति-प्रदत्त पानी या मिट्टी से नमक बनाने से रोका जाता है और कुछ इस कारण से कि इसकी सबसे अधिक मार गरीबों पर पड़ती है। इस प्रकार नमक कर को दुगुना कर देना सरकार का सबसे बुरा कदम हो सकता था। केंद्रीय विधान मंडल ने वित्त सदस्य के इस प्रस्ताव को फौरन अस्वीकार कर दिया, लेकिन वाइसराय लार्ड रीडिंग ने अपनी प्रमाणीकरण की विशेष शक्ति द्वारा इसे लागू कर दिया। जून में सरकार ने 'ली कमीशन' नियुक्त करके देश को एक और ठेस पहुंचाई। इस कमीशन का काम था उन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थिति, वेतन और रियायतों के बारे में जांच करना जिनमें मुख्यतः अंग्रेज ही होते थे। प्रत्येक ने महसूस किया कि इस कमीशन की नियुक्ति का परिणाम

यह होना है कि भारत में काम करने वाले अंग्रेज अफसरों के वेतन, भत्ते आदि और भी बढ़ जाएंगे।[1] इस प्रकार अंग्रेजों को खुश करने के लिए सरकार अधिक खर्च उठाने को तैयार थी, लेकिन साथ ही निरर्थक व्यय कम करने को तैयार नहीं थी, जबकि 'इंचकैप कमेटी' इस बारे में कई उपयोगी सुझाव दे चुकी थी।[2] इसके अलावा सरकार ने एक और कदम उठाया जिसकी उस समय बहुत आलोचना हुई और देश के कुछ भागों में इससे नाराजगी पैदा हुई। यह कदम था—नाभा के महाराज को गद्दी से उतारना। यद्यपि सरकार ने अपनी कार्रवाई को न्यायसंगत ठहराने के लिए महाराजा के खिलाफ कई आरोप लगाए थे, लेकिन जनता की आम धारणा यह थी कि नाभा महाराज आम राजा-नवाबों से न अच्छा था न बुरा। पर उसे राष्ट्रवादी विचारों के कारण गद्दी से उतारा गया, क्योंकि महाराजा सिख था और कहा जाता है कि उसने अकाली आंदोलन के प्रति सहानुभूति दिखाई थी। अतः उसकी गद्दी छिनने से सिख संप्रदाय में काफी रोष उत्पन्न हुआ।

ऐसी स्थिति में सरकारी क्षेत्रों में प्रतिक्रियावादी शक्तियां बराबर बलवती होती जा रही थीं और स्वराजवादी नौकरशाही के गढ़ पर भीषण हमले की तैयारी में जुटे थे, केंद्रीय विधान मंडल राष्ट्रवादियों के न होते हुए भी न तो निष्क्रिय रही और न ही दब्बू बनी रही। सभा में तीव्र वैधानिक प्रगति के लिए एक साल में ही दो बार प्रस्ताव पास किए गए। और यह भी कि सभा की अवधि के अंतिम दिनों में एक 'रेसीप्रोसिटी बिल' अर्थात दूसरे शब्दों में जैसे को तैसा व्यवहार की अनुमति देने वाला बिल पेश किया गया। इसे पेश किया था डा. (बाद में सर) एच.एस. गौड़ ने। इसका उद्देश्य था ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों में भारतीयों को बराबरी के जो अधिकार नहीं मिल रहे थे और उन पर जो कई प्रकार की अयोग्यताएं लागू कर दी गई थीं, उन उपनिवेशों के नागरिकों के साथ भारत में भी वैसा ही व्यवहार करना और उन पर भी उसी तरह की अयोग्यताएं लागू कर देना। यह बिल उस अन्याय का परिणाम था जो अफ्रीका में केन्या के ब्रिटिश उपनिवेश में भारतीयों के साथ किया जा रहा था। केन्या में भारतीयों की संख्या गोरों से तीन गुना थी। लेकिन गोरे लोग सारी राजनीतिक शक्तियां स्वयं हथिया लेना चाहते थे और भारतीयों को कुछ नहीं देना चाहते थे। केन्या के विधान मंडल में उन्होंने एक कानून पास करके 21 वर्ष के ऊपर के सभी गोरों को मताधिकार दे दिया था। पहले तो उन्होंने भारतीयों को बिल्कुल ही मताधिकार नहीं दिया, पर अंत में उन्होंने भारतीयों को पृथक निर्वाचन क्षेत्र और बहुत सीमित मताधिकार देने का प्रस्ताव किया। किन्तु भारतीयों ने इस

---

1 यह आशंका पूरी तरह सही निकली जब 'ली कमीशन' ने अपनी रिपोर्ट दी और भारत सरकार ने उसकी सिफारिशों को खुले रूप में अमल किया।

2 सरकार ने एक छोटी समिति नियुक्त की थी जिसके अध्यक्ष लार्ड इंचकैप थे। इसे प्रशासन के खर्च में कमी करने के संभव उपाय सुझाने का काम सौंपा गया था। इस समिति ने मार्च 1923 में अपनी रिपोर्ट दी थी।

प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि इससे वे हमेशा के लिए दूसरे दर्जे के नागरिक बन जाते। केन्या के भारतीयों ने इस अवसर पर भारत से सहायता की अपील की और अप्रैल 1923 में राइट आनरेबल वी.एस. शास्त्री[1] ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों से केन्या के लिए एक प्रतिनिधि मंडल लेकर भारतीयों की हिमायत करने के लिए इंग्लैंड गए। इंडिया आफिस और कालोनियल आफिस के बीच एक काफी न्यायोचित समझौता हुआ जिसे 'वुड-विंटरटन'[2] समझौते की संज्ञा दी गई। लेकिन टोरी मंत्रिमंडल ने इस पर अमल नहीं किया और श्री शास्त्री को निराश होकर भारत लौट आना पड़ा। उनके भारत लौटने पर डा. एच.एस. गौड़ ने विधानसभा में रेसीप्रोसिटी बिल (जैसे को तैसा बिल) पेश किया।

सन् 1923 में भारत की यह तस्वीर उन सांप्रदायिक मतभेदों के उल्लेख के बिना अधूरी रह जाएगी जो इसी साल उभरे और आगे चलकर जिन्होंने उग्र रूप धारण कर लिया। सन् 1923 में सबसे अधिक उपद्रव पंजाब में हुए। साल के शुरू में मुल्तान में सांप्रदायिक दंगे हुए और उसके बाद अमृतसर में जलियांवाला बाग के पास, जहां 1919 में हजारों लोग शहीद हुए थे। करीब उन्हीं दिनों मिस्टर (अब सर) मियां फजली हुसैन पंजाब में मंत्री नियुक्त हुए, उन्होंने आंख बंद करके सरकारी नौकरियों में मुसलमानों की नियुक्तियां कीं। इस पक्षपात से हिन्दुओं और सिखों में काफी रोष फैला। इसी साल आगे चलकर मुसलमानों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विरोध में 'तनज़ीम' और 'तबलीग' नाम का आंदोलन शुरू हुआ जिसका उद्देश्य मुसलमानों को मजबूत और उग्र संप्रदाय के रूप में संगठित करना था। कुछ दिनों तक तो इस आंदोलन में कुछ लोगों के लिए आकर्षण रहा, लेकिन जल्दी ही यह मुसलमानों की निगाह से गिर गया और दूसरे प्रकार के सांप्रदायिक और धार्मिक संगठनों ने इसका स्थान ले लिया। उधर मुसलमानों में इस प्रकार के आंदोलन चल रहे थे तो हिन्दू भी खामोश नहीं बैठे थे। उनके सांप्रदायिक संगठन हिन्दू महासभा ने अगस्त में अपने वार्षिक अधिवेशन में परिगणित जातियों को वे सभी अधिकार और सुविधाएं देने का निश्चय किया जो उच्च वर्ग के हिन्दुओं को प्राप्त थे और इस प्रकार उनसे अपने को मजबूत बनाने की कोशिश की। मुसलमानों के 'तनज़ीम' और 'तबलीग' के समान हिन्दुओं में भी 'संगठन' का आंदोलन शुरू हुआ। इसके अलावा उन हिन्दुओं को, जो किसी कारण से अतीत में हिन्दू समाज के दायरे से बाहर चले गए थे, वापस हिन्दू बनाने के लिए शुद्धि द्वारा किसी भी गैर-हिन्दू को हिन्दू बनाया जा सकता था। इस आंदोलन के जनक थे—स्वामी श्रद्धानंद। वह हिन्दू महासभा के बड़े प्रभावशाली नेता थे और उनके प्रभाव से हजारों की संख्या में मुसलमान और ईसाई सहित गैर-हिन्दू

---

1. श्री वी.एस. शास्त्री, श्री गोखले की मृत्यु के बाद सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी के अध्यक्ष हो गए थे। [illegible]
2. आनरेबल एडवर्ड वुड, जिन्हें बाद में लार्ड इर्विन और [illegible] लार्ड हैलीफैक्स के नाम से जाना जाता है, उस समय औपनिवेशिक अवर सचिव थे और लार्ड विंटरटन भारत के अवर सचिव थे।

हिन्दू धर्म में दीक्षित हुए। प्रायः इसी समय स्वामीजी मल्काना राजपूतों को फिर से हिन्दू धर्म में लाने की कोशिश कर रहे थे। मल्काना राजपूत पहले हिन्दू ही थे और बाद में मुसलमान बन गए थे। स्वामीजी की इस कोशिश से बहुत से मुसलमान नेता नाराज हो गए।

भारत में जब सांप्रदायिकता का तूफान उठा था, अलीबंधु अपने राष्ट्रवादी पथ से विचलित नहीं हुए। छोटे भाई मौलाना मुहम्मद अली को मद्रास प्रेसीडेंसी के काकीनाडा में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। गया अधिवेशन की तरह यहां कोई उग्र विवाद नहीं खड़ा हुआ और सारा काम बड़े सौहार्द और शांति के वातावरण में पूरा हुआ। हां, हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर कुछ थोड़ी सी सुरसुराहट हुई लेकिन सौभाग्य से वह किसी बड़े तूफान का रूप नहीं ले पाई। देशबंधु चित्तरंजन दास ने बंगाल में सांप्रदायिक प्रश्न के हल के लिए एक हिन्दू-मुस्लिम पैक्ट तैयार किया था, पर कांग्रेस ने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा कि यह मुसलमानों के प्रति पक्षपातपूर्ण है और राष्ट्रवाद के सिद्धांत का उल्लंघन करता है। सांप्रदायिक सवाल के हल के लिए एक और पैक्ट लाला लाजपत राय और डा. एम.ए. अंसारी ने तैयार किया था और काकीनाडा कांग्रेस ने इसे अ.भा. कांग्रेस समिति के विचारार्थ भेज दिया था। इन पैक्टों और समझौतों से यह प्रकट होता है कि कांग्रेस के अंदर जो समझदार व्यक्ति थे, वे सांप्रदायिक फूट की संभावना को समझने लगे थे। यह फूट और न बढ़ने पाए, इसके पहले ही वे कुछ समझौता करने की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। लेकिन काफी तेजी से प्रभावी कार्रवाई न हो सकी जिसका नतीजा यह हुआ कि मतभेद व्यापक तथा गंभीर होते गए और 1925 में ज्योंही देशबंधु चित्तरंजन दास की मृत्यु हुई तथा स्वराज पार्टी द्वारा पैदा की गई राजनीतिक गर्मी खत्म हुई, वैसे ही देश को सांप्रदायिक तूफान का सामना करना पड़ा।

राष्ट्रवादी दृष्टि से 1923 का साल बुरा था, लेकिन इसकी समाप्ति अच्छी हुई। जनवरी में जहां फूट और निराशा थी, वहा दिसंबर में आशा और विश्वास था। जहां-तहां सांप्रदायिक झगड़ों के लक्षण अवश्य थे, लेकिन फिर भी राजनीतिक सक्रियता काफी बढ़ चली थी। इंग्लैंड में भी प्रतिक्रियावादी ताकतों को अस्थायी तौर से धक्का लगा था। मई 1923 में श्री बोनार ला के स्थान पर श्री बाल्डविन प्रधानमंत्री बने और नवबर में उन्होंने संरक्षण बनाम स्वतंत्र व्यापार के मसले पर देश से अपील की। इसी सवाल पर कंजरवेटिव पार्टी हार गयी और 1924 के शुरू में ब्रिटेन के इतिहास में पहली बार लेबर पार्टी की सरकार बनी। पहले मंत्रिमंडल की निकट पूर्व संबंधी नीति असफल रही थी। 1922 की समाप्ति से पहले मुस्तफा कमाल पाशा अनातोलिया से यूनानियों को बाहर निकालने में सफल हो गए थे। 1923 की समाप्ति से पूर्व उन्होंने मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को कुस्तुनतुनिया से भी खदेड़ दिया और मार्च 1924 तक वह इतने शक्तिशाली हो गए कि खलीफा की व्यवस्था को बिल्कुल समाप्त कर दिया और फिर उन्होंने एक नए शक्तिशाली तुर्की को जन्म दिया।

अध्याय 5

देशबंधु चित्तरंजन दास सत्ता में (1924-25)

वर्ष 1924 हर प्रकार से और हर दिशा में आशावादी दृष्टि के साथ शुरू हुआ, लेकिन स्वराजवादियों को चैन कहां था? मार्च में देश के सबसे बड़े निगम कलकत्ता नगर निगम के चुनाव होने वाले थे। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की कृपा से 1923 में कलकत्ता नगर निगम कानून में संशोधन हो चुका था और इसके परिणामस्वरूप मताधिकार काफी व्यापक हो गया था और निर्वाचित सदन के सदस्य भी काफी बढ़ गए थे। जैसा विधान था, उसमें स्वराज पार्टी के लिए चुनाव जीतकर नगर निगम पर कब्जा करना संभव था। इसलिए चुनाव का जबरदस्त अभियान शुरू किया गया जिसका लक्ष्य था सभी निर्वाचित स्थानों पर कब्जा करना। जनता में इस चुनाव के लिए इतना अधिक उत्साह था कि हजारों की संख्या में लोग चुनाव सभाओं में भाग लेते और ऐसे में परिणाम की भविष्यवाणी करना कठिन नहीं था। वह हमारे अनुकूल थी और हुआ भी यही। स्वराज पार्टी काफी अच्छे बहुमत से चुनाव जीती। सफल उम्मीदवारों में कई मुसलमान भी थे। यद्यपि ये चुनाव पृथक निर्वाचन के आधार पर हुए थे। यानी हिन्दू उम्मीदवार को हिन्दू और मुसलमान को मुसलमान ही वोट दे सकते थे। नगर निगम के नवनिर्वाचित पार्षदों की पहली बैठक में देशबंधु चितरंजन दास को कलकत्ता का मेयर और मुसलमान शहीद सुहरावर्दी को डिप्टी मेयर चुना गया। जल्दी ही निगम ने मुझे निगम के प्रशासन का प्रधान कार्यपालक अधिकारी नियुक्त किया। उस समय मैं 27 वर्ष का था। मेरी इस नियुक्ति को स्वराज पार्टी ने तो स्वीकार किया, लेकिन पार्टी के कुछ हलकों में इससे कुछ ईर्ष्या अवश्य हुई। सरकार को भी इससे काफी परेशानी हुई और बहुत संकोच और ऊहापोह के बाद ही उसने अपनी अनुमति दी। कानून के अधीन उसकी मंजूरी जरूरी थी।

नए विधान[1] के अधीन देशबंधु का मेयर चुना जाना कलकत्ता नगर निगम पर हमारे अधिकार का प्रतीक था और इसको लेकर जनता ने काफी प्रदर्शन आदि किए। नए प्रशासन में नागरिकों की सुख-सुविधाओं के लिए नए-नए कदम उठाए गए। तेजी से नए नए काम हाथ में लिए गए। नव निर्वाचित स्वराजवादी पार्षद और एल्डरमैन शुद्ध खादी पहनकर आते थे। नगरपालिका के कर्मचारियों के लिए वर्दी भी खादी की कर दी गई। नगर की बहुत सी सड़कों और पार्कों का नामकरण भारत के महापुरुषों के नाम पर किया

1. कलकत्ता नगर निगम में नए विधान के अनुसार काम का बटवारा कर दिया गया था—चीफ एग्जीक्यूटिव अफसर निगम के प्रशासन का मुखिया होता था और मेयर समूचे नगर निगम का प्रमुख। पुराने विधान में यह दोनों काम एक ही व्यक्ति के अधीन थे।

गया। पहली बार शिक्षा विभाग की स्थापना की गई और कैम्ब्रिज के एक प्रतिष्ठित स्नातक[1] को शिक्षा विभाग का मुखिया नियुक्त किया गया। शहर में लड़के-लड़कियों के लिए निःशुल्क प्राथमिक विद्यालय खुल गए। नगर के समाजसेवी लोगों ने हर वार्ड में स्वास्थ्य संबंधी प्रचार के लिए स्वास्थ्य संस्थाएं स्थापित कीं। नगर निगम इन्हें आर्थिक मदद देता था। गरीबों के मुफ्त इलाज के लिए विभिन्न जिलों में नगरपालिका ने चिकित्सालय खोले। माल की खरीद में स्वदेशी चीजों को वरीयता दी जाती थी। नियुक्तियों के बारे में मुसलमानों और दूसरे अल्पसंख्यकों के अधिकारों को पहली बार मान्यता दी गई। नगर के भिन्न-भिन्न भागों में शिशु औषधालय स्थापित किए गए। ऐसे हर औषधालय के साथ दूध बांटने का भी प्रबंध होता था, जहां से गरीबों के बच्चों को मुफ्त दूध मिलता था। सबसे अंतिम, किन्तु बहुत बड़ी बात यह थी कि महात्मा गांधी, पं. मदन मोहन मालवीय, पं. मोतीलाल नेहरू और श्री विट्ठलभाई पटेल जैसे राष्ट्रीय नेताओं का कलकत्ता आने पर नागरिक अभिनंदन किया गया। पहले केवल वाइसराय या गवर्नरों आदि सरकारी अधिकारियों का नागरिक अभिनंदन किया जाता था। इस प्रथा को हमेशा के लिए खत्म कर दिया गया।

नागरिकों की भलाई के लिए जो काम किए गए, उनसे नागरिकों में एक नए प्रकार की चेतना आई।[2] पहली बार जनता ने नगर निगम को अपनी ही एक संस्था और इसके कर्मचारियों और अफसरों को जनता का सेवक समझना शुरू किया। लेकिन शहर के कुछ निहित स्वार्थी तत्वों ने महसूस किया कि उनका महत्व घटता जा रहा है और अब वे नगर निगम पर हावी नहीं हो सकते। उस समय प्रायः सभी विभागों के प्रधान अंग्रेज थे। लेकिन एकाध को छोड़कर किसी से काम लेने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। उनमें से अधिकांश नए स्वराजवादी प्रशासन के प्रति वफादार थे और कुछ तो बड़े उत्साह से उसकी प्रशंसा भी करते थे। चंद महीनों में ही प्रशासन की कार्य-कुशलता बहुत बढ़ गई और जनता की शिकायतों पर पहले की अपेक्षा काफी जल्दी कार्रवाई की जाती थी, लेकिन नगर निगम में जो सरकारी सदस्य थे वे और सरकार निरंतर विरोध की नीति अपनाए रहे और इससे हमेशा खींचतान बनी रही। अल्पसंख्यकों की नियुक्ति करने के बारे में वे स्वराजवादियों का विरोध करते थे। शहर की नालियों की समस्या के बारे में भी वे स्वराज पार्टी के खिलाफ थे। सरकार ने कलकत्ता की नालियों के सुधार की एक नई योजना बनाई थी जिसे स्वराजवादियों ने अवैज्ञानिक और बेकार करार देकर नामंजूर कर दिया। इस मामले में नगर निगम की नाली व्यवस्था के इंजीनियर स्व. श्री ओ. जे. विल्किन्सन और जन स्वास्थ्य निदेशक डा. सी.ए. बेन्टले स्वराजवादियों के समर्थक थे

1. के पी चट्टोपाध्याय, जो आज तक इसी पद पर काम कर रहे हैं। इस समय नगरपालिका के स्कूलों में लगभग 40,000 लड़के-लड़कियां पढ़ रहे हैं।
2. इस नई चेतना को अभिव्यक्त करने के लिए नगरपालिका ने एक नई पत्रिका शुरू की जिसका नाम ■ 'कलकत्ता म्युनिसिपल गजट'।

और मुख्य अभियंता श्री जे.आर. कोट्स सरकार की तरफ थे। नालियों की व्यवस्था का यह झगड़ा सरकार और नगर निगम में काफी लंबे अर्से तक चलता रहा और आखिर दस साल बाद जाकर सरकार इस मामले में झुकी।[1]

कलकत्ता नगर निगम में स्वराज पार्टी के काम से सरकार को इतनी परेशानी नहीं हुई, लेकिन उस पर कई प्रकार के दबाव पड़ रहे थे। केंद्रीय विधान मंडल में स्वराज पार्टी काफी मजबूत थी और पार्टी की तरफ से एक प्रस्ताव का नोटिस दिया जा चुका था, जिसमें महात्मा गांधी की रिहाई की मांग की गई थी। महात्मा गांधी 12 जनवरी को बहुत बीमार हो गए थे और उनका आपरेशन करना पड़ा था। इस खबर से देश के इस कोने से उस कोने तक बड़ी चिंता और बेचैनी फैल गई थी और उनकी रिहाई की जबरदस्त मांग की जा रही थी। 5 फरवरी को जब यह प्रस्ताव पेश किया जाना था, सरकार ने चुपके से महात्माजी को जेल से रिहा कर दिया। इसके कुछ दिन बाद 8 फरवरी को विधान मंडल में स्वराज पार्टी के नेता पं. मोतीलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें मांग की गई कि पूर्णतः उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने वाला संविधान तैयार करने के लिए एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाए और इस संविधान पर नई चुनी हुई विधायिका विचार करे और फिर इसे ब्रिटिश पार्लियामेंट को भेजा जाए जो इसके अनुसार कानून बनाए। सरकार की ओर से इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए सर मैल्कम हैली ने वचन दिया कि विधान के बारे में शिकायतों और आलोचनाओं की जांच की जाएगी और यदि जांच करने पर यह पाया गया कि कानून के दायरे के भीतर और अधिक वैधानिक प्रगति की गुंजाइश है तो इस बारे में ब्रिटिश सरकार के सामने अपनी सिफारिशों को भेजने में सरकार (भारत की सरकार) को कोई आपत्ति नहीं होगी। लेकिन यदि यह पाया गया कि वैधानिक प्रगति के लिए गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1919 में संशोधन करना जरूरी होगा, तो उस बारे में आज सरकार कोई वचन नहीं दे सकती। यह उत्तर बहुत ही निराशाजनक था और एक प्रकार से बदला लेने के लिए विधान मंडल ने सरकार की ओर से पेश की गई बजट की कई मांगों को अस्वीकार कर दिया और सारे ही वित्त विधेयक को पेश करने की अनुमति देने से भी इंकार कर दिया। अतः वाइसराय को प्राप्त प्रमाणीकरण की विशेष शक्तियों के इस्तेमाल से वित्त विधेयक को बहाल करना पड़ा।

गोलमेज सम्मेलन की मांग पर बहस के बाद एक समिति नियुक्त की गई जिसके विचाराधीन विषय इस प्रकार थे- गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1919 में समाविष्ट दोषों के कारण उत्पन्न कठिनाइयों के बारे में जांच करना, ऐसी कठिनाइयों और दोषों का पता लगाना जो ऐक्ट की संरचना, नीति और उद्देश्य के अनुरूप या तो ऐक्ट और नियमों के अधीन कार्रवाई से या ऐक्ट में ऐसे संशोधन करके जो प्रशासनिक कमियों को पूरा करने

---

1 नालियों की जिस योजना को अब स्वीकार किया गया है उसे भारतीय मुख्य अभियंता डा. बी.एन. डे ने तैयार किया और वह अभी तक उस पद पर काम कर रहे हैं।

के लिए आवश्यक हों। इस समिति के अध्यक्ष थे- गृह सदस्य सर अलेक्जेंडर मुडीमैन। इसके अन्य सदस्यों में थे- सर तेज बहादुर सप्रू (इलाहाबाद), सर शिवस्वामी अय्यर (मद्रास),श्री एम. ए. जिन्ना (बंबई) और डा. परांजपे (पूना)। ये सब उदार यानी लिबरल थे। इन्होंने अपनी अल्पमत वाली रिपोर्ट अलग से दी। खैर, पूरी समिति ने भी यही रिपोर्ट दी कि विधान में और इसके अमल में बहुत भारी खामियां हैं। समिति में सरकारी अफ़सरों का बहुमत था, इसलिए उन्होंने बहुत से छोटे-छोटे संशोधन ही सुझाए, जिनसे विधान कारगर हो सकता था। अल्पमत वाली रिपोर्ट में कहा गया था कि इन छोटे-मोटे सशोधनों से कुछ लाभ नहीं होगा और विधान का संतोषजनक कार्यान्वयन तभी संभव होगा, जब प्रांतों में उत्तरदायी शासन और केंद्रीय सरकार में कम से कम कुछ मात्रा में उत्तरदायित्व देने की दृष्टि से आवश्यक संशोधन किया जाए। इस विषय में यह ध्यान देने की बात है कि असेम्बली की स्वराज पार्टी ने मुडीमैन समिति से किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं किया और स्वराज पार्टी की दृष्टि में समिति की रिपोर्ट पूर्णतः निराशाजनक थी।

स्वराज पार्टी केंद्रीय विधान सभा में बड़े-बड़े सवालों को उठा रही थी। उधर प्रांतीय विधान मंडलों में स्वराज पार्टी अड़ंगे लगाने की चालें चल रही थी। विधान सभा में अड़ंगेबाजी की कोई गुंजाइश ही नहीं थी, क्योंकि वाइसराय 'वीटो' और प्रमाणीकरण की अपनी विशेष शक्तियों के बल पर सभा के किसी भी फैसले को उलट सकता था। बडी बात यह थी कि केंद्रीय सरकार के सभी विभाग उन सदस्यों के अधीन थे जो पूरी तरह वाइसराय के नियंत्रण में थे और ये न तो चुने हुए होते थे और न इन्हें विधान सभा के मत द्वारा हटाया जा सकता था। उधर प्रांतों में स्थिति भिन्न थी। वहां 'हस्तांतरित' विभाग उन मंत्रियों के अधीन थे जो प्रांतीय विधायिकाओं के चुने हुए सदस्य होते थे और विधान मंडल के मत पर निर्भर थे। साथ ही जो सुरक्षित विभाग थे, वे ऐसे सदस्यों के अधीन थे जो विधायिका के मत[1] से स्वतंत्र और अप्रभावित थे। अतः प्रांतो में स्वराज पार्टी की नीति थी मंत्रियों और उनके हस्तांतरित विभागों पर हमला करते रहना। या तो मंत्रियों के वेतन आदि को पूरी तरह नामंजूर कर देना, ताकि कोई भी मंत्री नियुक्त ही न किया जा सके या फिर मंत्रियों के खिलाफ लगातार अविश्वास प्रस्ताव लाते रहना, ताकि मंत्रिगण अधिक समय तक अपने पदों पर न रह सकें। इसके साथ ही यह भी प्रयत्न होता रहता था कि हस्तांतरित विभागों का बजट ही पास न होने पाए, क्योंकि इसे केंद्र की तरह प्रमाणीकरण द्वारा पास करने की कोई व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार के हथकंडों से गर्वनर को हस्तांतरित विभागों के काम को रोककर अपने हाथ में लेने को मजबूर होना पड़ता था और फिर उसी प्रकार का शासन हो जाता, जैसा कि सुधारों से पहले था। मध्य प्रांत की परिषद में स्वराज पार्टी का पूर्ण बहुमत था और वहां बिना किसी खास कठिनाई के

1 इस प्रकार की दुहरी शासन प्रणाली के कारण ही इसे 'दो अमली' प्रणाली या अंग्रेजी में 'डायर की' कहा गया।

समूचे बजट को नामजूर कर दिया जाता था और इस प्रकार कोई भी मंत्री नियुक्त नहीं किया जा सकता था। बंगाल में भी स्थिति करीब-करीब ऐसी ही थी। मंत्रियों के वेतन का प्रस्ताव ठुकरा दिया जाता था और बार-बार उनकी बहाली के प्रयत्न भी सफल नहीं हुए। परिणाम यह हुआ कि मंत्रियो को अपने पद छोड़ने पडे। इस तरह मध्य प्रांत और बंगाल में विधान के अमल को असंभव कर दिया गया। इन दोनों प्रांतों में जब दो अमली शासन-व्यवस्था को ठप्प कर दिया तो जनता में इतना जोश और उत्साह आया जिसका वर्णन करना संभव नहीं है। यह स्वराज पार्टी की महान विजय मानी गई और इस सफलता से सारे देश में खुशी की लहर दौड़ गई। सन् 1920 में कांग्रेस ने नए विधान को चुनावों का बायकाट करके ठप्प करने की कोशिश की थी, लेकिन यह कोशिश पूरी तरह नाकाम रही; क्योंकि एक भी सीट खाली नहीं रही और अवांछित लोग विधान मंडलों में भर गए। दूसरी ओर जब 1924 में स्वराज पार्टी लड़ाई को विधायिकाओं के भीतर ले गई थी तो वह कम से कम कुछ प्रांतों के विधान को ठप्प करने में सफल रही।

उदार दल के लोग और अपरिवर्तनवादी कांग्रेस-जन भी कभी-कभी स्वराज पार्टी की वैधानिक अवरोध पैदा करने की उपयोगिता को नहीं समझ पाए। उनका तर्क था कि यदि मंत्रियों को उनके पदों पर बने रहने दिया जाता तो वे गवर्नर या उसके अफसरों द्वारा उन विभागों को अपने हाथ में ले लेने के मुकाबले जनता की कहीं ज्यादा भलाई कर पाते। इसके जवाब में स्वराज पार्टी वाले कहते थे कि तीन वर्षों (1920-23) का अनुभव यह भली-भांति सिद्ध करता है कि 1919 के संविधान के अंतर्गत किसी मंत्री को उपयोगी काम की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। जन सुरक्षा, न्याय, जेल, वित्त आदि सभी अधिक महत्वपूर्ण विभाग सरकारी अधिकारियों के हाथों में हैं और इन्हीं के लिए बजट में सबसे अधिक व्यवस्था की जाती है। इसके बाद जो बचता है, वह मंत्रियों को दे दिया जाता है, और यह इतना कम होता है जिससे अमले का खर्च ही मुश्किल से निकल पाता है। बड़े पैमाने पर राष्ट्र निर्माण के कामों को तो हाथ में लेना ही असंभव है। दूसरी बड़ी बात यह है कि उनके नीचे काम करने वाले प्रमुख अधिकारियों के, जिनमें उनके सचिव भी शामिल हैं, खिलाफ मंत्रीगण कोई अनुशासनात्मक कार्यवाई नहीं कर सकते, क्योंकि ये लोग अपने वेतन आदि के लिए विधान मंडल के अधीन न होने के कारण जनता के दुखदर्द के प्रति जागरूक नहीं होते। इन हालातों में विधान सभा को अबाध रूप से काम करने देने से देश को किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं होने वाला है, जबकि सफल अड़ंगेबाजी से सरकार पर केवल दबाव ही नहीं पड़ता, बल्कि उसका काम रुकता है, बल्कि समूचे देश में प्रतिरोध की भावना पनपती है। सच तो यह है कि जब मार्च 1923 में स्वराज पार्टी का विधान बना था, तभी उसके आमुख में यह लिख दिया गया था कि पार्टी का लक्ष्य नौकरशाही के खिलाफ प्रतिरोध का वातावरण तैयार करना है जिसके बिना सरकार कभी भी जनता की मांगों को मानने को तैयार नहीं होगी।

इधर स्वराज पार्टी वाले अपनी जीत की खुशियां मना रहे थे, उधर लेबर पार्टी के

भारत मंत्री लार्ड आलीवियर ने हाउस आफ लार्ड्स में बड़े मार्के का भाषण दिया और स्वराजवाद के जन्म का विश्लेषण किया। उन्होंने इसके जो कारण बताए उनमें पहला था— हाउस आफ लार्ड्स द्वारा जनरल डायर के हत्याकांड के समर्थन में प्रस्ताव पास करना, दूसरा प्रधानमंत्री लायड जार्ज का 1922 का वह फौलादी ढांचे वाला भाषण, जिसमें उन्होंने इंडियन सिविल सर्विस की बड़ी प्रशंसा की थी, तीसरा सन् 1923 में जनता द्वारा घोर विरोध और केन्द्रीय विधान मंडल द्वारा इसके विरोध में वोट देने के बावजूद भारत सरकार द्वारा नमक कर का दुगुना किया जाना और चौथा अफ्रीका के शाही उपनिवेश केन्या में भारतीयों के साथ किया गया अन्याय। भारतीय जनता के असंतोष के इस चतुराई भरे सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण से जिसने स्वराज पार्टी को जन्म दिया था, यह दिखा दिया कि भले एक बार ही सही, लेकिन लंदन स्थित ब्रिटिश सरकार ने जनता की भावनाओं और भारत के जनमत को समझा तो है। दुख की बात यह है कि इस समझदारी के बाद भी आगे कोई उचित कदम नहीं उठाया गया।

देशबंधु चित्तरंजन दास के लिए नगरपालिका, विधान मंडल और दूसरे क्षेत्रों के काम ही काफी नहीं थे, उन्होंने इसी समय एक और आंदोलन भी आरंभ कर दिया। इसे तारकेश्वर सत्याग्रह आंदोलन कहा जाता है। कलकत्ता के पास ही एक स्थान तारकेश्वर है, जहां 'बाबा तारकनाथ' अथवा शिव का एक प्राचीन मंदिर है। अन्य मठों और मंदिरों की तरह इस मंदिर के पास भी बहुत सी संपत्ति थी जो इसके रख-रखाव के लिए दान में मिलती थी। हिंदू प्रथा के अनुसार इस मंदिर का एक महंत था और इस नाते मंदिर की संपत्ति का भी स्वामी था। यद्यपि महंतों का जीवन बड़ा संयमी और पवित्र होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं था। इस मंदिर के महंत का व्यक्तिगत चरित्र निष्कलंक नहीं था और उस पर मंदिर की संपत्ति के दुरुपयोग के भी कई प्रकार के आरोप थे, क्योंकि तारकेश्वर बंगाल के मुख्य तीर्थ स्थानों में से है और बंगाल के कोने-कोने से भक्तजन यहां आते हैं। अतः मंदिर के महंत के बारे में जो आरोप थे, वे बंगाल भर में फैल गए थे। पंजाब में अकाली आंदोलन की सफलता के बाद बंगाल कांग्रेस पर भी दबाव डाला गया कि तारकेश्वर में भी ऐसा ही आंदोलन शुरू किया जाए। महंत को अपना रंग-ढंग सुधारने के लिए कई नोटिस दिए गए। लेकिन इन कोशिशों से भला क्या होने वाला था। अतः अप्रैल 1924 में देशबंधु ने मंदिर और उसकी संपत्ति पर शांतिपूर्ण कब्जा करने और इसके प्रबंध को एक सार्वजनिक समिति के अधीन लाने के लिए आंदोलन शुरू कर दिया। महंत ने सरकार से मदद की अपील की। ज्योंही स्वयंसेवक मंदिर और महंत के महल की ओर बढ़ने लगे, पुलिस मौके पर आ पहुंची। बस फिर सत्याग्रह का आम दृश्य उपस्थित होने लगा। स्वयंसेवक शांतिपूर्ण ढंग से एक ओर से आते, दूसरी ओर से पुलिस आकर उन्हें निर्दयता से पीटती और कभी-कभी गिरफ्तार भी करती, क्योंकि सरकार ने इस मामले में हस्तक्षेप किया, इस कारण यह राजनीतिक मसला बन गया। लोगों के सामने

उदाहरण रखने की दृष्टि से देशबंधु ने फिर एक बार अपने पुत्र को स्वयंसेवकों का जत्था लेकर गिरफ्तार करवाया। थोड़े ही दिनों में यह आंदोलन बहुत लोकप्रिय हो गया और प्रांत के हर भाग के लोग इसमें भाग लेने के लिए आगे आने लगे।[1]

मई 1924 में बंगाल के कांग्रेसजनों का प्रांतीय सम्मेलन सिराजगंज नामक स्थान पर आयोजित हुआ। इससे पहले देशबंधु ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक समझौता तैयार किया जिसमें धार्मिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के सवालों को शामिल किया गया था, लेकिन दिसंबर 1923 में कोकोनाडा कांग्रेस ने इसे उस आधार पर ठुकरा दिया था कि इसमें मुसलमानों को बहुत अधिक रियायतें दी गई थीं। इस समझौते को, जिसे बंगाल पैक्ट नाम दिया गया, सिराजगंज सम्मेलन के सामने पुष्टि के लिए रखा गया। देशबंधु के विरोधियों ने और कुछ प्रतिक्रियावादी हिन्दुओं ने मिलकर इसका डटकर विरोध किया। खैर, नेता के ओजस्वी और प्रभावशाली वक्तृत्व के कारण किसी की चली नहीं और बंगाल पैक्ट भारी बहुमत से स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद एक और प्रस्ताव पर विचार हुआ और वह भी पास हो गया जिससे आगे चलकर काफी विवाद उठ खड़ा हुआ। वह था गोपीनाथ साहा प्रस्ताव। कुछ महीने पहले एक युवक छात्र गोपीनाथ साहा ने कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर की हत्या करने की कोशिश की थी। पहचान की भूल के कारण वह पुलिस कमिश्नर सर चार्ल्स टेगार्ट के बदले एक और अंग्रेज श्री डे पर गोली चला बैठा जिससे उसकी मृत्यु हो गई। कलकत्ता हाईकोर्ट में जब मामला गया तो गोपीनाथ साहा ने ऐसा वक्तव्य दिया जिससे उस समय काफी सनसनी फैली। उसने कहा कि मैं वास्तव में पुलिस कमिश्नर को मारना चाहता था और मुझे गलत व्यक्ति के मारे जाने का हार्दिक दुख है। मैं इसके लिए अपना जीवन देकर भी खुश हूं और आशा करता हूं कि मेरे रक्त की हर बूंद से भारत के हर घर में आजादी का बीज बोया जाएगा। हाईकोर्ट ने साहा को फांसी की सजा सुनाई और उसे फांसी दे दी गई। इसके बाद बंगाल में बहुत से स्थानों पर उसके साहस और बलिदान की प्रशंसा के प्रस्ताव पास किए गए। इसी तरह का एक प्रस्ताव सिराजगंज सम्मेलन में भी सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। इससे सरकार काफी नाराज हुई।

इधर बंगाल में जब जोश पैदा करने वाली हलचलें हो रही थीं, तो दूसरे क्षेत्रों में भी दिलचस्प घटनाएं घट रही थीं। जैसा कि हम कह चुके हैं, 5 फरवरी को महात्माजी को जेल से रिहा कर दिया गया था और वह स्वास्थ्य लाभ और हवा-पानी बदलने के

1 यह सत्याग्रह कई महीनों तक चला। महंत को देशबंधु से समझौता करने को मजबूर होना पड़ा। एक समझौता तैयार किया गया जिसके अनुसार मंदिर और सम्पत्ति का अधिकांश भाग एक सार्वजनिक समिति को दिया जाना था। यह समझौता न्यायालय के सामने ले जाया जाना था। इस समय ब्राह्मण सभा नामक एक दूसरी पार्टी ने इस पर आपत्ति उठाई। जिस समय मामला न्यायालय विचाराधीन था देशबंधु की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद समझौता जहां का तहां रह गया और सत्याग्रह आंदोलन भी निष्फल रहा।

लिए बंबई के पास के समुद्र तटीय स्थान पर चले गए थे। कुछ सप्ताह के बाद वह फिर से अपने सार्वजनिक कामों को करने और धीरे-धीरे सारे ही काम करने लायक हो गए। फौरन ही सब तरफ अनुमान लगाए जाने लगे कि देखें, गांधीजी स्वराज पार्टी के बारे में क्या रवैया अपनाते हैं। सिद्धांत रूप में वह स्वराज पार्टी के परिषद में प्रवेश के कट्टर विरोधी थे। फिर भी उन्होंने कोई उग्र विरोध नहीं दिखाया। संभव है कि उन्होंने देशभर में स्वराजवादियों की स्थिति को बहुत सुदृढ़ और उन्हें उखाड़ फेंकने में अपने आपको असमर्थ पाया हो और इसलिए अवश्यम्भावी के सामने सिर झुका दिया। या यह भी हो सकता है कि देश में परिस्थितियों के बदल जाने के कारण अपनी रणनीति को बदलना भी उन्होंने जरूरी समझा हो। खैर चाहे जो हो, वह स्वराज पार्टी के नेताओं देशबंधु चित्तरंजन दास और पं. मोतीलाल नेहरू से मिले और कुछ ही दिनों में दोनों में समझौता हो गया। यह समझौता गांधी-दास पैक्ट के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार महात्मा गांधी खादी अभियान की ओर ध्यान देने वाले थे और स्वराज पार्टी राजनीतिक आंदोलन को संभालने वाली थे। इस काम में कांग्रेस या स्वराज पार्टी किसी की तरफ से कोई हस्तक्षेप न हो सके, इसके लिए महात्माजी को एक स्वशासी संस्था अ. भा. चर्खा संघ गठित करने का अधिकार दिया गया। इस संस्था का अपना अलग कोष और दफ्तर होना था।

दूसरी तरफ स्वराज पार्टी को स्वतंत्र रूप से अपना काम चलाना था और अपना अलग दफ्तर रखना था।[1] इस प्रकार महात्माजी और स्वराज पार्टी में जो मित्रता पैदा हुई, वह जल्दी ही बढ़कर अच्छी मित्रता में बदल गयी और यह महात्माजी के उन संतुष्टिकारक वक्तव्यों का परिणाम था जो वह समय-समय पर देते रहे। उदाहरणार्थ, एक अवसर पर उन्होंने अपनी विशेष शैली में कहा, मेरी राजनीतिक अंतरात्मा स्वराजवादियों के पास रखी हुई है। एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा, मैं स्वराज पार्टी से ठीक वैसे ही चिपका रहूंगा, जैसे कि बच्चा मां से लिपटा रहता है।

अपनी समझदारी से स्वराज पार्टी के साथ शांति स्थापित करने के बाद महात्मा गांधी ने एक अन्य बड़ी समस्या की तरफ ध्यान दिया। सन् 1923 से ही देश के विभिन्न भागों में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष दिखाई पड़ने लगा था और महात्माजी इस बारे में यह सोचते थे कि यदि इसको शुरू में ही नहीं दबाया तो आगे चलकर यह एक राष्ट्रीय संकट का रूप ले सकता है। जब तक स्वराज पार्टी का अभियान, जिसको हिन्दू और मुसलमान दोनों का समर्थन है, पूरे जोर से चालू रहेगा, तब तक तो सांप्रदायिकता का तूफान नहीं उठेगा, लेकिन ज्योंही यह कम होगा, त्योंही यह मुसीबत उठ खड़ी होगी। अतः 1924 के सितंबर में उनकी पहल पर दिल्ली में एकता सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में भारी संख्या

---

1 इस समझौते की दिसंबर में कांग्रेस के बेलगांव अधिवेशन में पुष्टि कर दी गई। इस अधिवेशन की अध्यक्षता महात्माजी ने की।

में लोगों ने भाग लिया, यहां तक कि ईसाई धर्म और भारत में रहने वाले अंग्रेजों के प्रतिनिधियों ने भी इसमें हिस्सा लिया। सम्मेलन के समय महात्मा जी ने विभिन्न संप्रदायों के लोगों की उन गलतियों के प्रायश्चित स्वरूप तीन सप्ताह का अनशन किया, जिनके कारण भारत में सांप्रदायिक शांति को धक्का पहुंचा था। यह सम्मेलन सफल रहा। भारत के विभिन्न संप्रदायों में एकता स्थापित करने के लिए एक फार्मूला निकाला गया तथा जब और जहां कहीं भी सांप्रदायिक गड़बड़ी हो, वहां हस्तक्षेप करने के लिए पंद्रह सदस्यों का एक सलाहकार बोर्ड बनाया गया। सम्मेलन तो सफल रहा, पर इसके कोई व्यावहारिक परिणाम नहीं निकले। मार्च 1924 में मुस्तफा कमाल पाशा ने खलीफा व्यवस्था को पूरी तरह समाप्त करने का असाधारण कदम उठाया। उन मुसलमानों में, जो इस कारण कांग्रेस की तरफ खिंचे थे कि खिलाफत आंदोलन के लिए उसका समर्थन मिल सके, अब कांग्रेस के साथ रिश्ता रखने का कोई उत्साह नहीं रह गया था। देश के अधिकांश भागों में खिलाफत कमेटियां भी खत्म हो गईं और उनके अधिकतर सदस्य उन अनेक प्रतिक्रियावादी संगठनों में चले गए जो उन दिनों बरसाती घास-पात की तरह पैदा हो गए थे। करीब इसी समय अ. भा. मुस्लिम लीग में भी नई जान पड़ गई थी। सन् 1920 तक मुस्लिम लीग मुसलमानों का प्रमुख संगठन रहा। इसके बाद अ. भा. खिलाफत कमेटी ने प्रायः इसका स्थान ले लिया था और खिलाफत कमेटी में ही भारत के मुसलमानों के सक्रिय तत्व शामिल हो गए थे। तुर्कों ने जब खुद ही खलीफा की व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया तो भारत में खिलाफत कमेटियों की बुनियाद ही खत्म हो गई और इससे अ. भा. मुस्लिम लीग के पुनरुत्थान में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता मिली। जब दिसंबर 1924 में अ. भा. मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ तो 1920 के बाद पहली बार खिलाफतियों की इसमें हार हुई। अब नए रूप में जो अ. भा. मुस्लिम लीग उभर कर आई, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, वह 1920 से पहले की मुस्लिम लीग से अधिक संप्रदायवादी और प्रतिक्रियावादी थी।

लगभग 1924 के मध्य में फिर संकट की सी स्थिति बनने लगी। यह संकट 1921-22 के संकट से बिलकुल ही भिन्न था। सरकार पर चारों तरफ से चुनौतियां आ रही थीं। केवल बंगाल में ही नहीं, सारे देश में स्थानीय निकाय (नगर पालिकाएं और जिला बोर्ड आदि) स्वराजवादियों के नियंत्रण में आते जा रहे थे और इनसे ही परिषदों में सरकार की शान और प्रभाव कम होता जा रहा था। सभी विधान मंडलों में लगातार संघर्ष चल रहा था। बंगाल और मध्य प्रांत में तो द्वैध शासन ही ठप्प हो गया था। यद्यपि बंगाल में तारकेश्वर सत्याग्रह एक मंदिर के प्रबंध के सुधार के लिए शुरू हुआ था, लेकिन यह जल्दी ही एक राजनीतिक आंदोलन बन गया था और काफी फैल गया था। सरकार के ही अनुसार इसने भी नगर और वहीं पर क्रांतिकारी गतिविधियों को एक खास संरक्षण। सरकार क्रांतिकारी गोपीनाथ साहा की प्रशंसा में पास किए गए प्रस्तावों से भी क्रुद्ध थी,

भले ही ये प्रस्ताव सीमित और सशर्त ढंग के रहे हों। अगस्त में स्वराज पार्टी का प्रभाव बहुत बढ़ा हुआ था, कलकत्ता में इसका सम्मेलन हुआ। विभिन्न प्रांतों के नेता अधिवेशन में भाग लेने आए। इसमें उपस्थिति बहुत थी और उत्साह भी उतना ही अधिक था। बस सरकार के लिए प्रहार करने का यही सुअवसर था। पिछले बारह महीनों में भी वह हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठी थी और घटनाओं पर बराबर नजर रखे हुए थी। सितंबर 1923 में दिल्ली के कांग्रेस अधिवेशन के बाद बंगाल की स्वराज पार्टी के बहुत से कार्यकर्ताओं को एक बड़े पुराने कानून के तहत, जिसका नाम था '1818 का रेगुलेशन-3' बिना मुकदमा चलाए जेल में डाल दिया गया था। सरकार ने उस समय यह सफाई दी थी कि क्रांतिकारी आंदोलन फिर सिर उठा रहा है। इसलिए तुरंत ही दमन आवश्यक है। यद्यपि उस समय गिरफ्तारियों के कारण काफी रोष फैला। लेकिन इसके बाद कोई खास बात नहीं हुई और यह उत्तेजना धीरे-धीरे शांत हो गई। एक साल बाद सरकार ने फिर इसी तरीके को दुहराने का निश्चय किया। वरना स्वराज पार्टी को दबाने का उनके पास और साधन ही नहीं था। तारकेश्वर सत्याग्रह या इसी प्रकार के कुछ आंदोलनों को छोड़कर पार्टी की सारी कार्रवाइयां कानून के दायरे के भीतर चल रही थीं। इनसे यद्यपि सरकार को काफी परेशानी हो रही थी, लेकिन वह इनके आधार पर स्वराज पार्टी के खिलाफ कोई कानूनी कार्रवाई नहीं कर सकती थी। तारकेश्वर सत्याग्रह को दबाने की सारी कोशिशें केवल बेकार ही नहीं गई थीं, बल्कि उनसे लोगों में और अधिक उत्साह फैला था। अतः सरकार ने और कोई रास्ता न देखकर संगठन की जड़ पर ही प्रहार करने का निश्चय किया, क्योंकि न्यायालय में तो मुकदमा चलाकर ऐसा करना संभव नहीं हो सकता था, इसलिए उन्होंने स्वराज पार्टी के मुख्य-मुख्य संगठनकर्ताओं को ही जेल में डाल देने का निश्चय किया।

25 अक्तूबर, 1924 को तड़के ही सरकार ने कलकत्ता और बंगाल में विभिन्न स्थानों पर बहुत से कांग्रेसजनों को धर पकड़ा। ये गिरफ्तारियां कुछ अंश में तो 1818 के रेगुलेशन-3 के अधीन हुई थीं और कुछ अंश में एक आपात अध्यादेश (बंगाल आर्डिनेंस) के अधीन की गईं, जिसे वाइसराय ने अक्तूबर 24 की मध्यरात्रि को जारी किया था। इस अध्यादेश ने बंगाल की सरकार को वैसे ही अधिकार प्रदान कर दिए थे, जैसे भारत सरकार को 1818 के रेगुलेशन-3 के अधीन प्राप्त थे। यह अध्यादेश भारत सरकार से पूछे बिना बंगाल में लोगों को गिरफ्तार करने और बिना मुकदमा चलाए कैद में रखने के लिए बंगाल सरकार को अधिकार देने के लिए जारी किया गया था। जो लोग गिरफ्तार किए गए उनमें बंगाल विधान परिषद के दो सदस्य श्री अनिल बरन राय तथा एस. सी. मित्र[1] थे और एक मैं था। कुछ वारंट हम तीनों के बारे में तो रेगुलेशन के तहत जारी किए गए थे

1. श्री अनिल बरन राय राजनीति से अलग होकर पांडिचेरी के श्री अरविंद आश्रम में चले गए और श्री एस सी. मित्र उसके बाद विधान सभा के सदस्य बन गए तथा 1928 से 1934 तक प्रमुख विरोधी सदस्य रहे।

और अन्य लोगों के लिए इस नए अध्यादेश के अधीन जारी किए गए थे। रेगुलेशन के अधीन जो वारंट थे, उन पर पिछली जुलाई में ही हस्ताक्षर हो चुके थे। यानी उसके अगले दिन जिस दिन कि सरकार मंत्रियों को उनके पद बनाए रखने और दो अनर्गल विधान को अमल में लाने की अपनी कोशिश में हार गई थी। यह आज तक नहीं बताया गया कि इन वारंटों पर करीब तीन महीने तक कार्रवाई क्यों नहीं की गई थी। ख्याल यह है कि बंगाल की सरकार भारी संख्या में गिरफ्तारियों के लिए ऊपर से मंजूरी मिलने और बंगाल अध्यादेश के जारी होने का इंतजार करती रही थी। और, फिर यह कि सारे मामले को लेकर पार्टी के भारत मंत्री के सामने भी रखा जाना था और इस कारण देर लगना अनिवार्य था। इन गिरफ्तारियों के बारे में जनता में आम धारणा यह थी कि स्थानीय निकायों (विशेष रूप से कलकत्ता कार्पोरेशन में), विधान मंडलों में और तारकेश्वर में स्वराज पार्टी के दबाव से सरकार बहुत घबरा उठी थी। फिर सिर्फ बंगाल में ही उसने प्रहार क्यों किया, उसका कारण यह है कि इसी प्रांत में सरकार विरोधी शक्तियां सबसे प्रबल थीं।

25 अक्तूबर को अचानक और अप्रत्याशित रूप से इतनी भारी संख्या में गिरफ्तारियां होने से सारे देश में जबरदस्त सनसनी फैल गई। सरकारी क्षेत्रों ने यह सफाई दी कि एक क्रांतिकारी षड्यंत्र रचा जा रहा था और कोई गंभीर घटना घटे, उससे पहले ही गिरफ्तारियां जरूरी थीं।

लेकिन जनता को यह विश्वास दिलाना आसान नहीं था कि जिन लोगों को पकड़ा गया, वे किसी क्रांतिकारी षड्यंत्र में शामिल थे। इन गिरफ्तारियों के खिलाफ जनता में प्रचंड रोष उत्पन्न हुआ और मेरी गिरफ्तारी के कुछ ही महीने के बाद सरकार मुझे रिहा करने के बारे में गंभीरता से सोचने लगी। लेकिन अब पुलिस की प्रतिष्ठा का प्रश्न आड़े आया जिसके कहने पर गिरफ्तारियां की गई थीं। अतः इस प्रस्ताव को छोड़ दिया गया। उस समय मेरी गिरफ्तारी के खिलाफ सबसे ज्यादा आंदोलन था, क्योंकि जनता सोचती थी कि सरकार का उद्देश्य कलकत्ता कार्पोरेशन के स्वराज पार्टी के प्रशासन पर चोट करना है। प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता था कि जबसे मैं कलकत्ता कार्पोरेशन का चीफ एक्जीक्यूटिव अफसर नियुक्त हुआ था तबसे दिन-रात कार्पोरेशन के काम में ही जुटा रहता था और सक्रिय राजनीति से पूरी तरह अलग हो गया था। सरकारी और अर्धसरकारी हलके गिरफ्तारियों का कोई ठोस कारण ढूंढने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे थे जिस पर जनता कुछ विश्वास कर सके। कलकत्ता के एंग्लो-इंडियन समाचार पत्र 'द इंग्लिशमैन' (जब कैद) ने यह खबर छापी कि इस षड्यंत्र के पीछे मेरा दिमाग था। मेरे वकीलों ने इसके खिलाफ तुरंत ही मानहानि का दावा दायर कर दिया। महीनों तक अदालत में कार्रवाई चलती रही और इसी बीच कोशिश होती रही कि सरकार की मदद से मेरे विरुद्ध कुछ सबूत मिल सकें और अखबार पहले से मेरे विरुद्ध लगाए गए उन आरोपों

को पुष्टि हो सके जो सरकार की कार्रवाई के समर्थन में मुझ पर मढ़े गए थे। क्योंकि सरकार समाचार पत्रों की मदद करने को राजी नहीं हुई इसलिए मदद के लिए लंदन के इंडिया आफिस का दरवाजा खटखटाने की कोशिश की गई। लेकिन उस समय तक इंग्लैंड में दूसरा मंत्रिमंडल सत्ता में आ गया था। अक्तूबर में इंग्लैंड में आम चुनाव हुए और जिनोवियेफ के पत्र के कारण जो डर फैला उसने कंजरवेटिव पार्टी को भारी बहुमत से जिता दिया। लेबर पार्टी के हार जाने पर उसके भारत मंत्री लार्ड आलिवियर को अपना पद छोड़ना पड़ा और उनका स्थान लिया कंजरवेटिव पार्टी के लार्ड बर्केनहैड ने। एंग्लो-इंडियन समाचार पत्रों के खिलाफ मानहानि के मेरे मुकदमे में यद्यपि इंडिया आफिस उनकी मदद करना चाहता था पर उसे ऐसा कोई दस्तावेजी सबूत मिला ही नहीं जिससे क्रांतिकारी षड्यंत्र में मेरा हाथ सिद्ध हो सकता। कलकत्ता के स्वराजवादी पत्र 'फारवर्ड' को एक ऐसा पत्र हाथ लग गया और उसने इसे छाप भी दिया जो इसी बारे में लंदन से कलकत्ता को लिखा गया था। इसमें इंडिया आफिस के एक एजेंट ने लिखा था कि मुझे कुछ लोगों के जबानी सबूत पर गिरफ्तार किया गया था, लेकिन मेरे खिलाफ कोई दस्तावेजी सबूत नहीं था। इस पत्र के प्रकाशित होने से सरकार को और परेशानी उठानी पड़ी।

भारत में इन गिरफ्तारियों से जितने उद्विग्न देशबंधु चितरंजन दास हुए उतना कोई दूसरा नहीं हुआ। उन्होंने कलकत्ता नगर निगम की कुर्सी से ही एक शानदार भाषण दिया और उसमें अपनी गहरी नाराजगी को खुल कर प्रकट किया। उनके भाषण ने जनता को झकझोर दिया। उन्होंने चीफ एक्जीक्यूटिव अफसर के हर काम की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली और सरकार को चुनौती दी कि वह उन्हें भी गिरफ्तार करे। सरकार ने इस चुनौती को तो स्वीकार नहीं किया लेकिन दूसरी तरह से इसका जवाब दिया। इसने उनके साथ भारत के सारे मसले को तय करने के लिए बातचीत का सूत्रपात किया। उस समय महात्मा गांधी की राजनीतिक दृष्टि से पूछ नहीं थी। उन्होंने अपने आप को खादी के काम से जोड़ लिया था और राजनीतिक आंदोलन से हट गए थे। राजनीतिक आंदोलन उस समय स्वराज पार्टी के हाथ में था। दिसंबर 1921 में जो वार्ता हुई थी उससे सरकार के मन पर यह प्रभाव पड़ा था कि यदि बड़े-बड़े मसलों को सच्चाई और ईमानदारी से सुलझाने की कोशिश की जाए तो देशबंधु के साथ कोई समझौता हो सकता है। लार्ड लिटन देशबंधु की बड़ी इज्जत करते थे। फिर उस समय जन आंदोलन का जितना दबाव बंगाल के गवर्नर को सहना पड़ रहा था उतना और किसी प्रांत के गवर्नर को नहीं। उन दिनों कांग्रेस से समझौता करने का मतलब था देशबंधु से समझौता करना। इसलिए दुनिया को पता भी नहीं लगा और कई महीनों तक देशबंधु और बंगाल के गवर्नर लार्ड लिटन में बातचीत चलती रही।

अपनी पैनी राजनीतिक सूझबूझ के कारण देशबंधु ने समझ लिया कि अक्तूबर 1924

की गिरफ्तारियों से जो जन भावना उमड़ी है उससे लाभ उठाने का अवसर है और फौरन ही उन्होंने राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए एक कोष स्थापित करने की अपील की। उस समय देश की आर्थिक दशा अनुकूल नहीं थी। बहुतों ने सोचा कि अपील का असर निराशाजनक रहेगा। लेकिन नेता औरों से अधिक समझदार निकला। प्रतिकूल भविष्यवाणियों के बावजूद उनकी अपील का अच्छा परिणाम निकला। यह उनमें जनता के विश्वास का एक और प्रमाण था। वर्ष के अंत में कांग्रेस का अधिवेशन बंबई प्रेसिडेंसी में बेलगांव में हुआ था। इसके अध्यक्ष महात्मा गांधी थे और यह कांग्रेस का अंतिम अधिवेशन था जिसमें देशबंधु ने भाग लिया। अधिवेशन की सारी कार्रवाई में महात्माजी और स्वराज पार्टी के बीच बहुत ही सौहार्द देखने में आया। अगले साल के लिए कार्यक्रम तय किया गया था हाथ की कताई और हाथ की बुनाई का पहले से अधिक विस्तार और हर कांग्रेसजन के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वह अपने हाथ का कता कुछ सूत कांग्रेस की सदस्यता के रूप में दें। बेलगांव कांग्रेस की एक और महत्वपूर्ण बात थी श्रीमती एनी बेसेंट का अपने कामनवेल्थ आफ इंडिया बिल की कांग्रेस से पुष्टि कराने का प्रयत्न। इस बिल का मसौदा उन्होंने ही तैयार किया था और इसका उद्देश्य भारत को 'होम रूल' देना था। उनका इरादा इसे ब्रिटिश पार्लियामेंट में निजी बिल के रूप में पेश करवाने का था। उनका ख्याल था कि यदि कांग्रेस उनके इस प्रिय विधान पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दे तो उनके हाथ और मजबूत हो जाएंगे। लेकिन कोई भी कांग्रेसी नेता उनके जाल में फंसने को तैयार नहीं हुआ और वह बहुत निराश होकर बेलगांव कांग्रेस से चली गईं।

1925 के वर्ष के आगमन पर भी देश की राजनीतिक-स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। देशबंधु सत्ता में बने रहे। 1925 के शुरू के दिनों में स्वराज पार्टी वालों और बंगाल की सरकार में एक बार फिर शक्ति परीक्षण हुआ। गवर्नर जनरल ने अक्तूबर 1924 में जो अध्यादेश लागू किया था और जिसके अधीन बंगाल के गवर्नर को गिरफ्तारी एवं बिना मुकदमा चलाए कैद रखने के अधिकार मिले थे, वह अप्रैल 1925 में समाप्त होने वाला था। इसके बाद यदि बंगाल सरकार को इनकी जरूरत थी तो उसे बंगाल की लेजिस्लेटिव कौंसिल में इस संबंध में बिल लाना चाहिए था। अतः सरकार ने इस प्रकार का एक बिल विधिवत पेश भी कर दिया और उसे कानून के रूप में पास करवाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। क्योंकि स्वराज पार्टी कौंसिल में अल्पमत में थी इसलिए सरकार को आशा थी कि वह इसे पास करवा लेगी। देशबंधु उस समय पटना में विश्राम कर रहे थे। वह स्नायु दुर्बलता से बुरी तरह पीड़ित थे। किन्तु दुर्बल और अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने सरकार को बुरी तरह पराजित करने का संकल्प किया। नियत दिन वह कौंसिल हाल में जा पहुंचे और वास्तव में उन्हें उस दिन रोगियों को ले जाने वाली कुर्सी पर बैठा कर ही ले जाया गया। उस दिन मैदान उन्हीं के हाथ रहा तथा बिल सदन में पास

नहीं हो सका। यह दूसरी बात है कि विधान के अंतर्गत प्राप्त अपनी असाधारण शक्तियों के बल पर गवर्नर ने उसे प्रमाणित कर कानून का रूप दे दिया।

इस घटना के थोडे ही दिन बाद बंगाल के कांग्रेसजनों का वार्षिक सम्मेलन फरीदपुर में आयोजित हुआ और देश के नाजुक हालात को देखते हुए देशबंधु को इसका अध्यक्ष चुना गया। डाक्टरों के बहुत मना करने पर भी वह माने नहीं और सम्मेलन में जाने और उसकी कार्रवाई की अध्यक्षता करने के संकल्प पर दृढ रहे। लोग इस बात को नहीं समझ पाए कि आखिर वह सम्मेलन में भाग लेने की जिद पर क्यों अड़े हैं। वह जो कुछ भी कहते, चाहे वह प्रेस वक्तव्य ही होता, उसका भी उतना ही प्रभाव होना था। उनके सम्मेलन में भाग लेने की असल वजह यह थी कि वह सरकार की जानकारी के लिए अपनी मांगों का सार्वजनिक रूप से संकेत देना चाहते थे। इससे भी बढ़कर यह कि वह सरकार को दिखा देना चाहते थे कि अधिकाश कांग्रेसजन उनका कहा मानते हैं ताकि सरकार को लगे कि यदि कोई समझौता होता है तो देशबंधु इसके लिए सही और उपयुक्त व्यक्ति हैं। उस समय सरकार बंगाल प्रांतीय सम्मेलन को बहुत महत्व दे रही थी क्योंकि बंगाल उस समय संघर्ष का केंद्र था और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बहुत से उग्र तत्व बंगाल के ही थे। इस कारण जो प्रस्ताव बंगाल में मान्य होता वह प्रायः अन्यत्र भी कांग्रेसजनों को मान्य होता। इस अवसर पर देशबंधु का भाषण बंगाल के श्रोताओं की दृष्टि से लचर समझा गया। कांग्रेस का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य हो या पूर्ण स्वाधीनता, इस प्रश्न पर उन्होंने अपने विचार प्रकट किए और कहा कि मैं औपनिवेशिक स्वराज्य के पक्ष में हूं। साथ ही उन्होंने आतंकवाद की भर्त्सना की। उनका भाषण एक प्रकार से सरकार और भारत के अधिक उग्र लोगों से अपील थी कि वे समझौते का रुख अपनाएं ताकि सरकार से बातचीत के लिए आधार तैयार हो सके। श्रोताओं में जो युवक वर्ग था, उसे देशबंधु का भाषण पसंद नहीं आया और ऐसी संभावना थी कि जब मतदान होगा तो वह हार जाएंगे। पर ऐसा नहीं हुआ। उनका व्यक्तिगत प्रभाव इतना अधिक था और उनकी सदाशयता इतनी उज्ज्वल थी कि बाजी उन्हीं के हाथ रही। सरकार के लिए जिसके साथ देशबंधु की बातचीत चल रही थी सम्मेलन की कार्रवाई प्रायः संतोषजनक रही।

इसके कुछ दिन बाद लार्ड रीडिंग लंदन गए क्योंकि कंजरवेटिव पार्टी के नए भारत मंत्री लार्ड बर्केनहैड उनसे परामर्श करना चाहते थे। उस समय तक यह बात फैल गई थी कि सरकार और देशबंधु दास में कुछ बातचीत हो रही है, यद्यपि इससे अधिक जानकारी किसी को नहीं थी। इस बात की घोषणा की गई कि लार्ड रीडिंग से विचार-विमर्श करने के बाद लार्ड बर्केनहैड भारत के बारे में कोई महत्वपूर्ण घोषणा करेंगे। भारत का हर व्यक्ति बडी दिलचस्पी और उत्सुकता के साथ इसकी प्रतीक्षा करने लगा।

बस इसी समय वज्राघात हुआ। जून 1925 में देशबंधु बंगाल की ग्रीष्मकालीन राजधानी दार्जिलिंग में विश्राम कर रहे थे। तभी वह बहुत गंभीर रूप से बीमार पड़ गए।

थोड़ी ही बीमारी के बाद अचानक उनका देहांत हो गया। सारा देश शोक में डूब गया। उस समय वह अपने यश के उच्चतम शिखर पर पहुंच चुके थे और अपने देश के लिए बहुत कुछ प्राप्त करने वाले थे। इधर देश में शोक सभाएं हो रही थीं और जुलूस आदि निकल रहे थे, दूसरी ओर लंदन में ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने भी तय कर लिया कि उसे आगे क्या करना है। उनका सबसे बड़ा शत्रु मर चुका था और कुछ दिन के लिए वातावरण शांत हो जाएगा इसलिए अब उन्हें भी जल्दी में कोई फैसला करने की जरूरत नहीं थी। उन्होंने सोचा कि आगे क्या होता है इसे देखा जाए। पर क्योंकि ऐसा ऐलान हो चुका था कि 7 जुलाई, 1925 को लार्ड बर्केनहैड भारत के बारे में कोई महत्वपूर्ण घोषणा करने वाले हैं, इसलिए मंत्रिमंडल की ओर से, बड़े ध्यान से जो घोषणा तैयार की थी उसे पूरी तरह दबा दिया गया और पूर्व निश्चित दिन लार्ड बर्केनहैड ने इसकी जगह एक बड़ा ही नीरस भाषण दिया। अन्य खुश करने वाली बातों के साथ-साथ उन्होंने लार्ड रीडिंग के उसी नुस्खे का अनुमोदन किया जो भारत की हर बीमारी के लिए उन्होंने (लार्ड रीडिंग ने) सुझाया था, अर्थात भारत में उद्योगों का विकास करना और वित्त व्यवस्था को सुदृढ़ करना।

16 जून, 1925 को देशबंधु चित्तरंजन दास का देहावसान भारत के लिए सबसे बड़ी क्षति थी। उनका सक्रिय राजनीतिक जीवन यद्यपि केवल पांच वर्षों का ही रहा पर उनका उत्कर्ष असाधारण और अद्वितीय था। वह एक वैष्णव भक्त की भांति राजनीति की गहरी धारा में कूद पड़े थे। मात्र दिल-दिमाग ही नहीं बल्कि अपना सर्वस्व स्वराज्य की लड़ाई में उन्होंने झोंक दिया था। मृत्यु के समय जो कुछ भौतिक धन-संपदा उनके पास बची थी उसे भी वह राष्ट्र के लिये छोड़ गए। सरकार एक ओर उनसे डरती थी तो दूसरी और उनकी प्रशंसा भी करती थी। वह उनकी शक्ति से डरती थी और उनके चरित्र की प्रशंसा करती थी। वह जानती थी कि वह अपने वचन के कितने पक्के हैं। उसे यह भी मालूम था कि वह कितने दुर्लभ योद्धा हैं। सरकार यह भी समझती थी कि यदि कोई समझौता हो सकता है तो उसके लिए वही एक उपयुक्त व्यक्ति हैं। उनके विचार बड़े सुलझे हुए थे। उनकी राजनीतिक सूझ बड़ी परिपक्व और अचूक थी और उन्हें पूरी तरह मालूम था कि देश की राजनीति में उन्हें क्या भूमिका निभानी है। यह बात महात्मा गांधी में नहीं थी। अन्य लोगों की अपेक्षा वह इस बात को भलीभांति समझते थे कि शत्रु के हाथ से राजनीतिक शक्ति छीनने के लिए अनुकूल परिस्थितियां बार-बार नहीं आया करतीं और जब आया करती हैं तो बहुत देर ठहरा नहीं करतीं। जब संकट घिर रहा हो तभी सौदा कर लेना चाहिए। वह जानते थे कि जब जनोत्साह पूरे वेग पर हो तो समझौता करना बड़े साहस का काम है और कुछ हद तक मनुष्य लोकप्रियता भी खो देता है। लेकिन वह निर्भयता की मूर्ति थे। क्योंकि उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि उन्हें कब क्या करना है अर्थात वह व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे और इस कारण लोकप्रियता खोने की कभी परवाह नहीं करते थे।

देशबंधु के विपरीत महात्मा गांधी की भूमिका स्पष्ट नहीं रही है। बहुत बातों में वह आदर्शवादी और स्वप्न-द्रष्टा हैं। कुछ दूसरी बातों में वह ठेठ राजनीतिज्ञ हैं। कभी तो वह बेहद हठी हो जाते हैं तो कभी बच्चे की तरह सब कुछ छोड़ बैठने को तैयार हो जाते हैं। राजनीतिक सौदेबाजी के लिए जो अत्यंत आवश्यक मनोवृत्ति और विवेक चाहिए वह उनमें नहीं है। जब सौदेबाजी का सही क्षण होता है जैसा कि 1921 में आया, वह छोटी-मोटी बातों पर अड़ जाते हैं, जिससे समझौते की संभावनाएं खत्म हो जाती हैं। जब कभी वह सौदा करते भी हैं जैसा कि हम 1931 में देखेंगे तो वह जितना दूसरे से लेते हैं उससे अधिक बदले में दे बैठते हैं। कुल मिलाकर, नीति कुशल ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से उनकी कोई तुलना नहीं हो सकती।

देशबंधु दास की मृत्यु के बाद महात्माजी कई महीने बंगाल में रहे और उस दिवंगत महापुरुष की स्मृति के लिए कोश संग्रह तथा नेताविहीन कांग्रेस के पुनर्गठन के काम में लगे रहे। फिर भी उनकी सार्वजनिक गतिविधियां कुल मिलाकर गैर-राजनीतिक ही रहीं और देशबंधु का राजनीतिक गुरुभार असेम्बली में स्वराज पार्टी के नेता पं. मोतीलाल नेहरू पर आया। जब लार्ड रीडिंग लंदन में थे और बंगाल के गवर्नर लार्ड लिटन स्थानापन्न गवर्नर जनरल थे, पंडित मोतीलाल नेहरू ने उस वार्ता के सूत्रों को फिर से पकड़ने की कोशिश की जो देशबंधु ने सरकार के साथ चला रखी थी। लेकिन लंदन की सरकार ने फिलहाल बातचीत बंद कर 'देखें आगे क्या होता है', की नीति अपनाने का निश्चय कर लिया था। इस कारण पं. मोतीलाल नेहरू के प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकला।

जून 1925 भारत के इतिहास में एक मोड़ साबित हुआ। राजनीतिक रंगमंच पर देशबंधु चित्तरंजन दास का न रहना भारत के लिए असीम दुर्भाग्य की बात थी। स्वराज पार्टी को जिसके लिए उन्होंने इतना कुछ किया, उनकी मृत्यु के बाद मानों लकवा मार गया और धीरे-धीरे उसमें दरारें पड़ने लगी। उनकी मृत्यु के समय पार्टी एक ऐसी उत्तम संस्था थी जिस पर कोई भी गर्व कर सकता था। उनकी मृत्यु के बाद ब्रिटिश व्यापारी वर्ग की प्रतिनिधि पत्रिका 'कैपिटल' ने एक लेख में स्वराज पार्टी की तुलना आयरलैंड की 'सिन फीएन पार्टी' से की और लिखा कि हमने अपने जीवन के चालीस वर्षों में इससे अच्छी कोई चीज नहीं देखी। इस पत्रिका के अनुसार, इस पार्टी का अनुशासन जर्मन लोगों की विशेषता लिए था। स्वराज पार्टी के कमजोर पड़ने से भारत और इंग्लैंड में प्रतिक्रियावादी शक्तियों का बल बढ़ गया। भारत में तो मानो सांप्रदायिक संघर्ष की बाढ़ ही आ गई जो कि तब तक राष्ट्रवाद की श्रेष्ठ शक्तियों के कारण दबी हुई थी। आज जब हम 1925 के वर्ष पर मुड़कर नजर डालते हैं तो हम यह सोचे बिना नहीं रह सकते कि यदि विधाता ने देशबंधु को कुछ और वर्ष जीने दिया होता तो संभवत: देश के इतिहास ने कुछ और ही मोड़ लिया होता। राष्ट्रों के जीवन में ऐसा बहुत बार हुआ है कि किसी एक व्यक्ति के आने या चले जाने से इतिहास का एक नया ही अध्याय लिखा गया है। रूस के लेनिन, इटली के मुसोलिनी और जर्मनी के हिटलर ने विश्व के हाल के इतिहास में इसी प्रभाव को सिद्ध किया है।

अध्याय 6

ज्वार का उतार (1925–27)

महात्मा गाधी का 1921 और 1922 मे जितना प्रभाव था उसको देखते हुए स्वराज पार्टी का उदय एक अत्यत असाधारण घटना लगती है। यद्यपि पार्टी के नेता और कार्यकर्ता सभी महात्मा गाधी के व्यक्तित्व का अत्यधिक सम्मान करते थे फिर भी पार्टी स्पष्टत गाधी-विरोधी पार्टी थी और इसमें इतनी शक्ति थी कि इसने महात्माजी को राजनीति से स्वेच्छा से अलग होने को मजबूर कर दिया। उनका यह सन्यास प्राय दिसबर 1928 में कलकत्ता काग्रेस के समय तक चला। फिर स्वराज पार्टी की सफलता का रहस्य क्या था? इस बात को समझने के लिये गाधीवाद के व्यावहारिक स्वरूप को समझना और इस बात को समझना आवश्यक होगा कि 1920–22 की अवधि में जन-मानस पर महात्माजी के व्यक्तित्व की क्या प्रतिक्रिया रही थी।

यद्यपि हिन्दुओं में यूरोप की तरह चर्च जैसी कोई सस्था नहीं रही फिर भी आम लोगों की अवतारों, धार्मिक पुरुषों और गुरुओं में बडी आस्था रही है। आध्यात्मिक पुरुषों का भारत में सदा ही सबसे अधिक प्रभाव रहा है। इन्हे चाहे सत, महात्मा या साधु किसी भी नाम से पुकारिए, विभिन्न कारणो से गाधीजी निर्विवाद राजनीतिक नेता बनने से जनसाधारण की दृष्टि में महात्मा बन गये थे। दिसबर 1920 मे नागपुर काग्रेस में श्री एम.ए. जिन्ना ने, जो उस समय तक राष्ट्रवादी नेता थे, जब गाधीजी को मिस्टर गाधी कह कर सबोधित किया तो हजारों लोगो ने उन्हें टोका कि उन्हे मिस्टर नहीं महात्मा गाधी कहा जाए। उनका त्याग, उनका सादा जीवन, उनका निरामिष भोजन, सत्य के प्रति उनकी निष्ठा और इससे उत्पन्न उनका निर्मल स्वभाव, इन सब चीजों ने मिल कर उन्हें अपूर्व कीर्ति से मडित कर दिया है। उनकी लगोटी ईसा की याद दिलाती है और भाषण देने के लिए वह जिस मुद्रा में बैठते हैं वह बुद्ध जैसी होती है। ये सब चीजें ऐसी हैं जिनसे देशवासी बरबस उनकी ओर आकृष्ट होते हैं और उनके आदेश पालन को तैयार रहते हैं। जैसाकि हम देख चुके हैं बुद्धिजीवियों का एक बहुत बडा वर्ग उनके विरुद्ध रहा लेकिन जनता से उन्हे जो समर्थन मिला उसमें यह विरोध धीरे-धीरे खत्म होता चला गया। जाने-अनजाने महात्माजी ने इस जनभावना का खूब फायदा उठाया जैसाकि रूस में लेनिन ने, इटली में मुसोलिनी ने और जर्मनी में हिटलर ने किया। ऐसा करने में वह एक ऐसे शस्त्र का इस्तेमाल कर रहे थे, जो निश्चय ही पलट कर उन पर भी चोट करने वाला था। वह भारतवासियों के चरित्र की बहुत सी कमजोरियों का लाभ उठा रहे थे,

जो बहुत हद तक भारत के पतन का कारण रही थीं। आखिर वे क्या कारण थे जिनके कारण भौतिक और राजनीतिक जगत में उसका पतन हुआ? वह थे उसका भाग्य और भगवान में अत्यधिक विश्वास, आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के प्रति उसकी उदासीनता, आधुनिक युद्धकला और विज्ञान में उसका पिछडापन, बाद के जीवन दर्शन से उत्पन्न संतोष की भावना और एक निहायत बेहूदा हद तक अहिंसा का पालन। जब 1920 में कांग्रेस ने असहयोग के राजनीतिक सिद्धांत का उपदेश देना शुरू किया तो बहुत से कांग्रेसजनों ने, जिन्होंने महात्मा को एक राजनीतिक नेता ही नहीं धर्म गुरु की तरह मान लिया था, इस नए मसीहा के विचारों का प्रचार शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि बहुत से लोगों ने मांस-मछली खाना छोड़ दिया, महात्माजी की तरह कपड़े पहनने शुरू कर दिए, प्रातः और सांय की उनकी प्रार्थना आदि की तरह उनकी दिनचर्या की भी नकल करने लगे, इसके साथ ही राजनीतिक स्वराज की बजाय आध्यात्मिक मुक्ति की बातें अधिक करने लगे। देश के कुछ भागों में तो महात्माजी को लोग अवतार ही मानने लगे। उस समय देश पर एक ऐसा पागलपन सवार था कि अप्रैल 1923 में बंगाल जैसे राजनीतिक रूप से प्रबुद्ध प्रांत में जब जैसौर के प्रांतीय सम्मेलन में यह प्रस्ताव आया कि कांग्रेस का लक्ष्य आध्यात्मिक स्वराज्य न होकर राजनीतिक स्वराज्य है तो गरमा-गरम बहस के बाद भी यह पास नहीं हो सका। 1922 में जब मैं जेल में था तो मैंने देखा कि वहां के वे भारतीय वार्डन, जो जेल विभाग की नौकरी में थे, इस बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं थे कि ब्रिटिश सरकार ने महात्माजी को जेल मे डाल दिया है। वे कहते थे कि गांधीजी महात्मा हैं। अतः जब भी चाहें चिड़िया बन कर जेल से बाहर जा सकते हैं। बुरी बात तो यह थी कि राजनीतिक मसलों को व्यर्थ में ही नैतिक मसलों के साथ गड्डमड्ड कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए महात्मा और उनके अनुगामी इस कारण ब्रिटिश माल का बायकाट नहीं देख सकते थे कि इससे अंग्रेजों के प्रति घृणा पैदा होगी। यहां तक कि सरोजिनी नायडू जैसी बौद्धिक और विख्यात कवयित्री ने दिसंबर 1922 में गया कांग्रेस में अपने भाषण में स्वराज पार्टी की नीति का इस आधार पर विरोध किया कि कौंसिलें 'माया' का ठौर हैं, जहां कांग्रेसजन नौकरशाही के मायाजाल में फंस जाएंगे। सबसे बुरी बात तो यह थी कि महात्माजी के अंधभक्त, जो भी वह कहते उसे आप्त वाक्य समझते, जिसमें तर्क का कोई स्थान नहीं होता। उनके पत्र 'यंग इंडिया' को वे अपना बाइबल मान बैठे थे।

रहस्यवाद और ईश्वरवाद में इतने लिप्त लोगों के लिए राजनीतिक मुक्ति की आशा का संबल केवल समुचित तर्कसंगति और भौतिक जीवन के हर पहलू का आधुनिकीकरण ही हो सकता है। इस कारण गंभीर राष्ट्रवादियों को यह देख कर बडा दुख होता था कि महात्माजी के सुचिंत्य प्रभाव से भारतीय चरित्र की उपर्युक्त कमजोरियां फिर से उभर रही हैं। इस प्रकार महात्मा और उनके दर्शन के विरुद्ध एक बौद्धिक विद्रोह उठ खड़ा

हुआ। क्योंकि इस विद्रोह का अगुआ थी स्वराज पार्टी, इस कारण दक्षिण और वाम, दोनों पक्षों के वे लोग जो महात्माजी की अतार्किकता से तंग आ गये थे, इसकी ओर खिंच आये थे और देशबंधु अपनी सामाजिक स्थिति और वकालत के पेशे के कारण दक्षिणपक्ष के उन लोगों के विश्वास भाजन बन सके जो वैधानिक कार्रवाई को सविनय अवज्ञा से श्रेष्ठ समझते थे। वामपक्ष में कांग्रेसजनों की वह युवा पीढ़ी थी जो महात्माजी की विचारधारा और कार्यपद्धति को आधुनिक संसार के लिये पर्याप्त पुरोगामी नहीं मानती थी और देशबंधु को भारतीय राजनीति में अधिक अग्रगामी (या क्रांतिकारी) मानकर उनकी तरफ देखती थी। यह देशबंधु चित्तरंजन दास का ही अद्भुत व्यक्तित्व था कि वह ऐसे असमान तत्वों को अपनी पार्टी में मिलाकर अपरिवर्तनवादी दकियानूस लोगों के हाथ से कांग्रेस की मशीनरी को छीन सके और नौकरशाही के विरुद्ध बहुत से मोर्चों पर लड़ाई लड़ सके। लेकिन उनके न रहने पर कोई इतना योग्य व्यक्ति नहीं बचा था, जो उनके बहुमुखी क्रियाकलापों को जारी रख सकता और स्वराज पार्टी में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्व आ गये थे, उन्हें बांधे रखता। परिणाम यह हुआ कि जितनी देर महात्माजी स्वेच्छा से राजनीति से दूर रहे उतनी ही देर स्वराज पार्टी के हाथ में सत्ता रही। 1929 में जब वह फिर से मैदान में उतरे तो उस समय के स्वराज पार्टी के नेता पं. मोतीलाल नेहरू ने लड़ाई का दिखावा तक किए बिना ही आत्म समर्पण कर दिया।

देशबंधु चित्तरंजन दास की मृत्यु को देश की राजनीति में चौमुखी निष्क्रियता के दौर का आरंभ कहा जा सकता है। यदि महात्मा गांधी ठीक इस समय राजनीति से अपने अलगाव को छोड़ देते तो शायद स्थिति कुछ और ही मोड़ ले लेती लेकिन भारत के दुर्भाग्य से उन्होंने ऐसा नहीं किया। देशबंधु का व्यक्तित्व स्वराज पार्टी के भीतर एक जोड़नेवाली ताकत का सा था और हिन्दू-मुस्लिम संबंधों के बारे में भी यही बात थी। फिर इससे पार्टी के रवैये को भी एक विषम बिंदु तक ऊंचा उठाने में मदद मिली। उनके विदा होते ही पार्टी में फूट के लक्षण दिखाई देने लगे। सबसे बड़ा विद्रोह किया महाराष्ट्र के स्वराजवादियों ने जिनके नेता थे बंबई के श्री एम.आर. जयकर और पूना के श्री एन.सी. केलकर। महाराष्ट्र के स्वराजवादियों ने स्वराज पार्टी की, समान रूप से, निरंतर और संगत विरोध की नीति को कभी भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया था। फिर भी वे देशबंधु और उनकी नीति का पूरी वफादारी के साथ पालन करते रहे। लोकमान्य तिलक ने दिसंबर 1919 में अमृतसर कांग्रेस में 'जितना दूसरा आगे बढ़े उतना खुद आगे बढ़ो' का जो सिद्धांत रखा था, वे उसी में विश्वास करते थे। इस सिद्धांत का फलितार्थ यह था कि जहां तक देश को लाभ पहुंचाने के विषय हैं, उनमें सरकार से सहयोग करना, लेकिन ऐसे कामों में असहयोग या विरोध करना जिनसे सार्वजनिक हित को हानि पहुंचती हो। महाराष्ट्र के स्वराजवादी लोकमान्य की मृत्यु के बाद देशबंधु को अपना नेता मानते थे। उनके निजी विचार कुछ भी रहे हों, देशबंधु की नीति को उनका पूरा समर्थन और वफादारी मिलती

रही। जब पं. मोतीलाल नेहरू ने स्वराज पार्टी का नेतृत्व संभाला तो उनमें और उनके मराठी अनुयायियों में मतभेद पैदा हो गए। यह खाई धीरे-धीरे बढ़ती गई और दुर्भाग्य से एक क्षण ऐसा आया जब पं मोतीलाल नेहरू अपना धैर्य खो बैठे और अपने गुस्सैल स्वभाव के अनुसार आवेश में आ कर उन्होंने कह दिया कि स्वराज पार्टी के रुग्ण अंग (मराठी गुट) को काट कर फेंक देना चाहिए। उनके इस वक्तव्य से महाराष्ट्र के लोग इतने नाराज हुए कि उन्होंने पं. मोतीलाल नेहरू और उनकी स्वराज पार्टी से हर तरह के संबंध तोड़ लेने और अपनी एक नई पार्टी 'रेस्पोन्सिविस्ट पार्टी' बनाने का निश्चय कर लिया। स्वराज्य पार्टी में बाद में अन्य मतभेद भी प्रकट होने लगे। इन घटनाओं से यह साबित होता है कि यद्यपि पं. मोतीलाल नेहरू बौद्धिक योग्यता और व्यक्तित्व की दृष्टि से दूसरों से आगे थे और आदर एवं प्रशंसा के भी पात्र थे, किन्तु उनमें उस भावनात्मक उदारता की कमी थी जो किसी पार्टी को अच्छे और बुरे समय में बांधे रख सकती है।

जहां तक हिन्दू-मुस्लिम संबंधों का सवाल था, देशबंधु एकता के सशक्त सूत्र थे। उनके बंगाल पैक्ट ने, जिसे दिसंबर 1923 में कोकोनाडा कांग्रेस ने ठुकरा दिया था पर बाद में जिसे मई 1929 में प्रांतीय सम्मेलन ने स्वीकार कर लिया था, मुसलमानों को भी आश्वस्त कर दिया था कि वह उनके सच्चे मित्र थे। ऐसे व्यक्ति के पार्टी का नेता होने के कारण बहुत से मुसलमान स्वराज पार्टी में शामिल हो गये थे और वास्तव में बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल में पार्टी के बहुत से सदस्य मुसलमान थे जो पृथक निर्वाचन के आधार पर चुनकर आये थे। देशबंधु की मृत्यु के बाद मुसलमानों का स्वराज पार्टी में उतना विश्वास नहीं रहा। फिर एक और बात यह थी कि स्वराज पार्टी ने देश में जो राजनीतिक तनाव पैदा कर दिया था, उसने साम्प्रदायिकता के उठते हुए ज्वार को थामे रखा था और उनकी मृत्यु होते ही देश हिन्दू मुस्लिम झगड़ों में डूब गया और दो वर्षों तक उबर नहीं पाया। देशबंधु की मृत्यु के बाद एक और चीज यह हुई कि स्वराज पार्टी का कठोर रवैया ढीला पड़ गया। जब स्वराज पार्टी बनी तो उसमें दक्षिण और वाम दोनो पक्षों के तत्व शामिल हो गये थे। देशबंधु के जीवन काल में वामपक्ष का पलड़ा भारी रहा क्योंकि यह स्वयं वामपक्ष के थे लेकिन उनके जाते ही दक्षिणपक्ष ने फिर सिर उठाया। सांप्रदायिक झगड़ों की आफत ने उन लोगों को भी आगे लाकर खड़ा कर दिया जो राजनीति में आने से डरते थे और कष्ट उठाने और त्याग करने से घबराते थे। बंगाल में कुछ समय तक वामपक्ष घाटे में रहा क्योंकि 1818 के 'रेगुलेशन-3' या बंगाल आर्डिनेन्स के अधीन इस गुट से संबंध रखने वाले बहुत से लोग जेलों में थे।

1925 के मध्य से स्वराज पार्टी की दुर्धर्ष विरोध की नीति में धीरे-धीरे ढिलाई आने लगी। जून में पं. मोतीलाल नेहरू ने सरकार द्वारा नियुक्त स्क्रीनिंग कमेटी की सदस्यता स्वीकार कर ली। यह कमेटी सेना के भारतीयकरण के बारे में नियुक्त की गई

थी। इसके थोड़े ही समय बाद मध्य प्रांत की स्वराज पार्टी के एक प्रमुख नेता श्री एस.बी. ताम्बे ने गवर्नर की एक्जीक्यूटिव कौंसिल (कार्यकारी परिषद) की सदस्यता को स्वीकार कर लिया और इसे महाराष्ट्र के श्री एन.सी. केलकर और अन्य प्रमुख नेताओं ने अपनी मंजूरी दी। करीब इसी समय इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली को अपना अध्यक्ष चुनने का अधिकार दिया गया और स्वराज पार्टी के सबसे प्रभावी अर्डगेबाजों में से एक श्री विट्ठलभाई पटेल उसकी उम्मीदवारी के लिए खड़े हुए और इस पद के लिए चुन भी लिए गए। यद्यपि इस पद को स्वीकार करने का मतलब था कुछ सीमा तक सरकार के साथ सहयोग, पर श्री पटेल ने अपने कर्तव्यों का खूबी और सफलता से निर्वाह किया। यद्यपि वह संविधान की सीमाओं के भीतर ही और बड़े ही औचित्य के साथ काम करते थे, फिर भी सरकारी पक्ष उनके बेलाग और निष्पक्ष निर्णयों से भयभीत रहने लगा था। स्वराज पार्टी को इन दिनों जो लोकप्रियता मिली, उसके लिए असेम्बली के अध्यक्ष के नाते उनका जो कार्य रहा उसका भी कम श्रेय नहीं है। एक निहायत कमजोर संविधान के अधीन काम करते हुए और किसी भी प्रकार की संसदीय प्रथा और पूर्व-दृष्टांतों के न होते हुए भी उन्होंने सदन के सदस्यों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की, जिनके अब वह संरक्षक थे, पूरी तरह रक्षा की और विरोधी दल और उसके नेता को वही दर्जा और हैसियत दी जो एक स्वतंत्र देश में लोकतांत्रिक विधान के अंतर्गत प्राप्त होती है।

सितंबर 1925 में सुधार जांच समिति की रिपोर्ट जिसको मुडीमैन कमेटी के नाम से अधिक जाना जाता है, असेंबली में पेश कर दी गई। गृह सदस्य (होम मेम्बर) सर अलैक्जैन्डर मुडीमैन ने समिति की बहुमत रिपोर्ट को स्वीकार किए जाने का प्रस्ताव किया। स्वराज पार्टी के नेता पं. मोतीलाल नेहरू ने इसमें एक संशोधन पेश किया जिसे राष्ट्रीय मांग 'नेशनल डिमांड' का नाम दिया गया। इस राष्ट्रीय मांग को पंडितजी ने असेम्बली के गैर-स्वराजवादी सदस्यों के साथ समझौता करके तैयार किया था और इस प्रकार यह गैर सरकारी सदस्यों का सर्वाधिक सहमति प्राप्त प्रस्ताव था। इस राष्ट्रीय मांग में कहा गया था कि ब्रिटिश पार्लियामेंट तुरत ऐसे संवैधानिक सुधार स्वीकार करे, जो व्यावहारिक रूप में उपनिवेश का दर्जा देने वाले थे और ब्रिटिश तथा भारतीय प्रतिनिधियों का एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाए, जो उन पर अमल के तौर-तरीकों पर विचार करे। असेम्बली में उस समय सरकारी प्रवक्ता ने जो वक्तव्य दिया और बाद में वाइसराय ने भी जो कहा, उसका मतलब था इंकार।

साल की समाप्ति से पूर्व लाला लाजपत राय असेम्बली के लिए चुन लिए गए और पार्टी के उपनेता चुने गए। करीब-करीब इसी समय 'रेस्पोन्सिविस्ट पार्टी' का जन्म हुआ जिसके नेता पुराने स्वराजवादी श्री एम.आर. जयकर और श्री एन. सी. केलकर थे। स्वराज पार्टी से इसके दो मुख्य बातों में मतभेद थे। यह विधायिकाओं में गुण-दोष के आधार पर सरकार के विरोध या समर्थन के पक्ष में थी, जबकि स्वराज पार्टी सरकार की हर

बात का विरोध करती थी। यह स्वराज पार्टी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मुस्लिम रवैये की विरोधी थी और इसके विपरीत इसने हिन्दू महासभा से अपने आपको अधिक जोड़ लिया था। 1925 में और इसके बाद जो हिन्दू-मुस्लिम मतभेद बढे उनके कारण कुछ और हिन्दू कांग्रेसजन हिन्दू महासभा में जा मिले। हिन्दू महासभा की नीति आमतौर से 'रेस्पोन्सिविस्ट पार्टी' से मिलती-जुलती थी। हिन्दू महासभा और 'रेस्पोन्सिविस्ट पार्टी' दोनों ही यह मानती थीं कि मुसलमान लोग सरकार का साथ दे कर अपनी ताकत बढ़ा रहे हैं और लाभ उठा रहे हैं, जिससे हिन्दू हितों को हानि हो रही है और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सरकार का निरंतर विरोध करने के कारण हिन्दुओं के लिए कुछ नहीं कर पा रही है। यह भावना इस कारण और प्रबल हुई कि श्री (अब सर) मियां फजलो हसन ने पंजाब में मन्त्री पद पाकर मुसलमानों को लाभ पहुंचाया और हिन्दू और सिख घाटे में रहे। हिन्दू महासभा और 'रेस्पोन्सिविस्ट पार्टी' की स्थिति को हिन्दू समुदाय की ओर से मुस्लिम लीग के प्रतिक्रियावादी ओर सांप्रदायिक रवैये के कारण और अधिक समर्थन मिला। मुस्लिम लीग ने दिसंबर 1925 में अलीगढ़ में अपने अधिवेशन में इस तरह का रवैया साफ जाहिर कर दिया था। इस अधिवेशन में श्री मुहम्मद अली जिन्ना, मौ. मुहम्मद अली, सर अब्दुल रहीम और सर अली इमाम ने भाग लिया था।

विधायिकाओं के अगले चुनाव 1920 में होने वाले थे। अतः 1925 में कांग्रेस को कानपुर अधिवेशन में यह तय करना था कि उसे चुनावों के बारे में क्या रवैया रखना है। तब यह अधिक अच्छा समझा गया कि स्वराज पार्टी के ऊपर ही छोड़ने के बजाय कांग्रेस को खुद चुनावों को हाथ में लेना चाहिए। कानपुर कांग्रेस की अध्यक्ष श्रीमती सरोजिनी नायडू[1] थीं और बिना अधिक वाद-विवाद के यही निर्णय किया गया। इसका कारण यह था कि तब तक महात्माजी और उनके ही विचारों के उनके अनुयायियों का विरोध खत्म हो चुका था लेकिन जिस प्रश्न पर तूफान उठ खड़ा हुआ वह था कि विधायिकाओं में जाकर नीति क्या रखी जाए। क्या यह नीति आंख बद करके सरकार का विरोध करने की स्वराज पार्टी की मूल नीति की तरह हो या कि नवनिर्मित 'रेस्पोन्सिविस्ट पार्टी' की नीति की तरह जो सरकार करे उसे देख-समझ कर विरोध या समर्थन करने की हो। स्वराज पार्टी की नीति के समर्थक थे—पं. मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत राय तथा उसके विरोध में थे प मदनमोहन मालवीय, श्री एम आर जयकर और श्री केलकर। पहले दोनों नेताओं की ही बात मानी गई। लेकिन साल पूरा होने से

---

1 श्रीमती सरोजिनी नायडू कांग्रेस की अध्यक्ष बनने वाली दूसरी महिला थीं। पहली थीं श्रीमती ऐनी बेसेंट जिन्होंने कलकत्ता में सन् 1917 में कांग्रेस की अध्यक्षता की थी। सरोजिनी नायडू बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कवियित्री थीं और 1920 से ही असहयोग आदोलन के समय से महात्माजी के निकट रहीं थीं। वह अभी तक महात्माजी की बहुत निकट सहयोगी हैं और शायद ही कभी कोई ऐसा साल रहा हो जबकि वह कांग्रेस कार्यकारिणी की सदस्य न रही हों।

पहले ही लाला लाजपत राय[1] स्वराज पार्टी से अलग हो गए और प मदनमोहन मालवीय के साथ मिलकर 'इडिपेंडेंट पार्टी' (स्वतंत्र पार्टी) बना ली। इस पार्टी का उत्तर भारत में वही काम रहा जो मध्य और पश्चिमी भारत में 'रेस्पोन्सिविस्ट पार्टी' का रहा। जिस समय लाला लाजपत राय ने स्वराज पार्टी छोडी उसी समय देश के एक और महत्वपूर्ण व्यक्ति इसमें शामिल हो गए। ये थे मद्रास के भूतपूर्व एडवोकेट जनरल[2] और मद्रास के वकीलों के नेता श्री श्रीनिवास आय्यगार। श्री आय्यगार के 1926 में असेम्बली के लिए चुने जाते ही उन्हें स्वराज पार्टी का उपनेता भी चुन लिया गया और थोडे दिन बाद ही 1926 मे काग्रेस का गुवाहाटी (असम) मे जो अधिवेशन हुआ उसके भी वह अध्यक्ष चुन लिए गए।

देशबधु चित्तरंजन दास की मृत्यु के बाद सरकार का आम रवैया प्रतिक्रियावादी ही रहा। बस एक ही अपवाद रहा, वह था उत्पादन शुल्क या आबकारी कर की समाप्ति। यह स्वागत योग्य कदम दिसबर 1925 मे उठाया गया। यह उत्पादन शुल्क भारत की मिलो में बने कपडे पर पहली बार 1894 में लगाया गया था। ऊपर से दिखाने को तो इस कर का उद्देश्य सरकार का राजस्व बढाना था लेकिन असल लक्ष्य था ब्रिटेन के वस्त्र उद्योग की मदद करना। क्योंकि वह भारत के वस्त्र उद्योग की उन्नति सहन नहीं कर सकता था। यद्यपि 1916 से विदेशी कपडे पर आयात शुल्क मिलों के स्वदेशी कपड़े पर लगे उत्पादन शुल्क से अधिक कर दिया गया था, फिर भी भारतीय राष्ट्रवादी और खासकर भारतीय व्यापारी वर्ग इसके बहुत खिलाफ था। अत इस शुल्क की समाप्ति से भारत के वस्त्र उद्योग को निस्सदेह लाभ पहुचा। लेकिन इस कदम के अलावा मित्रता की और कोई कार्रवाई भारत की या इग्लैंड की सरकार ने नहीं की। लेबर पार्टी ने एक मित्रतापूर्ण काम यह किया कि उसने श्रीमती एनी बेसेंट का तैयार किया गया भारत को 'होम रूल' देने का कामनवेल्थ आफ इडिया बिल स्वीकार कर लिया और अपने एक सदस्य जार्ज लेन्सबरी को अधिकार दिया कि वह इसे हाउस आफ कामन्स में गैर-सरकारी बिल के रूप मे पेश करें। इस बिल का प्रथम वाचन हाउस आफ कामन्स में 1925 में हुआ पर बस यह यहीं समाप्त हो गया। फिर भी यह एक सद्भावनापूर्ण कदम अवश्य था।

1926 का इतिहास बहुत अशों में हिन्दू-मुस्लिम झगडों का इतिहास है। जैसा कि सब जगह होता है कि राष्ट्रवादी आदोलन कमजोर पडने पर लोगों की शक्तिया आतंरिक विवादों और सवालों मे खर्च होती हैं। 1924 में तुर्कों द्वारा ही खिलाफत व्यवस्था समाप्त

1 लाला लाजपत राय ने, यद्यपि वह प्रभावशाली काग्रेसी थे और काग्रेस के अध्यक्ष भी रह चुके थे स्वराज पार्टी की नीति को स्वीकार नहीं किया। 1923 से 26 तक वह असेम्बली के सदस्य अवश्य थे पर स्वराज पार्टी में नहीं थे। 1926 के आम चुनाव के बाद भी वह स्वतंत्र सदस्य रहे। उनकी राजनीति में परिवर्तन मुख्य के हिन्दू-मुस्लिम तनाव और हिन्दू महासभा के प्रभाव के कारण आया।

2. मद्रास के एडवोकेट जनरल की स्थिति इग्लैंड के सालिसिटर जनरल जैसी होती है।

कर दिए जाने पर बहुत से राष्ट्रवादी मुसलमान नेताओं ने खिलाफत आंदोलन छोड़ दिया और पूरी तौर से राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ हो गए। पर कुछ राष्ट्रवादी और कुछ अधिक प्रतिक्रियावादी मुसलमानों ने खिलाफत कमेटियों को जिंदा रखा जैसा कि बंबई में मौलाना शौकत अली ने किया। जहां ऐसा करना संभव नहीं था, उन्होंने अलग-अलग नामों से जातीय और प्रतिक्रियावादी किस्म की संस्थाएं बना लीं। मुसलमानों के इस प्रतिक्रियावादी आंदोलन के फलस्वरूप हिन्दुओं में भी ऐसे ही प्रतिक्रियावादी आंदोलनों को बढ़ावा मिला। देशभर में हिन्दू महासभा की शाखाएं स्थापित होने लगीं। अपने मुसलमान प्रतिद्वंद्वियों की तरह हिन्दू महासभा में कुछ तो पुराने राष्ट्रवादी लोग आए पर बहुत से लोग वे आए जो राजनीतिक आंदोलन में भाग लेने से घबराते थे और अपने लिए एक ऐसा मंच चाहते थे जिसमें कोई जोखिम न हो। हिन्दुओं और मुसलमानों--दोनों में जातीय स्तर के आंदोलनों का बोलबाला होने से दोनों संप्रदायों मे भेद और तनाव बढ़ा। इस मौके का लाभ तीसरे पक्ष ने उठाया, जो चाहता था कि हिन्दू और मुसलमान लड़ें ताकि राष्ट्रवादी शक्तियां कमजोर पड़ जाएं। जो आम कारण हिन्दू-मुसलमानों के दंगों के होते थे वे थे—गोहत्या, जिससे हिन्दुओं की भावनाओं को ठेस पहुंची थी और नमाज के समय मस्जिद के सामने बाजा बजाना जिससे मुसलमान चिढ़ते थे। इसी प्रकार मंदिर या मस्जिद को किसी भी प्रकार से अपवित्र करने से भी संप्रदायों में नाराजगी पैदा होती थी। एक बार किसी एक स्थान पर दोनों सप्रदायों में एक दूसरे के प्रति मानसिक तनाव या खिंचाव हुआ नहीं कि इस प्रकार की हरकतों की चिंगारी से सांप्रदायिकता की आग भड़क जाना आसान होता था और तीसरे पक्ष को अपने एजेंटों के जरिए ऐसी गंदी हरकतें करवाना कठिन नहीं होता था।

1926 की इस प्रकार की घटनाओं में सबसे बुरी घटना थी कलकत्ता के हिन्दू-मुस्लिम दंगे जो पहले मई में और फिर जुलाई में हुए। आर्य समाज के एक जुलूस द्वारा मस्जिद के सामने से बाजा बजाकर निकलने से झगड़ा शुरू हुआ। आर्य समाजियों का कहना था कि वे वर्षों से जुलूस निकालते आ रहे हैं और कभी कोई झगड़ा नहीं हुआ। उधर मुसलमानों ने कहा कि जुलूस में बाजे बजने से मस्जिद में हो रही उनकी नमाज में खलल पड़ा। काफी दिनों तक मारकाट चलती रही। दोनों ओर के काफी लोग इसमें मारे गए। अंत में जब दोनों थक गए तभी शांति हो पाई। यद्यपि और स्थानों पर इस संकट ने कलकत्ता जैसा भयानक रूप नहीं लिया पर फिर भी सारे देश में काफी तनाव बना रहा। कांग्रेस पार्टी के लिए यह घोर अंधकार का समय था। नवम्बर महीने में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की काली छाया में विधायिकाओं के चुनाव होने वाले थे। 1923 की तरह कांग्रेस को अब खुला मैदान नहीं मिलने वाला था। हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रतिक्रियावादी संगठन खड़े हो चुके थे और वे अपने-अपने उम्मीदवार खड़े करने वाले थे। 1926 में मुसलमानों के एक वर्ग ने इस बात का जबरदस्त प्रचार किया कि यदि हिन्दू सरकार से अपना असहयोग करना जारी रखते हैं तो हमें उससे कुछ लेना-देना नहीं।

हमें संविधान पर अमल करने की कोशिश करनी चाहिए। उधर हिन्दू महासभा ने यह नारा लगाया कि यदि हिन्दू सरकार से असहयोग करते रहे और मुसलमान सरकार से मदद प्राप्त करते रहे तो निश्चय ही हिन्दू मुसलमानों की अपेक्षा घाटे में रहेंगे। अतः हिन्दू महासभा ने स्वराज पार्टी से असहयोग की नीति में परिवर्तन लाने की मांग की। खैर, हिन्दुओं में कांग्रेस का प्रभाव हिन्दू महासभा की अपेक्षा अधिक था, लेकिन उसके विपरीत 1926 के आम चुनावों में मुसलमानों पर प्रतिक्रियावादी और जातीय संगठनों का असर कांग्रेस की अपेक्षा ज्यादा साबित हुआ।

नवम्बर 1926 के आम चुनाव राष्ट्रवादियों ने कांग्रेस के नाम पर लड़े और बहुत सी विधायिकाओं में, खासकर मद्रास और बिहार की विधायिकाओं में उनकी स्थिति पहले से काफी अच्छी रही। इस सुधार का कारण यह था कि इस चुनाव में सब कांग्रेसजनों का पूरा-पूरा सहयोग मिला था जबकि 1923 में अकेले स्वराज पार्टी ही चुनाव लड़ी थी। लेकिन एक दृष्टि से 1926 के चुनाव परिणाम 1923 के चुनाव परिणामों की अपेक्षा बहुत बुरे रहे। 1923 में स्वराज पार्टी की ओर बहुत से राष्ट्रवादी मुसलमान चुन कर आए थे, लेकिन 1926 में खासतौर पर उनका स्थान लिया प्रतिक्रियावादी मुसलमानों ने। बंगाल और पंजाब में जहां मुसलमानों की आबादी काफी अधिक थी, वहां विधायिकाओं में कांग्रेस पार्टी की स्थिति अनुकूल नहीं थी। मध्य प्रांत में, जो स्वराज पार्टी का गढ़ रहा था और बंबई प्रेसीडेंसी के कुछ हिस्से में राष्ट्रवादियों की स्थिति 'रेस्पोंसिविस्ट पार्टी' के बन जाने के कारण और बंगाल की कौंसिल में एक मुस्लिम ब्लाक होने से अब सरकार इन दोनों प्रांतों में मंत्री नियुक्त कर सकती थी, जो वह पिछले तीन वर्षों में नहीं कर पाई थी। इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली में भी राष्ट्रवादियों की स्थिति कुछ घट गई थी। इसका कारण भी एक ओर 'रेस्पोंसिविस्ट पार्टी' के ब्लाक का होना और दूसरी ओर मुस्लिम ब्लाक का होना था। इसके परिणामस्वरूप सरकार को अब पिछली असेम्बली की अपेक्षा कम परेशानी थी। विधायिकाओं (या विधान मंडलों) के अलावा भी कांग्रेस संगठन में विघटन के कुछ लक्षण दिखाई देने लगे थे। पंजाब, मध्य प्रांत और बंबई प्रेसीडेंसी में इसका कारण 'रेस्पोंसिविस्टों' की कार्यपद्धति थी। बंगाल में जहां 'रेस्पोंसिविस्टों' का कोई प्रभाव नहीं था, विघटन का कारण कांग्रेस के अंदर की गुटबंदी थी। बंगाल में देशबंधु चितरंजन दास की मृत्यु के बाद महात्मा गांधी के प्रभाव और समर्थन के कारण नेतृत्व स्व. जे. एम. सेनगुप्त के हाथ में आ गया था। अभी एक साल भी नहीं बीता था कि उनके नेतृत्व का भी विरोध होने लगा। यह विरोध अधिवक्ता श्री बी. एन. सासमल के नेतृत्व में पनपने लगा। वे कभी बंगाल कांग्रेस के ढांचे में सबसे लोकप्रिय व्यक्ति थे। यह झगड़ा 1927 तक चलता रहा और कुछ समय तक बंगाल में दो प्रतिद्वंद्वी कांग्रेस कमेटियां काम करती रहीं। मार्च 1927 में कलकत्ता नगर निगम के जो चुनाव हुए उनमें दो प्रकार के कांग्रेसी उम्मीदवार खड़े हुए। इस लड़ाई में श्री सासमल की पार्टी हार गई और स्वयं उन्होंने एक प्रकार से अस्थायी रूप से संन्यास ले लिया।

कांग्रेस के भीतर और बाहर इस प्रकार की फूट होने के कारण 1926 के वर्ष में नेताओं को बड़ी परेशानियों का सामना करना पड़ा। एक बार को तो ऐसा लगने लगा कि यह सब परेशानियां लाइलाज हैं। सारी जिम्मेदारी आई पं. मोतीलाल नेहरू के सिर पर। उन्हें न तो महात्मा गांधी का नेतृत्व प्राप्त था क्योंकि वह सक्रिय राजनीति से दूर हट गए थे और न ही देशबंधु का जिनकी एक साल पहले मृत्यु हो चुकी थी। उन्होंने सितंबर 1925 में असेम्बली में जो राष्ट्रीय मांग पेश की थी उसे सरकार ने ठुकरा दिया। ऐसी परिस्थिति में वह क्या करते ? वह देशभर में सविनय अवज्ञा आंदोलन भी नहीं शुरू कर सकते थे। इसलिए उन्होंने सरकार के रवैये के विरोध स्वरूप असेम्बली से हट जाने का ही निश्चय किया। उनके इस कदम की उस समय काफी आलोचना हुई, लेकिन इसमें जरा सा भी संदेह नहीं कि उनके सामने उस समय सरकार की नीति के आगे पूरी तरह घुटने टेक देने के अलावा और कोई चारा ही नहीं था। मार्च 1926 में एक निहायत शानदार भाषण के बाद जिसमें कहीं-कहीं निराशावाद भी टपकता था, वे असेम्बली को त्याग कर बाहर आ गए। अन्य स्वराजवादी सदस्यों ने भी असेम्बली को त्याग दिया। उनके असेम्बली त्याग के बाद प्रांतीय विधायिकाओं में भी स्वराज पार्टी के सदस्यों ने वैसा ही किया।

1926 की काली बदलियों के बीच एक सुनहरी लकीर भी थी। सांप्रदायिक दंगों और उत्पात के बावजूद खादी के उत्पादन में दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि हुई। अन्य बातों से हट कर महात्माजी खादी के काम पर ही एकाग्र हो गए थे। उनके नेतृत्व में अ.भा. चरखा संघ देशभर में अपनी शाखाओं का जाल फैला रहा था। इस संगठन के जरिए महात्माजी फिर से अपनी एक पार्टी खड़ी कर रहे थे, ताकि जब भी वह चाहते कांग्रेस पर कब्जा करने में उनके लिए वह पार्टी बेहद सहायक सिद्ध होती। बहुत से लोग कांग्रेस छोड़ गए थे। उसका घाटा पूरा करने के लिए इसी समय श्री श्रीनिवास आय्यंगार पूरे दिल से कांग्रेस पार्टी में शामिल हुए थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में उनकी बहुत प्रतिष्ठा और प्रभाव था। उनकी सहायता से मद्रास प्रेसीडेंसी में कांग्रेस आंदोलन खूब बढ़ा और उन्हीं के प्रयत्नों से मद्रास लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक सशक्त कांग्रेस पार्टी गठित हो गई। 1926 में गुवाहाटी के कांग्रेस अधिवेशन के बाद उन्होंने देशभर के दौरे में बहुत समय लगाया और सांप्रदायिक सद्भाव पैदा करने का प्रयत्न किया। उन्हें इस काम में अली बंधुओं से सहायता मिली। अली बंधु 1928 तक कांग्रेस के साथ सक्रिय रूप से संबद्ध रहे। हां, महात्माजी से उनकी अनबन 1926[1] से ही शुरू हो गई थी।

इस वर्ष की सबसे उत्साहजनक बात थी सारे देश में युवकों में आई चेतना। वे

---

1 आमतौर पर यह समझा जाता है कि महात्माजी और अली बंधुओं में मतभेद उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में कोहाट नामक स्थान पर हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगों के कारण हुए। इस मामले में अली बंधुओं ने मुसलमानों का पक्ष लिया। उन्हें इस बात की शिकायत थी कि महात्माजी ने हिन्दुओं की तरफदारी की।

अपनी पुरानी पीढ़ी की जाति एवं संप्रदाय की संकीर्ण भावना से चिढ़ गए थे और सार्वजनिक जीवन को राष्ट्रवाद की पवित्र वायु से शुद्ध करना चाहते थे। भिन्न-भिन्न प्रांतों में युवक आंदोलन अलग-अलग नामों से उभरा लेकिन इसके पीछे की धड़कन हर जगह एक ही थी। जो सड़ांध इस समय पैदा हो गई थी इसके खिलाफ उनके दिल में बड़ा रोष और विद्रोह था और उनमें आत्मविश्वास तथा अपने देश के प्रति जिम्मेदारी का अहसास था। पंजाब में यह आंदोलन 'नौजवान भारत सभा' के नाम से सामने आया और आने वाले समय में इसे बहुत महत्वपूर्ण काम करना था। मध्य प्रांत की राजधानी नागपुर में नवयुवकों ने अपने ही बलबूते पर एक आंदोलन शुरू किया, जिसका नाम पड़ा 'हथियार कानून सत्याग्रह' (आर्म्स ऐक्ट सत्याग्रह)। इसका उद्देश्य हथियार कानून को तोड़ना था। इस कानून ने भारतीयों के हथियार रखने पर पाबंदी लगा रखी थी। इसे एक लोकप्रिय स्थानीय कांग्रेसी नेता श्री आवारी ने शुरू किया, जिन्हें उनके शिष्यों ने 'जनरल' का खिताब दे दिया था। आंदोलन के आरंभ में ही घोषणा कर दी गई थी कि यह आंदोलन सरकार के उस आचरण के विरोध में किया जा रहा है जिसके अनुसार उसने बंगाल में बहुत से सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को बिना मुकदमा चलाए जेल में डाल रखा है।

1926 में कांग्रेस में जो कमजोरी आ गई थी उसका फायदा उठाते हुए सरकार 1927 में अपनी प्रतिक्रियावादी नीति पर चलती रही यद्यपि अप्रैल 1926 में लार्ड रीडिंग के स्थान पर लार्ड इर्विन वाइसराय हो कर आए थे और वह अपने पूर्ववर्ती (लार्ड रीडिंग) से बिल्कुल भिन्न थे। स्कीनिंग कमेटी की रिपोर्ट अप्रैल 1927 में प्रकाशित हो चुकी थी। इसमें यह प्रावधान था कि आधी भारतीय सेना का 25 वर्षों में पूरी तरह भारतीयकरण कर दिया जाएगा। कमेटी की रिपोर्ट निराशाजनक थी और उस पर पं. मोतीलाल नेहरू ने हस्ताक्षर नहीं किए थे। उन्होंने रिपोर्ट लिखे जाने से पहले कमेटी की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया था। परंतु कमेटी की मामूली सिफारिशों पर भी, जिसके अध्यक्ष भारतीय सेना के चीफ आफ स्टाफ थे, अमल नहीं किया गया। ऐसा भारत मंत्री लार्ड बर्कनहेड के इशारे पर हुआ। सरकार की बेईमानी का इससे ज्यादा और क्या प्रमाण होगा कि जब सर तेजबहादुर सप्रू वाइसराय की एक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य थे तो सेना के अधिकारियों ने ऐसी योजना तैयार की थी जिसके द्वारा सारी ही सेना का तीस वर्षों में पूरा भारतीयकरण किया जा सकता था।

1927 में सरकार का एक और निंदनीय काम था रुपये का मूल्य 1 शिलिंग 6 पैंस पर स्थिर कर देना। पहले से परंपरागत मुद्रा विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पेंस थी और यह भारत के लिए अनुकूल थी। भारी जन-विरोध के बावजूद सरकार ने रुपये के मूल्य को 12.50 प्रतिशत निश्चित कर दिया। वित्त सदस्य सर बासिल ब्लेकिट ने भारत में होने वाले आयात पर खुद-ब-खुद होने वाला फायदा लाद दिया। भारत के किसान को, जो कि विश्व बाजारों के लिए कच्चा माल पैदा करता था, बहुत कम दाम मिले और इससे भारतीय

माल को खरीदने की उसकी शक्ति बहुत घट गई। इसमें भी कोई संदेह नहीं रहा कि नई विनिमय दर भारत में आर्थिक संकट को और बढ़ाने के लिए पर्याप्त बड़ा कारण थी। नई विनिमय दर के साथ-साथ सर बासिल ब्लेकिट अपनी योजना के अंग के रूप में एक भारतीय रिजर्व बैंक बनाना चाहते थे, जो मुद्रा पर नियंत्रण रखे। लेकिन सौभाग्य से इस बिल[1] को असेम्बली ने नामंजूर कर दिया और वाइसराय ने भी इसे 'प्रमाणीकरण' के द्वारा कानून नहीं बनाया।

1927 के पूर्वार्ध में संतोषजनक घटना थी—भारत और दक्षिण अफ्रीका के बीच केपटाउन पैक्ट। दक्षिण अफ्रीकी सरकार, जिसके अध्यक्ष कट्टर राष्ट्रवादी जनरल हर्टजोग थे, वहां के भारतीयों के लिए पृथक आवास और उन्हें भारत लौटाने की दुहरी नीति अपनाना चाहती थी। भारत से एक प्रतिनिधि मंडल दक्षिण अफ्रीका की सरकार को समझाने के लिए वहां भेजा गया, जिसमें थे सर मुहम्मद हबीबुल्ला, राइट आनरेबल वी.एस शास्त्री और सर जार्ज पैडीसन। उन लोगों के समझाने-बुझाने से दक्षिण अफ्रीका की सरकार के साथ एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार अलग-अलग क्षेत्र सुरक्षित करने से संबंधित बिल को पूरी तरह खत्म कर दिया गया। भारतवासियों को लौटने के लिए प्रोत्साहन देने की बात तो बनी रही लेकिन लौटने वालों को और अधिक धन देना स्वीकार कर लिया गया। दक्षिण अफ्रीका में जन्मे ऐसे भारतीयों को, जो वहीं के नागरिक बनना चाहते थे, गोरों के रहन-सहन का स्तर प्राप्त करने में सरकार ने सहायता देना स्वीकार कर लिया। यद्यपि यह पैक्ट आंशिक रूप से ही संतोषजनक था पर कुछ न होने से तो अच्छा ही था। वाइसराय लार्ड इर्विन ने इस बारे में भारतीयों के मामले की पूरी तरह से हिमायत की। पैक्ट में यह भी प्रावधान था कि भारत सरकार का एक एजेंट या प्रतिनिधि दक्षिण अफ्रीका में रहेगा। श्री शास्त्री को ही भारत का पहला एजेंट बना कर वहां भेजा गया।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इंग्लैंड ने 1927 में रूस से संबंध तोड़ लेने का जो कदम उठाया उसकी भारत में भी काफी प्रतिक्रिया हुई। उसके बाद से भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियां काफी बढ़ गईं। देश में राष्ट्रवादी शक्तियों के कमजोर पड़ जाने से और 1927 एवं 1928 में मजदूरों में असंतोष बढ़ने से इनमे और सहायता मिली।

1 इस बिल को असेम्बली के अध्यक्ष श्री विट्ठलभाई पटेल ने पहले तो विधिवत न होने के कारण पेश करने की मंजूरी नहीं दी। इसके बाद इसे सुधार कर पेश किया गया। कांग्रेस पार्टी बिल की उस धारा को नामंजूर करवाने में सफल हो गई जिसका संबंध बैंक के प्रबंध से था। ऐसा होने पर सर बासिल ब्लेकिट ने बिल

अध्याय 7

बर्मा की जेलों में (1925–27)

25 अक्तूबर, 1924 को तडके ही मुझे जगाया गया और बताया गया कि बाहर कुछ पुलिस अफसर मुझे बुला रहे हैं। मैं बाहर आया तो कलकत्ता पुलिस का डिप्टी कमिश्नर मेरे सामने खड़ा था। वह बोला, मिस्टर बोस, मैं एक बडा अप्रिय कर्तव्य पूरा करने आया हू। मेरे पास 1818 के रेगुलेशन-3 के अधीन आपको गिरफ्तार करने का वारट है। फिर उसने एक और वारट निकाल कर दिखाया जिसमें उसे हथियारों, गोलियो और विस्फोटको आदि के लिए मेरे घर की तलाशी लेने का अधिकार दिया गया था। तलाशी मे क्योकि हथियार आदि नहीं मिले अत उसे कागजो का एक बडल और पत्रादि लेकर ही सतोष करना पडा। लोगो की निगाह से बचने के लिए वह मुझे अपनी कार मे ही बैठाकर जेल ले गया। लेकिन मेरी गिरफ्तारी इतनी अनपेक्षित थी कि रास्ते में मुझे जो भी जान-पहचान वाला मिला, वह सोच भी नहीं सका कि मुझे हिज मैजेस्टी की अलीपुर जेल मे ले जाया जा रहा है। अलीपुर की नई सेन्ट्रल जेल पहुच कर मुझे पता चला कि और भी बहुत से लोग मेरी ही तरह गिरफ्तार करके लाए गए हैं। ऐसा लगता था कि जेल अधिकारी हम लोगों के आने से खुश नहीं थे। हम लोगों को जेल के अन्य कैदियो से अलग रखने के लिए विशेष प्रबध किए जाने थे और जेल में इसके लिए स्थान नहीं था। ज्यो-ज्यो दिन चढता गया हम लोगों की सख्या भी बढती गई और हमें इससे बहुत खुशी हुई। जेल मे साथी मिल जाए इससे बढकर और कोई खुशी की बात क्या होती। शाम को जब हमे ताले में बद करने का समय आया तब तक हमारी सख्या अट्ठारह तक पहुच गई थी।

चूकि मैं कलकत्ता नगर निगम का चीफ एक्जीक्यूटिव अफसर था अत मेरी अचानक गिरफ्तारी से निगम का काम-काज ठप्प पड गया।[1] ऐसा होने पर सरकार ने विशेष आदेश जारी किए कि दिसबर के शुरू तक मैं जेल में ही निगम के अपने काम कर सकता हू और मेरा सचिव फाइलो और कागजातो को लेकर समय-समय पर मुझसे मिल सकता था। ऐसी भेटों के समय एक पुलिस अफसर और एक जेल अफसर मौजूद रहता था। मेरे सचिव के साथ मेरी भेट कराने के वास्ते छाट-छाट कर खराब से खराब पुलिस अफसर भेजे जाते थे। मुझे बहुत बार उनसे परेशानिया उठानी पडती थीं और काफी बदमजगी पैदा होती थी। कई बार तो मुझे उनमे से कई को उनकी बदतमीजी पर बहुत

1 मैं आठ बार जेल जा चुका हू, किन्तु यहा केवल एक ही अनुभव का उल्लेख किया जा रहा है क्योंकि यह अनुभव दूसरों की अपेक्षा अधिक दिलचस्प है।

डांटना पड़ा। इसकी सजा के तौर पर मुझे प्रांत के भीतरी स्थान की जेल में (बहरामपुर जेल) भेज दिया गया जहां मुझसे मिलने आने में लोगों को कठिनाई होती। हां, जेल कर्मचारियों की ओर से न तो अलीपुर में और न ही बहरामपुर में मुझे कभी कोई कष्ट हुआ। कई सरकारी आदेश बड़े अपमानजनक होते थे, पर उनके लिए हमने जेल के अमले को कभी दोष नहीं दिया। हां, पुलिस अफसरों से बहरामपुर में भी मुझे तकलीफ होती रही। जेल में मेरा अधिकांश समय पढने में व्यतीत होता था। हम लोग जेल से छूटने पर क्या करेंगे, इसकी बहुत सी योजनाओं पर बातचीत किया करते। क्योंकि गिरफ्तारियां जारी थीं इसलिए जेल में हम लोगों की सख्या बराबर बढ़ती जाती थी, जिससे हमें बड़ी खुशी होती थी। बहरामपुर जेल में मुझे दो महीने से अधिक नहीं रखा गया। 25 जनवरी, 1925 को मुझे अचानक कलकत्ता बदली होने का हुक्म मिला। पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ जब मुझे रास्ते में मालूम हुआ कि मुझे असल में कलकत्ता नहीं, ऊपरी बर्मा की मांडले जेल ले जाया जा रहा है। कलकत्ता पहुंचने पर मुझे रात बिताने के लिए लाल बाजार थाने में रखा गया। थाने की वह कोठरी बहुत ही गंदी थी। मच्छरों और खटमलों ने मुझे रातभर पलक भी नहीं झपकाने दी। सफाई का प्रबंध निहायत ही खराब था और पर्दा या प्राइवेसी तो नाम को भी नहीं थी। अब मैं समझा कि लोग कहा करते थे कि यदि कहीं नरक है, तो वह लाल बाजार थाने में है, यह कितना सच था। जब मैं लेटे-लेटे समय बिताने के लिए छत की कड़ियां गिन रहा था तो मुझे पास की कोठरी से कुछ जानी-पहचानी आवाजें सुनाई दीं। क्या कहने हमारी अच्छी सरकार के; उसने मेरे लिए यहां भी साथी भेज दिए थे। अभी अंधेरा ही था कि एक पुलिस अफसर आ धमका। यह असिस्टेंट इंस्पेक्टर जनरल पुलिस श्री लोमैन थे। हमें पता चला कि वही हमारे साथ मांडले जाने वाले हैं। जब कोठरियों के दरवाजे खोले गए तो उनमें से सात परिचित चेहरे निकले। ये सभी मांडले जाने वाले थे। निश्चय ही यह आश्चर्य की बात थी।

अंधेरे में ही सशस्त्र रक्षकों के पहरे में हम थाने से बाहर आए। बाहर दो जेलगाडियां अपना द्वारा खोले हमारे स्वागत के लिए तैयार खड़ी थीं। एक में हमारा सामान रखा गया और दूसरी में हमें ठूंस दिया गया बंडलों की तरह। अंधेरे में बड़ी तेजी से दौडती दोनों गाड़ियां रुकीं और जब हम उतरे तो पता लगा कि हम नदी के तट पर हैं। तट के पास ही एक जहाज खड़ा था पर हमें एक छोटी सी मोटर नौका मे बिठाया गया और तीन घटे तक यह नौका हमें नदी में सैर कराती रही। जब जहाज के छूटने का समय हुआ तो हमें चुपके से दूर वाली तरफ से इस पर सवार करा दिया गया। प्रातः नौ बजे तक हमारा जहाज नदी में सागर की ओर बढ़ता रहा। हमारी कोठरियों के सामने भारी सशस्त्र गार्ड तैनात थे। अन्य यात्री यह जानने को बहुत उत्सुक थे कि हम लोग कौन हैं और इतना कड़ा पहरा क्यों रखा गया है। जब जहाज समुद्र में पहुंच गया तो सशस्त्र गार्ड हमारे केबिनों (कोठरियो) के सामने से हटा लिए गए और सादे वेश में अफसर लोग

हमारे ऊपर नजर रखते रहे। मि. लोमैन विनोदी स्वभाव के थे और बातचीत करने में भी खुले हुए। हम सब लोगों ने हर संभव विषय पर उनसे बातचीत की, यहां तक कि गवर्नर, एक्जीक्यूटिव कौंसलरों और सार्वजनिक नेताओं आदि के बारे में भी हम अपने-अपने विचार प्रकट करते थे। मैंने पुलिस द्वारा राजनीतिक कैदियों को मारने-पीटने और सताने का प्रश्न भी उठाया। श्री लोमैन ने पहले तो इस आरोप से इंकार किया पर अंत में उन्होंने माना कि कई बार ऐसे कुकृत्य हुए हैं। कुल मिलाकर शुरू में तो मैं उनके खिलाफ पूर्वाग्रह पाले हुए था, फिर उनके बारे में मेरी राय बदल गई और आगे चल कर हमारे मिलने-जुलने और बातचीत के बाद तो उनके बारे में मेरी अनुकूलता और पक्की हो गई। जिस दिन हम लोग रंगून पहुंचे उससे पहली रात को तो मि. लोमैन को बड़ा ही डरावना सपना दिखाई दिया। सुबह उन्होंने बताया कि मैं तो रातभर ठीक से सो भी नहीं पाया। यही स्वप्न देखता रहा कि कुछ राजबंदी या सरकारी कैदी (स्टेट प्रिजनर्स) रात को जहाज के पोर्ट होल से निकल कर भाग गए हैं। रंगून से मांडले तक 20 घंटों का लंबा सफर था। हमारे साथ पुलिस का बहुत बड़ा दस्ता चल रहा था। जहां गाड़ी रुकती थी उसके दोनों ओर कतार बना कर खड़े हो जाते। वे जिस ढंग से घेरा डाल उससे लोग यही सोचते होंगे कि या तो हम ऊंचे अफसर हैं या फिर जंगली जानवर।

उस समय तक हम केवल मांडले का नाम ही जानते थे। मुझे कुछ-कुछ याद था कि यह बर्मा के अंतिम राज्य की राजधानी थी और बर्मा की दूसरी लड़ाई यहीं हुई थी। हां, यह मुझे स्पष्ट स्मरण था कि यह वही जगह है जहां लोकमान्य तिलक ने छह साल की जेल काटी थी और लाला लाजपत राय भी कदाचित एक साल कैद में रहे थे। अतः इस बात से हमें कुछ संतोष और गर्व हुआ कि हम भी उन्हीं के पद चिन्हों पर चल रहे थे। स्टेशन से सीधे हमें किले की जेल में ले जाया गया। हम उन मकानों के सामने से गुजरे जिनमें लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह अपनी नजरबंदी के दिनों में रहे थे। शहर के रास्ते में हमने कुछ ऊंचे-ऊंचे और सुंदर भवन देखे। पूछने पर पता चला कि यह पुराने राजा के महल और राजकीय भवन आदि हैं। बीते हुए पुराने दिनों की याद ने हमारे दिलों में एक टीस सी पैदा कर दी और हम सोचने लगे कि वह कौन सा शुभ दिन होगा जब बर्मा फिर से अपनी स्वाधीनता का झंडा फहरा सकेगा। जैसे ही हमारी गाड़ियां मांडले जेल की ऊंची दीवारों के सामने जाकर रुकीं, हमारे दिवास्वप्न भंग हो गए। जेल के विशाल द्वार खुले और हमें जल्दी ही निगल गए। बर्मा की जेल का ढांचा भारतीय जेल से कुछ भिन्न था। हमने चंद मिनट अपने नए परिवेश को देखने-समझने में बिताए। पहली जो बात हमें दिखाई दी वह यह थी कि जेल की इमारतें पत्थर या ईंटों की न होकर लकड़ी की बनी थीं। ये इमारतें ठीक चिड़ियाघर या सर्कस के कटघरों जैसी थीं। बाहर से और घूमकर रात में तो कैदी ऐसे लगते थे जैसे कि भेड़ियों के पीछे उनका चक्कर काट रहे हों। इनके भीतर हम लोग इन्हीं तख्तों की दया पर निर्भर रहते थे। इन इमारतों में आंधी, वर्षा, गर्मी, सर्दी आदि से बचाव का कोई प्रबंध नहीं था। कोठरियों की तुलना में

वाली तपन, जाड़ों की कड़ाके की सर्दी और माडले की मूसलाधार वर्षा से रक्षा का प्रश्न ही नहीं था। हम सोचने लगे कि यहां जिंदगी कैसे बीतेगी? पर चारा ही क्या था? हमें इसी बुरी परिस्थिति से समझौता करना था। हमें बताया गया कि हमारे बराबर के ही सहन में लोकमान्य तिलक ने अपने जीवन के करीब छह वर्ष काटे थे। जेल के कर्मचारियों में बहुत से ऐसे थे जो उस समय भी वहां थे जब लोकमान्य तिलक जेल भुगत रहे थे। उन लोगों से और बाद में जेलों के इंस्पेक्टर जनरल से भी हमने उनके बारे में कई दिलचस्प बातें सुनीं और इस बारे में भी कि उन्होंने यहां अपना समय कैसे बिताया था। उनके बारे में जो कुछ सुनने को मिला हमें उससे कहीं अधिक दिलचस्पी थी नींबू के उन पेड़ों में जो उन्होंने अपने हाथों से यहां रोपे थे। हमसे पहले यहां आए एक कैदी श्री जीवनलाल चटर्जी से हमने बर्मी भाषा सीखनी शुरू की। थोड़े ही दिनों में मुझे बर्मा के लोग बहुत अच्छे लगने लगे। उनमें कुछ ऐसी चीज है कि आप उन्हें पसंद किए बिना नहीं रह सकते। वे बहुत ही उदार हृदय, स्पष्टवादी और विनोदी स्वभाव के होते हैं। हां उन्हें गुस्सा जल्दी आता है और गुस्से में वह कई बार आपे से बाहर हो जाते हैं तथा आत्मनियंत्रण खो बैठते हैं। लेकिन मुझे यह कोई बड़ा दोष नहीं लगा। मुझे उनका सबसे बड़ा गुण लगा उनकी सहज कलाप्रियता। अगर उनमें कोई दोष है तो वह है उनका बेहद सीधापन और विदेशियों के प्रति उनके मन में किसी भी प्रकार की भावना का अभाव। वास्तव में मुझे बाद में पता चला कि बर्मी स्त्री में अपने देश के पुरुष की अपेक्षा विदेशी पुरुष के प्रति अधिक आकर्षण होता है।

हमारे जेल सुपरिंटेन्डेन्ट कप्तान (बाद में मेजर) स्मिथ का हमारे प्रति व्यवहार बहुत ही अच्छा था और हमारे बीच कभी कोई गलतफहमी पैदा नहीं हुई। जब हमें सरकार से लड़ना और भूख हड़ताल भी करनी पड़ी तब भी उनसे हमारे मैत्री-संबंध नहीं बिगड़े। किन्तु चीफ जेलर से हमारी कभी नहीं पटी और उसकी तरफ से हमेशा हमें परेशान किया जाता रहा। वह यह कहकर अपने आप को सही सिद्ध करता कि मुझे आदेशों के अनुसार काम करना पड़ता है। किन्तु अभी तक मैं यह नहीं समझ पाया कि हमें जो तंग किया जाता है इसके लिए असल में जिम्मेदार कौन है। खैर कुछ समय बाद नीचे के कर्मचारियों ने यह समझ लिया कि यदि हमें परेशान किया गया तो हम भी उनके लिए परेशानी खड़ी कर सकते हैं और इससे हम लोगों में एक प्रकार की मित्रता या समझौता सा हो गया। जेल विभाग के अध्यक्ष थे—एक पारसी सज्जन ले. कर्नल तारापुर। वह बहुत ही चतुर, बुद्धिमान और सदाशयी अफसर थे। यह ठीक है कि माडले जेल और अन्य जेलों के कैदियों में तथा उनमें कभी-कभी गलतफहमियां हो जाती थीं लेकिन मैं यह स्वीकार करता हूं और खुशी के साथ स्वीकार करता हूं कि कुल मिलाकर उन्होंने हमें अच्छी तरह रखने की ही कोशिश की। उनकी पहली कठिनाई यह थी कि हमारी जिम्मेदारी बंगाल सरकार पर थी, जो बहुत ही अधिक बदले की भावना से काम करती थी। दूसरी, भारत सरकार जो सर्वोच्च अधिकरण थी, यहां से बहुत दूर और बहुत उदासीन थी। तीसरी कठिनाई

बर्मा की सरकार थी जो हमारे प्रति प्रतिकार की भावना तो नहीं रखती थी किन्तु हमारे लिए अपनी जिम्मेदारी पर कुछ नहीं करना चाहती थी। ले. कर्नल तारापुर जेल सुधार के बारे में बहुत उत्साही थे और उनकी कोशिश से ही बर्मा सरकार ने हिज मैजेस्टी के जेल कमिश्नरों में से एक श्री पैटरसन को जेल सुधारों के बारे में सलाह देने के लिए इंग्लैंड से बर्मा बुलाया। लेकिन अपने समस्त उत्साह के बावजूद ले. कर्नल तारापुर घोर प्रतिक्रियावादी वातावरण के कारण कुछ अधिक हासिल नहीं कर पाए। मुझे याद है कि उन्होंने एक महत्वपूर्ण सुधार की कोशिश की थी और दूसरों के विरोध के कारण उसे त्यागना पड़ा था। आम बर्मावासी को बचपन से ही तम्बाकू पीने की आदत होती है और वह उसे भोजन से भी जरूरी समझता है। क्योंकि बर्मा की जेलों में तम्बाकू पर पाबंदी थी इसलिए वहां के कैदी इसे चोरी-छिपे बाहर से मंगाने के लिए ऐसे असंख्य काम करते थे, जिन्हें जेल में अपराध माना जाता है। जेलों के इंस्पेक्टर जनरल ने ठीक ही सोचा कि यदि कैदियों को जायज तरीके से तम्बाकू इस्तेमाल करने की इजाजत दे दी जाए तो जेल अपराध में काफी कमी आ जाएगी और चोरी-छिपे का यह धंधा भी खत्म हो जाएगा। उन्होंने एक नियम बना दिया कि जो कैदी अच्छा आचरण दिखाएंगे उन्हें इनाम के तौर पर प्रतिदिन कुछ मात्रा में तम्बाकू दिया जाएगा। यद्यपि यह सुधार बहुत दूरगामी नहीं था फिर भी वर्तमान स्थिति से अच्छा था। यह परीक्षण करीब एक साल तक चला, लेकिन इस अवधि के बाद अधिकांश जेल अधीक्षकों ने इसके खिलाफ ही रिपोर्ट दी और साथ ही वित्त विभाग ने इसके लिए पैसे की कठिनाई बताई। अततोगत्वा यह परीक्षण छोड़ना पड़ा। बर्मा में हमारे प्रवास के अंतिम दिनों में उन्होंने एक और महत्वपूर्ण सुधार की कोशिश की थी। वह था कैदियों को जेल से बाहर ले जाकर उन्हें सड़क बनाने के काम में लगाना। उन्हें कैम्पों में रखा जाता, जेल की अपेक्षा अधिक आजादी दी जाती और काम के बदले उन्हें उनकी खुराक के अलावा कुछ और भत्ता भी दिया जाता था। मुझे नहीं मालूम कि इस प्रयोग का अंतिम परिणाम क्या निकला लेकिन जब मैंने बर्मा छोड़ा तो इस काम के लिए कैम्प चला सकने वाले उपयुक्त अफसरों की कमी महसूस की जा रही थी। जब कभी हम से बात होती तो इंस्पेक्टर जनरल यही कहते कि मेरे पास आवश्यक शिक्षा और चरित्र वाले योग्य अफ्सर नहीं हैं, जो जेल के इस वातावरण को भूल कर बंदियों को मनुष्य समझ कर काम कर सकें।

बर्मा की जेल में रहते हुए मुझे अपराधी मनोवृत्ति और जेलों में सुधार की समस्या का अध्ययन करने का अवसर मिला। हमारे लिए आवश्यक साहित्य जुटाने में इंस्पेक्टर जनरल ने बड़ी सहायता की। बर्मा की विभिन्न जेलों में बंद कैदी हमारे अध्ययन का एक अच्छा विषय बन गए। यहां अपने इस अध्ययन और जांच के निष्कर्ष देना न तो संभव है और न ही इसकी आवश्यकता है। बस यहां एक बात कह कर ही मैं संतोष कर लूंगा। वह यह कि आमतौर से ऐसा समझा जाता है कि जो लोग हत्या के मामले में सजा पाते हैं, वे सबसे गिरे हुए इंसान होते हैं और उनका सुधार संभव नहीं। लेकिन इसके

विपरीत मेरा अनुभव यह है कि खूनी या हत्यारे सामान्यतः अपराधी वृत्ति के अन्य लोगों से अच्छे होते हैं। यह बात कम से कम उन लोगों के बारे में अवश्य सच है जो गुस्से में आकर या एक प्रकार के क्षणिक पागलपन में खून कर बैठते हैं। चोर-उचक्के और जेब काटने वाले सबसे बुरे किस्म के लोग होते हैं। उन कोठरियों में जिनमें फांसी की सजा पाने वालों को रखा जाता है, मुझे कई बार बडे ही आला दर्जे के इंसान देखने को मिले हैं। कई बार ऐसे किशोर मिले जो क्षणिक आवेश में आकर आत्म नियंत्रण खो बैठे और किसी की हत्या कर बैठे। जिस आसानी से बर्मा के हाईकोर्ट ने उनकी मौत की सजा की पुष्टि कर दी उसे देखकर मुझे आश्चर्य होता था। बर्मा हाईकोर्ट का रवैया इस कारण और अधिक अशोभनीय लगता था कि उसे यह मालूम होना चाहिए कि बर्मा में सदियों तक लोग कानून को अपने हाथ में लेने के आदी रहे हैं और ऊपरी बर्मा और मांडले 1885 में ही ब्रिटिश राज के अधीन आए थे।

समय-समय पर बहुत से लोग हमें जेल में देखने आते रहते थे। इनमें सरकारी अफसर भी होते थे। गृह सदस्य (होम मेम्बर) से लेकर साधारण मजिस्ट्रेट तक हमें कोई भी बिना देखे नहीं जाता था, क्योंकि भारत के राजबंदी उनके लिए दिलचस्प किस्म के मनुष्य थे। हमें देखने आने वालों में इंग्लैंड के एक जेल कमिश्नर श्री पेटरसन भी थे, जिन्होंने हम आठ को भारत के सबसे खतरनाक लोगों में बताया था। हमारी जेल में नियमित रूप से आने वाले थे—मांडले के डिप्टी कमिश्नर (जिला अधिकारी) श्री ब्राउन। मांडले के लोगों के साथ उनका व्यवहार चाहे जैसा रहा हो, हम सरकारी कैदियों या राजबंदियों के साथ उनका बर्ताव बड़ा सीधा और स्पष्ट था। वह एक सुसंस्कृत व्यक्ति थे और हमें उनके साथ बातचीत करने में मजा आता था। साहित्य भिजवाने में वह सहायक थे और जब भी जेल अधिकारियों से किसी बात पर हमारा झगड़ा हुआ उन्होंने बीच में पड़कर उसका फैसला करा दिया। जब कप्तान स्मिथ छुट्टी पर गए तो जेल अधिकारियों से हमारे संबंध अचानक बिगड़ गए। उनके बाद आए मेजर फिडले। कप्तान स्मिथ का स्वभाव मृदु था, उधर मेजर फिडले ऊपर से बहुत कठोर लगते थे और उनका स्वभाव भी अक्खड़ था। छोटी-मोटी बातों पर ही हमारी उनसे ठन गई और हमने भूख हड़ताल शुरू कर दी। खैर, श्री ब्राउन की मध्यस्थता के कारण गलतफहमी दूर हो गई और झगड़ा निपट गया। इसके बाद जब हमने एक दूसरे को और अधिक समझ लिया तो हमें पता चला कि मेजर फिडले तो बहुत ही शरीफ और सीधे सरल व्यक्ति हैं। एक और अधिकारी थे मेजर शेपर्ड जो कुछ समय तक कार्यकारी सुपरिंटेंडेंट रहे। उनके साथ भी हमारा झगड़ा बना ही रहा, लेकिन क्योंकि वह अधिक दिन नहीं ठहरे इसलिए बात बढी नहीं और कोई संकट खड़ा नहीं हुआ।

बर्मा भेजा जाने वाला राजबंदियों का हमारा ही पहला जत्था नहीं था। हमारे आने से एक वर्ष पहले ही एक और बंदी दल वहां भेजा जा चुका था। जब वह पहला जत्था आया तो उसे एक ही जेल में नहीं रखा गया। दो-दो बंदियों को बर्मा की भिन्न-भिन्न

जेलों में भेज दिया गया। उन लोगों को बहुत कष्ट उठाने पड़े थे, क्योंकि वे सब अलग कर दिए गए थे, इस कारण वे अपनी दशा सुधारने के लिए संगठित होकर लड़ भी नहीं सके। इस अवधि में दो सरकारी कैदियों (राजबंदियों) श्री जीवनलाल चटर्जी और श्री भूपेन्द्र कुमार दत्त ने भारत मंत्री लार्ड आलीवियर के नाम एक अर्जी भेजी, जिसमें उन्होंने बंगाल पुलिस की राजनीतिक शाखा के काम की, जिसे भारत में इंटेलिजेंस ब्रांच कहा जाता है, कठोर आलोचना की थी। इस ज्ञापन में मुख्य बात यह कही गई थी कि पुलिस निर्दोष किन्तु अधिक जोशीले नवयुवकों को फंसाने के लिए भड़काने वाले भाड़े के टट्टू रखती है और इस प्रकार क्रांतिकारी षड्यंत्र का हौवा जान-बूझकर बनाया गया है, ताकि वह सरकार से 'खतरा भत्ता' जैसे भत्ते प्राप्त कर सके और भेदियों या मुखबिरों पर खर्च करने के बहाने बहुत सारा पैसा उनके हाथ में रह सके। इस आरोप की पुष्टि में उन्होंने बहुत से तथ्य और आंकड़े आदि भी दिए थे। किसी प्रकार यह पत्र भारतीय समाचार पत्रों के हाथ लग गया। इसके प्रकाशित हो जाने पर स्वराज पार्टी के वक्ता पं. मोतीलाल नेहरू ने लोगों को बिना मुकदमा चलाए जेल में डालने की सरकार की नीति की तीव्र आलोचना करते हुए अपने भाषण में इसका उल्लेख किया। इस पत्र के प्रकाशित होने से सरकार इतनी नाराज हुई कि उसने बर्मा में राजबंदियों पर बहुत कठोर प्रतिबंध लगा दिए। कुछ समय बाद जब सरकार का गुस्सा ठंडा हुआ तो राजबंदियों को एक जेल में लाकर इकट्ठा किया गया। श्री भूपेन्द्र कुमार दत्त को फिर भी नहीं बख्शा गया क्योंकि सरकार इस पत्र के प्रकाशन के लिए उन्हें अच्छी सजा देना चाहती थी।

बर्मा की जेल में हम लोगों को बर्मा के राजनीतिक बंदियों से मिलने का अवसर मिला। हम लोगों ने उनसे बर्मा की राजनीति की पेचीदगियों को समझा। हम वहां जिन लोगों के संपर्क में आए उनमें से कुछ थे वहां के धार्मिक व्यक्ति (जिन्हें बर्मा में हपोंगी कहते हैं) ये पुजारी या हपोंगी जैसे श्रेष्ठ पुरुष मुझे अपने जीवन में कभी देखने को नहीं मिले। बर्मा ऐसा देश है जिसमें कोई जाति या वर्ग नहीं है। शायद सोवियत संघ के बाद यही एक ऐसा देश है जहां इस प्रकार का जाति विहीन समाज है। वहां बौद्ध धर्म एक जीवित धर्म है और जो लोग उसको वास्तव में जीते हैं उनके प्रति लोगों में बड़ी श्रद्धा होती है। सदियों से ये लोग स्त्री-पुरुषों को मुफ्त शिक्षा देते चले आए हैं और नतीजा यह है कि साक्षरता में बर्मा भारत से कहीं आगे है। बर्मा को ब्रिटिश राज में मिला दिए जाने के बाद हपोंगी ही ऐसा वर्ग है, जिसने वहां के मरणासन्न राष्ट्रवाद को जीवित रखा है क्योंकि उन्होंने ब्रिटिश प्रभुत्व और अंग्रेज संस्कृति को कभी स्वीकार नहीं किया। इन लोगों के नेतृत्व में बहुत दिनों तक अंग्रेजों के खिलाफ गुरिल्ला लड़ाई चलती रही। क्योंकि ये लोग निरंतर विदेशी सरकार का विरोध करते रहे हैं इसलिए सरकारी और गैर-सरकारी सभी प्रकार के अंग्रेज इनसे जबरदस्त नफरत करते हैं। एक अनोखी बात यह है कि यह लोग अंग्रेजों के खिलाफ हैं पर साथ ही भारत के पक्षपाती हैं और बर्मा

को भारत से अलग करने के कट्टर विरोधी हैं। भारत के साथ उनका जो सांस्कृतिक सबंध और निकटता है उसके अलावा वे यह भी महसूस करते हैं कि भारत से अलग होने पर उन्हें अपनी आजादी के लिए ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ना और भी कठिन हो जाएगा। बर्मा की अधिकांश जनता में इन धार्मिक व्यक्तियों का प्रभाव बहुत गहरा है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे बर्मी लोग आपस में बहुत बटे हुए हैं। इनमें से अधिकतर लोग उनके विरुद्ध है और भारत-विरोधी तथा अंग्रेजों के समर्थक[1] हैं। उनमें से एक छोटा सा वर्ग है जो राजनीतिक दृष्टि से इन हपौंगियों के साथ है। अग्रेजी पढ़े-लिखे बर्मी लोग यह सोचते हैं कि भारत से अलग होने से उनकी हालत बेहतर हो जाएगी। यद्यपि स्थिति यह है कि अंग्रेज देश के हर क्षेत्र में छाए हैं और वही उसका लाभ उठा रहे हैं न कि भारतीय। अंग्रेजी रग में रंगे बर्मावासियों को सामान्यत अपनी आजादी के लिए लडने का कोई खास ख्याल या इरादा नहीं है। वे यह समझे बैठे हैं कि भारतीयों के बर्मा से निकलते ही सब कुछ अपने आप ठीक हो जाएगा। ये पुजारी या हपौंगी राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध हैं और वे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की राजनीति पर चल रहे हैं। जब मैं बर्मा में था तब वहां के बेताज बादशाह थे एक पुजारी रेवरेंड यू ओत्तमा[2]। मुझे बर्मा में रहकर ऐसा अनुभव हुआ कि पुजारियों को देश में सबसे अधिक समर्थन प्राप्त है। 1920 से उन्होंने बर्मा की विधायिका का बहिष्कार कर रखा था और उसमें उनका कोई प्रतिनिधि नहीं था। इस कारण अंग्रेजों ने समझा कि बर्मा के लोग जैसा कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे बर्मी मांग कर रहे हैं, वास्तव में भारत से अलग होना चाहते हैं। लेकिन हाल के चुनावों से पता चलता है कि जनता भारत से अलग होने के पक्ष मे नही है। पिछले चुनावों के महत्व को इस बात को ध्यान में रखकर और अच्छी तरह समझा जा सकता है कि ये चुनाव पुरानी निर्वाचन सूचियों के आधार पर ही हुए और पृथकता-विरोधी पार्टी के चुनावों से पहले इन्हें सुधारने की मांग को ठुकरा दिया गया। पृथकतावादियों (अग्रेजी पढ़े-लिखे बर्मियों) और पृथकता विरोधियों दोनों की एक सयुक्त पार्टी बनना बहुत कठिन है, क्योंकि बर्मा की राजनीति में व्यक्तियों का विचार अन्य सब बातों से ऊपर है। पुजारी लोग जो पृथकता के विरोधी हैं, एकजुट हैं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे बर्मियो की, जब मैं बर्मा में था, कई पार्टियां

1 बर्मा को भारत से अलग करने के आधार पर संयुक्त संसदीय समिति ने जो नया विधान बनाया है उससे अग्रेजी पढ़े-लिखे बर्मियों को सभवत निराशा होगी और इससे उनके रवैये में परिवर्तन आ सकता है।

2 रेव यू ओत्तमा को देश निकाला दे दिया गया है और अब वे कलकत्ता में रह रहे हैं। उन्हें बर्मा लौटने की इजाजत नहीं है। लगातार जेल भुगतने के कारण उनका स्वास्थ्य चौपट हो गया है। जब मै बर्मा में था तब वहां एक दिलचस्प घटना हुई। रेव यू ओत्तमा जब जेल में थे तो यह अफवाह फैल गई कि उन्हें चोरी से देश के बाहर भारत की एक जेल में भेज दिया गया है। इस बारे में बर्मा की लेजिस्लेटिव कौंसिल में सवाल किए गए। वहां के होम मेम्बर ने इस सवाल से नाराज होकर यह कह डाला कि यू ओत्तमा मेरी जेलो में बद दस हजार अपराधियों में से एक हैं और मुझसे यह आशा नहीं की जा सकती कि मुझे पता हो कि वह इस समय कौन-सी जेल में हैं। यू ओत्तमा के बारे में इस प्रकार के अपमानजनक कथन को सुनकर कौंसिल के सभी गैर-सरकारी सदस्य विरोध स्वरूप सदन से उठकर चले गए। उन सबने अपने-अपने अलग दलों को भेज करके एक ही दल बनाने का निश्चय किया। इस दल का नाम रखा गया पीपुल्स पार्टी।

थीं। उन सबमें महत्वपूर्ण थी—इक्कीस पार्टी।[1] यह नाम इसलिए रखा गया क्योंकि 21 लोगों ने मिल कर इसे स्थापित किया था। बर्मा की राष्ट्रवादी पार्टी का नाम है जी.सी.बी.ए. अर्थात् जनरल कौंसिल आफ बर्मीज एसोसिएशन। वहां जितनी पार्टियां हैं उतनी ही जी.सी.बी.ए. हैं। लोग इस बात पर ताज्जुब करते हैं कि अंग्रेज बर्मा को अलग करने पर उतारू हैं, लेकिन जो लोग बर्मा को समझते हैं उन्हें इस पर ताज्जुब नहीं होना चाहिए। बहुत से अंग्रेज यह सोचते हैं कि यदि भारत हमारे हाथ से निकल जाता है तो बर्मा को अपने हाथ में रखने की कोशिश करना ठीक होगा। बर्मा की आबादी बहुत कम है, यह खनिजों की दृष्टि से बहुत समृद्ध है और इसके कुछ भागों की जलवायु इतनी सुंदर है कि अंग्रेजों के बसने के लिए बहुत उपयुक्त है। इसके अलावा बर्मा सुदूर पूर्व का द्वार है और इसका सामरिक महत्व बहुत अधिक है।

मेरे लिए बर्मा की राजनीति काफी दिलचस्प थी और इससे भी अधिक वह देश और वहां के लोग। मैंने जेल में बहुत सा समय वहां के इतिहास का अध्ययन करने और हमारे दोनों देशों के बीच प्राचीन काल में क्यों और कैसे सांस्कृतिक संबंध रहे, इसकी खोज में व्यतीत किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से क्षत्रिय कबीले भारत से बर्मा आए थे। लंका तथा दक्षिण भारत के लोग अपने साथ बौद्ध धर्म और पाली साहित्य भी लेकर आए थे। बर्मा की संस्कृति और दर्शन भारत से बहुत अधिक प्रभावित रहा है। बर्मी भाषा की वर्णमाला संस्कृत से ली गई है और इसकी लिपि भी बहुत सी भारतीय लिपियों से मिलती-जुलती है। बर्मा के पगोडा (मंदिर) पर, जिनका अपना निराला ही सौंदर्य है, भारत का प्रभाव है। पगान और बर्मा के अन्य प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों में इस प्रकार के भवन और इमारतें भी देखने को मिलेंगी, जिनमें हिन्दू मन्दिर से बर्मी पगोडा तक का परिवर्तन या विकासक्रम स्पष्ट लक्षित होता है। यह तो मैं पहले ही कह चुका हूं कि आम बर्मी की कला अभिरुचि बहुत ऊंचे दर्जे की होती है। मांडले की जेल और दूसरी जेलों के कैदियों की दस्तकारी इतनी सुंदर होती है कि जिसको देखे बिना उसकी सुंदरता की कल्पना नहीं की जा सकती। मांडले की जेल में दो वर्ष में दो-तीन छुट्टियां होती हैं। उन दिनों जेल का सुपरिंटेंडेंट कैदियों को नाचने-गाने की अनुमति देता है और ये लोग इस प्रकार के कार्यक्रम करते हैं जैसे कि नाटक, इसी अवसर के लिए लिखे गए विशेष गीत गाना, अपना राष्ट्रीय नाच नाचना और अपने में से ही वाद्यवृंद (आर्केस्ट्रा) भी तैयार करना जो संगीत में संगत कर सके। यह सब तभी संभव हो सकता है जब कि इन लोगों में एक विकसित और सहज कलागुण हो।

अक्तूबर 1925 में हमारा राष्ट्रीय धार्मिक त्यौहार दुर्गापूजा आने वाला था। हमने सुपरिंटेंडेंट को त्यौहार मनाने और इसके लिए आवश्यक धन प्राप्त करने की अर्जी दी। क्योंकि भारत की जेलों में ईसाई कैदियों को इस प्रकार की सुविधाएं प्राप्त थीं, इस कारण

1. इक्कीस दलों की पार्टी संविधान पर अमल करने की है, जबकि जी.सी.बी.ए. इसके बहिष्कार के पक्ष में थी।

सुपरिंटेंडेंट ने सरकारी मंजूरी की आशा से हमें आवश्यक सुविधाएं दे दीं। पर सरकार ने इतना ही नहीं किया कि यह अनुमति वापस ले ली, बल्कि सुपरिंटेंडेंट मेजर फिंडले की भर्त्सना भी की कि उन्होंने अपनी जिम्मेदारी पर ऐसा कदम क्यों उठाया। इस पर हमने सरकार को सूचित कर दिया कि या तो वह अपने निर्णय पर पुनर्विचार करे अन्यथा हम लोग भूख हड़ताल करने पर मजबूर होंगे। सरकार ने हमारी मांग नहीं मानी और फरवरी 1926 में हमने अनशन शुरू कर दिया। बाहरी दुनिया से हमारा सारा पत्र-व्यवहार बंद कर दिया गया फिर भी ऐसा हुआ कि हमारी भूख हड़ताल शुरू करने के तीन दिन बाद ही कलकत्ता के पत्र 'फारवर्ड' ने हमारी भूख हड़ताल और सरकार को हमने जो अल्टीमेटम दिया था उसकी खबर छाप दी। करीब उन्हीं दिनों 'फारवर्ड' ने इंडियन जेल कमेटी की 1919-21 की रिपोर्ट के कुछ अंश भी प्रकाशित कर दिए। इस कमेटी के सामने जेल विभाग के एक अधिकारी ले. कर्नल मुलवानी ने बयान दिया था कि मेरे उच्च अधिकारी अर्थात बंगाल की जेलों के इंस्पेक्टर जनरल ने मुझे कुछ राजबंदियों के बारे में भेजी गई अपनी स्वास्थ्य रिपोर्टों को वापस लेने और उनकी जगह पर झूठी रिपोर्ट भेजने को मजबूर किया था। इन बातों के प्रकाश में आने से जनता में बहुत रोष फैला। उस समय इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली दिल्ली में चल रही थी। उसमें स्वराज पार्टी के एक सदस्य श्री टी.सी. गोस्वामी ने मांडले जेल की भूख हड़ताल के बारे में एक स्थगन प्रस्ताव पेश कर दिया और ले. कर्नल मुलवानी के साक्ष्य का उल्लेख किया कि किस प्रकार राजबंदियों के स्वास्थ्य के बारे में जेल विभाग झूठी रिपोर्टें तैयार करता है। इसके कारण गृह सदस्य को बड़ी परेशानी हुई और उन्होंने वचन दिया कि मैं अनशनकारी राजबंदियों की शिकायतों को दूर करूंगा। जैसे ही असेम्बली में बहस खत्म हुई, इस बात की जबरदस्त जांच शुरू हो गई कि 'फारवर्ड' के पास वह मसाला कैसे पहुंचा जो उसने प्रकाशित किया। खैर सरकार ने फौरन ही आदेश जारी कर दिए कि हमने जो खर्च किया है, वह उसकी मंजूरी देती है और भविष्य में भी इस प्रकार की धार्मिक आवश्कताओं के लिए धन दिया जाएगा। इस तरह 15 दिन की भूख हड़ताल के बाद हम अपनी लड़ाई जीत गए और हमने अनशन समाप्त कर दिया।

1926 के उत्तरार्ध में एक और दिलचस्प घटना हुई। विधान मंडल भंग कर दिए गए। नए चुनाव नवंबर में होने वाले थे। मेरे साथी कैदी श्री एस.सी. मित्र को इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली के एक चुनाव क्षेत्र से और मुझे बंगाल कौंसिल के लिए कलकत्ता के एक चुनाव क्षेत्र से चुनाव लड़ने के लिए बंगाल कांग्रेस पार्टी ने प्रस्ताव भेजा। हम दोनों ने इस प्रस्ताव को मान लिया और चुनाव में खड़े होने का निश्चय किया। श्री मित्र तो निर्विरोध चुन लिए गए लेकिन मुझे एक तगड़े प्रतिद्वंदी बंगाल लिबरल पार्टी के नेता श्री जे.एन. बसु से टक्कर लेनी पड़ी। पिछले चुनाव में श्री बसु स्वराज पार्टी के उम्मीदवार को हरा कर अपनी सीट कायम रख सके थे। कांग्रेस पार्टी ने सोचा कि उन्हें हराने के लिए मुझे उनके खिलाफ खड़ा करना चाहिए। वह अपने चुनाव क्षेत्र में बहुत ही लोकप्रिय

थे और अति सज्जन पुरुष थे। हमारा उनकी उदार राजनीति के सिवा उनसे और किसी प्रकार का विरोध नहीं था। इस साल का बंगाल का यह बडे काटे का चुनाव था। इस कारण इसे जीतने के लिए पार्टी को जी-तोड कोशिश करनी पडी। यह चुनाव आयरलैंड के प्रारंभिक सिन फीएन चुनावों की तरह था जिनमें राजनीतिक बंदी चुनावों मे खडे होते थे और उनका नारा होता था 'उसे बाहर निकालने के लिए अंदर भेजो' (पुट हिम इन टु गेट हिम आउट)। पार्टी चुनाव जीतने के लिए चुनाव के आधुनिक तरीके इस्तेमाल करती थी। एक तरीका था राकेटो के जरिये पर्चो और इश्तहारो का जनता मे बाटना जिनमें उम्मीदवार जेल के सीखचों के पीछे दिखाए जाते थे। मेरे मतदाता महसूस करते थे कि मेरी जीत मुझमें जनता के विश्वास का मत होगा और सरकार या तो मुझे रिहा करने पर मजबूर हो जाएगी या फिर मुझ पर मुकदमा चलाएगी। नतीजा यह हुआ कि मैं भारी बहुमत से जीता। लेकिन भारत सरकार जनमत का उतना आदर करने वाली नहीं थी जितना आयरलैंड की सरकार ने किया था, लिहाजा मैं जेल में ही पडा रहा।

इस बीच प्रतिकूल जलवायु और साल के शुरू मे की जाने वाली भूख हडताल की वजह से मेरा स्वास्थ्य जवाब देने लगा। जब 1926 की सर्दियों मे मुझे ब्रोंकानिमोनिया हो गया, तो स्थिति और गभीर हो गई। मेरा ज्वर नहीं उतरा और वजन घटने लगा। अत मेरी डाक्टरी परीक्षा के लिए मुझे रगून भेज दिया गया, जहा एक बोर्ड द्वारा मेरी जाच होनी थी। मेडिकल बोर्ड मे थे—ले कर्नल केलसल और मेरे भाई डा सुनील चद्र बोस। बोर्ड ने अपना निर्णय दिया कि मुझे जेल में नहीं रखा जाना चाहिए। जब मैं रगून जेल में सरकार के आदेश की प्रतीक्षा कर रहा था, मेरा सुपरिंटेंडेंट मेजर फ्लावरड्यू से झगडा हो गया जिसकी वजह से मुझे इनसीन जेल भेज दिया गया। इनसीन जेल भेजा जाना मेरे लिए मानो एक भगवत्कृपा हुई। यहा पहुच कर मुझे पता चला कि यहा के सुपरिंटेंडेंट मेजर फिडले हैं, जो पहले कुछ समय के लिए माडले जेल के ही सुपरिटेडट थे। यहा उन्हें मेरे खराब स्वास्थ्य को देखकर बडा दुख और आश्चर्य हुआ। मुझे तीन सप्ताह तक देख-रेख (आब्जर्वेशन) में रखने के बाद उन्होने सरकार को मेरे स्वास्थ्य के बारे में बहुत तगडा नोट लिखा। इस नोट को पाकर सरकार को कार्रवाई करने के लिए बाध्य होना पडा। लेकिन वह मेरी रिहाई के अभी भी खिलाफ थी। इस बीच सरकार ने बगाल कौंसिल में यह प्रस्ताव किया कि यदि मैं चाहू तो अपने खर्च पर स्विट्जरलैंड जा सकता हू और वह मुझे रिहा करके रगून मे यूरोप जाने वाले जहाज पर सवार करा देगी। इस प्रस्ताव को मैंने ठुकरा दिया। एक तो इस कारण कि मैं इसके साथ जुडी हुई शर्तों को नहीं मान सकता था और दूसरे इस कारण कि अनिश्चित समय के लिए बर्मा से सीधे यूरोप नहीं जाना चाहता था। मेरे इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देने के बाद सरकार ने अगला आदेश दिया मुझे सयुक्त प्रात की अल्मोडा जेल में बदली कर देने का। फिर से मेरी बदली के सारे प्रबध बडे ही गुप्त रखे गए और मई 1927 को एक दिन तडके ही मुझे इनसीन जेल से निकाल कर रगून मे रवाना होने वाले एक जहाज में सवार करा दिया गया। चौथे

दिन मैं हुगली के मुहाने पर डायमंड हार्बर पहुंचा। मेरे जहाज के कलकत्ता पहुंचने से पहले ही इसे बीच में रोका गया और वहां मुझे मिले श्री लोमैन (जो तब पुलिस की इंटेलिजेंस शाखा के अध्यक्ष थे)। उन्होंने मुझसे जहाज से उतरने को कहा। मैंने सोचा कि यह मुझे कलकत्ता से बाहर ले जाने की चाल है और इस कारण मैंने जहाज से उतरने से इंकार कर दिया। लेकिन मुझे विश्वास दिलाया गया कि हिज एक्सीलैंसी गवर्नर ने हमारे लिए अपना लांच (मोटर नौका) भेजा है और मुझे एक डाक्टरी बोर्ड के सामने स्वास्थ्य की जांच के लिए जाना है तथा डाक्टर लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस पर मैं जहाज से उतरने को राजी हो गया। इस डाक्टरी बोर्ड में थे —सर नीलरतन सरकार, डा. बी.सी. राय, ले. कर्नल सैंड्स और गवर्नर के चिकित्सक मेजर हिंग्स्टन। इन लोगों ने मेरे स्वास्थ्य की जांच की और अपनी रिपोर्ट को तार द्वारा गवर्नर के पास दार्जिलिंग भेजा। मैं उस दिन गवर्नर के लांच पर ही रहा। अगले दिन सुबह श्री लोमैन हाथ में एक तार लिए मेरे पास पहुंचे और आकर मुझे सूचना दी कि गवर्नर ने मेरी रिहाई के आदेश दिए हैं। यह कह कर उन्होंने रिहाई का सरकारी आदेश मुझे पकड़ा दिया। उस दिन 16 मई, 1927 थी लेकिन आदेश पर हस्ताक्षर 11 मई के थे। यह बात मेरी समझ में नहीं आई। मैंने श्री लोमैन से पूछा कि उन्होंने 15 तारीख को डाक्टरी जांच का ढोंग क्यों किया जबकि रिहाई का आदेश 11 तारीख को ही दिया जा चुका था। पहले तो उन्होंने जवाब नहीं दिया पर जब अपनी बात पर मैंने बहुत जोर दिया तो उन्होंने बताया कि रिहाई के कुछ अन्य आदेशों पर भी हस्ताक्षर करके उन्हें तैयार रखा गया था। इसमें मुझे अल्मोड़ा ले जाए जाने का आदेश भी था। साथ ही यह निश्चय किया गया था कि अंतिम निर्णय तब होगा जब दार्जिलिंग में गवर्नर मेरे स्वास्थ्य के बारे में डाक्टरी बोर्ड की रिपोर्ट को देख लेंगे। बाद में मुझे पता चला कि जब डाक्टरी बोर्ड जांच कर रहा था कि क्या रिपोर्ट दी जाए तो पुलिस अफसर इस बात पर जोर दे रहे थे कि यह मेरे अल्मोड़ा या स्विट्जरलैंड जाने के पक्ष में अपनी रिपोर्ट दें। लेकिन मेरे सौभाग्य से बोर्ड ने उनकी बात मानने से इंकार कर दिया। इस तरह यह बात साफ हो गई कि अंतिम क्षण तक पुलिस विभाग ने मेरी रिहाई को रोकने की पूरी कोशिश की। यदि और कोई व्यक्ति गवर्नर होता तो वे निश्चय ही सफल हो गए होते। मेरे सौभाग्य से नए गवर्नर सर स्टेनले जैक्सन खुला दिमाग लेकर आए थे और यह दबंग व्यक्ति थे। एक सुलझे हुए राजनीतिज्ञ की अचूक दृष्टि से उन्होंने जनता की शिकायत को समझ लिया था। उन्होंने अपने पद पर आते ही कुछ ही दिनों में जनता की इस मांग को भलीभांति महसूस कर लिया था कि उसे अत्याचारी पुलिस विभाग से निजात मिले। लार्ड लिटन के अधीन एक प्रकार से पुलिस विभाग का ही राज था और कलकत्ता का पुलिस कमिश्नर ही मानो बंगाल का गवर्नर था। यह सारी स्थिति अब बदल गई थी। अपना पद संभालने के कुछ ही दिनों के भीतर सर स्टेनले जैक्सन ने प्रत्येक को यह जता दिया कि आगे मैं बंगाल पर हुकूमत करूंगा न कि पुलिस कमिश्नर। जब कभी पुलिस और जनता में कोई टकराव होता, वह

न्याय करने की ही कोशिश करते भले ही पुलिस इससे नाराज हो। उनकी दृढ़ता और चतुराई के कारण चार साल तक कोई उत्पात नहीं हुआ। जब सारे भारत में एक और व्यापक विद्रोह उठ खड़ा हुआ तभी बंगाल फिर से देश के राजनीतिक तूफान का केन्द्र बना।

अध्याय 8

पारा चढ़ा (1927-28)

वर्ष 1927 का अंत आते-आते अंधकार छंटने लगा और क्षितिज पर एक बार फिर प्रकाश की लालिमा दिखाई पड़ने लगी। देशबंधु की मृत्यु के बाद जो संकीर्णता, स्वार्थ और जुनून नजर आने लगा था उससे देश की जनता की आत्मा को ग्लानि होने लगी और एक बार फिर उसने अंगड़ाई ली। इस नए जागरण में देश के नवयुवकों का हाथ सबसे अधिक था। कांग्रेस का नेतृत्व फिर कमजोर साबित हुआ। महात्मा गांधी भीषण मानसिक हतोत्साह से पीड़ित और सक्रिय राजनीति से अलग हो कर रह रहे थे। पं. मोतीलाल नेहरू कुछ तो अपने पेशे के काम से और कुछ अपनी पुत्रवधू की बीमारी के कारण यूरोप चले गए थे। ऐसी हालत में दायित्व आ पड़ा श्री श्रीनिवास आय्यंगार पर और उन्होंने समय की मांग को पूरा करने की कोशिश भी की। वह साम्प्रदायिक सद्भाव और मित्रता स्थापित करने की खातिर 1927 में अधिकाश समय देश का दौरा करते रहे। उनकी उस साल की उल्लेखनीय सफलता थी कलकत्ता में नवंबर में हुआ एकता सम्मेलन जिसका आयोजन और अध्यक्षता उन्होंने ही की थी। इससे उस बड़े उफान का रास्ता साफ हुआ, जिसमें सब संप्रदायों और पार्टियों को एक बार फिर से मिलकर भाग लेना था। बंगाल में जहां 1926 में सांप्रदायिकता का भयंकरतम रूप दिखाई दिया था वहां एक नए युग के प्रभात का आभास होने लगा था। अगस्त में बंगाल की लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक अविश्वास प्रस्ताव की वजह से मंत्रीगण फिर निकाल दिए गए थे। करीब इसी समय बंगाल नागपुर रेलवे के सबसे बड़े खड़गपुर रेल वर्कशाप में हड़ताल हो गई। यह स्थान कलकत्ता से 70 मील दूर है। कर्मचारियों का संगठन इतना मजबूत निकला कि कंपनी को झुकना पड़ा और कर्मचारियों की मांगें माननी पड़ीं। नवंबर में कलकत्ता में हुए एकता सम्मेलन से वातावरण कुछ साफ हुआ और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच फिर से मैत्री संबंध कायम होने में मदद मिली। इसी महीने, बाद में जब बंगाल कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई तो बंगाल के कांग्रेस कार्यकर्ताओं में उत्साह के चिन्ह दिखाई देने लगे थे। खैर, इस जागरण में सबसे प्रबल रूप से सहायता पहुंचाई सरकार की ही कार्रवाई ने।

जब नवंबर 1927 में वाइसराय ने एक भारतीय कानूनी कमीशन (इंडियन स्टेचुटरी कमीशन) नियुक्त करने की घोषणा की, तो यह भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए एक शुभ घड़ी या वरदान सिद्ध हुई। यह नियुक्ति गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1919 की धारा 84ए के अधीन की गई थी जिसमें भारत की राजनीतिक स्थिति पर हर दस वर्ष

बाद समीक्षा करने का प्रावधान था। यह कुछ-कुछ उन्हीं राजनीतिक समीक्षाओं की तरह था जिस तरह हर दस साल बाद ब्रिटेन की पार्लियामेंट ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारपत्र की बहाली के समय उसके काम के बारे में किया करती थी। यह कमीशन 1929 में नियुक्त होना चाहिए था क्योंकि अब इंग्लैंड में कंजरवेटिव पार्टी की सरकार थी इसलिए यह काम दो साल पहले ही किया जाना कुछ आश्चर्यजनक सा था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तो संविधान को बदलने के लिए 1920 में ही गोलमेज सम्मेलन बुलाए जाने पर जोर दे रही थी ताकि जल्दी औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जा सके। लेकिन ब्रिटिश सरकार बराबर इस मांग को ठुकराती रही थी। कंजरवेटिव पार्टी 1919 के सुधारों के पक्ष में कभी नहीं थी क्योंकि इसके जनक थे लिबरल पार्टी के श्री मान्टेग्यू। यद्यपि ये सुधार भारतीय जनमन की दृष्टि में अपर्याप्त और असंतोषजनक ही थे। कंजरवेटिव पार्टी चाहती थी कि वह अपनी ही सत्ता में रहते-रहते भारत के सवाल का निपटारा कर दे ताकि यदि अगली बार लेबर पार्टी की सरकार फिर सत्ता में आ जाए तो स्वराज्य (होम रूल) के बारे में उसे भारत को और अधिक रियायतें देने का अवसर ही न मिले। क्योंकि इंग्लैंड में अगले चुनाव 1930 में होने वाले थे इसलिए कंजरवेटिव पार्टी के मंत्रिमंडल ने 1927 में ही कानूनी कमीशन (स्टेचुटरी कमीशन) नियुक्त कर देना जरूरी समझा।

इस कमीशन मे ये लोग थे : सर जान साइमन (अध्यक्ष), वाइकाउंट बर्नहम, लार्ड स्ट्रेथकोना, आनरेबल एडवर्ड कैडोगन, श्री स्टीफन वाल्श, मेजर एटली और कर्नल लेन फाक्स (श्री वाल्श ने बाद में त्यागपत्र दे दिया था और उनकी जगह श्री वरनन हार्टशोर्न नियुक्त किए गए थे)। कमीशन के सात सदस्यों में से दो लेबर पार्टी के, एक (अध्यक्ष) लिबरल पार्टी का और बाकी कंजरवेटिव पार्टी के थे। इस प्रकार ब्रिटेन की सभी पार्टियों का इस कमीशन के काम के लिए सहयोग प्राप्त किया गया था। कमीशन को शासन प्रणाली के काम, शिक्षा के विकास और ब्रिटिश भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास तथा उससे संबद्ध मामलों की जांच करने और यह पता लगाने का काम सौंपा गया था कि उत्तरदायी शासन की स्थापना के सिद्धांत किस हद तक अभीष्ट हैं या स्थानीय विधायिकाओं में दूसरा सदन स्थापित करना उचित है अथवा नहीं। इन प्रश्न संकेत इस चीज का पता लगाना कि वर्तमान में जो उत्तरदायी सरकार है उसको कितना बढ़ाना, घटाना या परिवर्तित करना अभीष्ट होगा। सरकार की ओर से कहा गया कि कमीशन में किसी भारतीय को इस कारण शामिल न करने के लिए मजबूर होना पड़ा कि यह खालिस संसदीय कमीशन है। संसदीय कमीशन क्यों आवश्यक था इसे वाइसराय ने इन शब्दों में समझाने की कोशिश की -- "इस बात से आम सहमति होगी कि आवश्यकता ऐसे कमीशन की थी जो कि निष्पक्ष हो और पार्लियामेंट के सामने तथ्यों की सही-सही तस्वीर रख सकने में सक्षम हो। साथ ही यह एक ऐसा निकाय भी हो, जिसकी सिफारिशों पर पार्लियामेंट ऐसी कार्रवाई करने की इच्छुक भी हो जो इन तथ्यों के अध्ययन से आवश्यक

गवर्नरों ने बहुत से सार्वजनिक व्यक्तियों को बुलाकर यह समझाया कि सरकार का इसके पीछे मकसद और इरादा क्या है। यह कमीशन 26 नवम्बर, 1927 के शाही वारंट द्वारा नियुक्त किया गया था, और उसी महीने भारत मंत्री लार्ड बर्केनहैड ने कमीशन की नियुक्ति पर हाउस आफ लार्ड्स में भाषण करते हुए भारतीय राजनीतिज्ञों को इस बात की चुनौती दी कि वे भारत के लिए सर्व-सहमत संविधान बना कर दिखाएं।

इस स्टेचुटरी कमीशन की घोषणा की देश के सभी भागों के कांग्रेसी नेताओं और जनता ने एक स्वर से आलोचना और भर्त्सना की। आत्मनिर्णय के विचार की भारतीय जनता अब इतनी आदी हो चुकी थी कि वह ब्रिटिश पार्लियामेंट को भारत की भाग्य-विधाता मानने को कतई तैयार नहीं थी। अतः यह अस्वाभाविक नहीं था कि कांग्रेस ने संकोच और देर किए बिना इस कमीशन (जिसे आमतौर से साइमन कमीशन कहा जाता है) का फौरन बायकाट करने का निश्चय किया। खैर, सरकार को भी इससे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। उनके लिए आश्चर्य की बात थी भारत के उदारपंथियों (लिबरलों) द्वारा बायकाट का निर्णय। असल में भारतीयों को जो बात अखरी वह आत्मनिर्णय के सिद्धांत का उल्लंघन नहीं था वरन् इस कमीशन में सारे ही अंग्रेज सदस्यों का होना और किसी भी भारतीय का न होना था। ब्रिटिश सरकार के इस असहयोग के होते लिबरल लोग भारत-ब्रिटिश सहयोग के अपने प्रिय सिद्धांत को कैसे कायम रख सकते थे ? लिबरलों के रवैये को दिसंबर में इलाहाबाद में आयोजित एक सार्वजनिक सभा के एक स्वीकृत प्रस्ताव में स्पष्ट कर दिया गया। इसके सभापति सर तेजबहादुर सप्रू थे। इस प्रस्ताव में भारतीयों को कमीशन में स्थान न देने को भारत की जनता का जानबूझ कर किया गया अपमान बताया गया, जिससे भारतीयों की लघुता की स्थिति ही पक्की नहीं होती बल्कि और भी बुरी बात यह है कि उन्हें अपने ही देश का विधान बनाने के काम में भाग लेने तक का अधिकारी नहीं माना गया। लिबरल फेडरेशन का बंबई में जो दसवां अधिवेशन सर तेजबहादुर सप्रू की ही अध्यक्षता में इसी साल हुआ, उसमें साइमन कमीशन को ठुकरा देने का निश्चय किया गया।

नवंबर में एकता सम्मेलन के बाद अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का दिसंबर में कलकत्ता में अधिवेशन हुआ। लीग ने एकता सम्मेलन के सुझावों के अनुसार हिन्दू-मुस्लिम एकता की सिफारिश करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। लीग ने भी साइमन कमीशन के बायकाट की अपील की और मुसलमानों के लिए कुछ सीटों को सुरक्षित रखने के प्रावधान के साथ संयुक्त निर्वाचन पद्धति को स्वीकार किया। यह निर्णय राष्ट्रवादी मुसलमानों की विजय थी। यह केवल इस कारण संभव हो सका कि प्रमुख मुस्लिम नेता अली बंधुओं ने इस अधिवेशन में भाग लिया था और उन्होंने राष्ट्रवादी दृष्टिकोण की हिमायत की थी। इसी महीने कानपुर में आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और पहली बार यहां कम्युनिस्ट लोग ठोस दल के रूप में जमा हुए और जिन्होंने

स्वतंत्र समाजवादी गणराज्य और एम्स्टरडम की ब्रिटिश ट्रेड यूनियन से नाता तोड़ने की हिमायत की। दिसंबर के अंत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का मद्रास में अधिवेशन हुआ जिसके सभापति राष्ट्रवादी मुसलमान नेता दिल्ली के डा. एम.ए. अंसारी थे। मद्रास कांग्रेस दो कारणों से स्मरणीय थी। इसने एक तो साइमन कमीशन के बायकाट का फैसला किया। इसके साथ ही एक ऐसा प्रस्ताव भी पास किया, जिसमें अपनी कार्यसमिति को आदेश दिया गया था कि वह भारत की सभी पार्टियों को स्वीकार्य संविधान बनाने की दृष्टि से एक अखिल भारतीय सर्वदलीय सम्मेलन बुलाए। हां, एक विपरीत सा लगने वाला प्रस्ताव भी स्वीकार किया गया जिसमें भारतवासियों का लक्ष्य 'पूर्ण स्वाधीनता' घोषित किया गया।[1]

मद्रास कांग्रेस की कार्यवाही से साफ हो गया था कि साइमन कमीशन की नियुक्ति बड़ी ही शुभ घड़ी में हुई थी और इससे जनता के उत्साह को बढ़ाने में बड़ी मदद मिली। एक कोने से दूसरे कोने तक देश ने ऐसी एकता और संगठन का परिचय दिया, जैसा हाल के वर्षों में पहले कभी देखने में नहीं आया था। इसी एकता की भावना से और हाउस आफ लार्ड्स में लार्ड बर्केनहैड की चुनौती का जवाब देने के संकल्प से ही सर्वदलीय सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया था। पूरी तरह गोरों का कमीशन नियुक्त होने से जो कुछ असर पड़ा वह तो था ही, उसी समय कांग्रेस में एक और बात भी हुई, जिसकी कांग्रेस पर अमिट छाप पड़ी। वह थी नवयुवकों में जागृति। कांग्रेस का युवा वर्ग पिछले कुछ वर्षों से बराबर अधिक उग्र विचारधारा की मांग करता आ रहा था और उनके प्रभाव के कारण समय-समय पर प्रांतीय सम्मेलनों में ऐसे प्रस्ताव पास किए जाते, जिनमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से सिफारिश की जाती कि वह भारतवासियों का लक्ष्य पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता घोषित करे। अतः मद्रास कांग्रेस का स्वाधीनता संबंधी प्रस्ताव उस प्रक्रिया की स्वाभाविक परिणति थी जो कांग्रेस के भीतर लम्बे समय से चल रही थी। कांग्रेस ने इस प्रस्ताव के साथ-साथ एक और महत्वपूर्ण कदम यह उठाया कि उसने वामपक्ष के प्रतिनिधियों को कार्यकारिणी में भी स्थान दिया। आगामी वर्ष के लिए जो महामंत्री नियुक्त किए गए थे वे थे पं. जवाहरलाल नेहरू, श्री शोएब कुरैशी और मैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मद्रास कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को वामपक्ष की ओर निश्चित रूप से मोड़ देने वाली साबित हुई।

मद्रास कांग्रेस के महत्व को बढ़ाने वाली एक और बात यह थी कि जवाहरलाल नेहरू यूरोप से लौट आए थे और उन्होंने इस कांग्रेस की कार्यवाही में भाग लिया था। पं. जवाहरलाल नेहरू का जीवन बड़ा दिलचस्प रहा था।

---

1 यह प्रस्ताव मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन में सर्वसम्मति से पास हुआ था लेकिन बाद में महात्मा गांधी ने घोषणा की कि इसे जल्दी में बिना विचार किए पास कर दिया गया। लाला लाजपत राय ने कहा कि यह इस कारण पास किया गया क्योंकि बहुत से लोग औपनिवेशिक दर्जे और राष्ट्रीय स्वाधीनता को एक ही चीज समझते थे। दिसंबर 1929 में महात्माजी ने स्वयं ऐसा ही प्रस्ताव रखा और वह सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।

उन्होंने कैम्ब्रिज में अध्ययन समाप्त कर वकालत शुरू की। लेकिन 1920 में असहयोग आंदोलन शुरू हुआ तो उन्होंने वकालत का पेशा छोड़ दिया और महात्माजी के अनुयायी बन गए। लोगों का कहना है कि अपने पिता पं मोतीलाल नेहरू को भी वकालत छोड़ने को राजी करने के लिए वही जिम्मेदार है। वह स्वराज पार्टी वालों से विधायिकाओं के भीतर जाकर काम करने के सवाल पर सहमत नहीं थे और जब से वे लोग सत्ता में आए उन्होंने (पं. जवाहरलाल नेहरू) कांग्रेस की बैठकों, सम्मेलनों आदि में खुद पीछे रहना ठीक समझा। बाद में वह अपनी बीमार पत्नी के इलाज के लिए यूरोप में रहे और वहां रहकर उन्होंने यूरोप की हाल की उथल-पुथल और खासकर सोवियत रूस के बारे में अध्ययन किया। जब से वह भारत लौट कर आए हैं उन्होंने अपनी नई विचारधारा को प्रकट किया है और अपने आप को समाजवादी घोषित किया है। इस बात का कांग्रेस के वामपक्ष ने और देश के युवक संगठनों ने बेहद स्वागत किया। मद्रास कांग्रेस में उनके सार्वजनिक जीवन का नया दौर सामने आया।

साइमन कमीशन के विरोध की जो ठोस चट्टान खड़ी हो गई, उसे देखकर सरकार की आंखें खुल गईं। अतः फरवरी 1928 में भारत पहुंचते ही सर जान साइमन ने वाइसराय को लिखकर सुझाव दिया कि कमीशन की बैठकें 'संयुक्त स्वतंत्र सम्मेलन' की तरह होनी चाहिएं जिसमें सात ब्रिटिश प्रतिनिधि हों और भारतीय विधायिकाओं से लिए गए प्रतिनिधियों का दल भी रहे। सर शंकरन नायर के पूछने पर सर जान साइमन ने यह भी लिखा कि विधायिकाओं की ओर से नियुक्त समितियों की रिपोर्टों को कमीशन द्वारा पार्लियामेंट के सामने पेश की जाने वाली मुख्य रिपोर्ट के साथ नत्थी किया जाएगा। सर जान साइमन की इस तरकीब के बावजूद सभी पार्टियों के नेताओं ने दिल्ली से एक संयुक्त घोषणापत्र जारी किया जिसमें कहा गया कि कमीशन के प्रति हमारा विरोध कायम है। इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली में लाला लाजपत राय ने साइमन कमीशन की भर्त्सना करते हुए एक प्रस्ताव पेश किया और वह विधिवत पास हो गया। इसके अनुसार अब साइमन कमीशन से सहयोग करने के लिए कोई समिति नियुक्त नहीं की जा सकती थी। प्रांतीय विधायिकाओं में से केवल मध्य प्रांत की कौंसिल ही समिति की नियुक्ति को रोक सकी। अन्य प्रांतों में कांग्रेस और उदार दल (लिबरल) के विरोध के बावजूद अन्य सभी प्रांतीय कौंसिलों ने कमीशन के साथ सहयोग करने के लिए समितियां नियुक्त कीं।

'साइमन सैवन' अर्थात् सात सदस्यीय साइमन कमीशन के भारत पहुंचते ही अ.भा. हड़ताल और बायकाट आदि प्रदर्शनों से उसका स्वागत किया गया। इनका आयोजन कांग्रेस कार्यकारिणी के आदेश पर किया गया था। सारे ही देश में और खासकर बंगाल में बहुत जोश था। जनता कांग्रेस से एक निश्चित दिशा-निर्देश की अपेक्षा करती थी ताकि बायकाट का उन पर पूरा प्रभाव हो सके जिनके खिलाफ यह होना था। लेकिन कांग्रेस के प्रधान कार्यालय से इस प्रकार का कोई निर्देश प्राप्त नहीं हुआ। केवल बंगाल में बंगाल प्रांतीय

कांग्रेस कमेटी ने अपनी जिम्मेदारी पर कमीशन के बंबई में जहाज से उतरने वाले दिन ब्रिटिश माल के बायकाट का जोरदार अभियान चलाया। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि यदि कांग्रेस पूरे साहस से काम लेती तो 1930 में उसने जो आंदोलन शुरू किया वह दो साल पहले ही किया जा सकता था और साइमन कमीशन की नियुक्ति को लेकर इस आंदोलन को आरंभ किया जा सकता था। जब मैं महात्माजी से मई 1928 में उनके साबरमती आश्रम में मिला तो उन्हें बताया कि बहुत से प्रांतों में अत्यधिक उत्साह देखने को मिला है। मैंने गांधीजी से प्रार्थना की कि वे अपना एकांतवास छोड़कर देश का नेतृत्व करें। इस पर महात्माजी ने मुझसे कहा कि उन्हें कोई प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता हालांकि उनकी निगाह के सामने ही बारडोली के किसान लगानबंदी आंदोलन चला कर यह दिखा रहे थे कि वे संघर्ष के लिए तैयार हैं। 1928 और 1929 के वर्षों में मजदूरों में इतना घोर असंतोष था कि यदि उस समय कोई राजनीतिक आंदोलन शुरू किया जाता तो यह बहुत सामयिक होता और बड़ी बात यह थी कि पंजाब और बंगाल जैसे प्रांतों में 1928 और 1929 में जितना उत्साह और जोश था उतना 1930 में नहीं रहा था। जब 1930 में महात्माजी ने आंदोलन शुरू किया तो मजदूरों का असंतोष बहुत हद तक खत्म हो चुका था और कुछ प्रांतों में स्थिति पहले से काफी शांत थी। 1930 में आंदोलन शुरू करने के बाद महात्माजी ने अपने पत्र 'यंग इंडिया' में लिखा कि मैं दो साल पहले आंदोलन शुरू कर सकता था। 1928 की स्थिति का लाभ न उठाने की जिम्मेदारी सिर्फ महात्माजी पर ही नहीं आती बल्कि स्वराज पार्टी के नेताओं पर भी आती है, जिनके हाथों में उस समय कांग्रेस की बागडोर थी, पर दुर्भाग्य से वे लोग अपनी गतिशीलता खो बैठे थे। यदि उस समय देशबंधु जैसा नेता देश में रहता, तो उसी प्रकार की सब कार्यवाहियां 1928 में फिर हो सकती थीं जिस प्रकार की प्रिंस आफ वेल्स के भारत आगमन पर 1921 में हुई थीं।

चारों तरफ जो विरोध हो रहा था उसकी परवाह न करते हुए साइमन कमीशन एक स्थान से दूसरे स्थान तक बराबर दौरा करता रहा। वह जहां भी जाता वहीं उसे काली झंडों, तीव्र प्रदर्शनों और 'साइमन वापस जाओ' के नारों का सामना करना पड़ता। सरकार ने कुछ मुसलमानों और परिगणित जातियों (हरिजनों) की सहायता से प्रति-प्रदर्शन कराने की कोशिश की लेकिन वे सफल नहीं हुईं। यद्यपि बायकाट को कड़ाई से अहिंसा की परिधि में ही रखा गया, पर जहां भी कमीशन गया पुलिस आदि का कड़ा प्रबंध किया गया और कई स्थानों पर व्यर्थ में ही दमनात्मक कार्रवाई की गई। जहां भी सशस्त्र पुलिस और निःशस्त्र जनता में टक्कर हुई वहां कोई गंभीर घटना नहीं घटी, सिवा एक स्थान लाहौर के। लाहौर के काले झंडों के प्रदर्शन का नेतृत्व लाला लाजपतराय कर रहे थे। प्रदर्शनकारियों पर पुलिस ने लाठियां और डंडे बरसाए। लाला लाजपतराय क्योंकि प्रदर्शन में आगे-आगे थे उन्हें गम्भीर चोटें लगीं और वह कुछ समय तक बिस्तर पर पड़े रहे। पहले तो वह कुछ समय तक ठीक रहे पर चोट के कारण उनके हृदय को सदमा पहुंचा

से आघात पहुंचा था जिसके कारण दुबारा रोग उभरा और वह उनके प्राण लेकर ही गया। लाला लाजपतराय की मृत्यु से जनता में बहुत रोष और नफरत फैली और क्योंकि साइमन कमीशन उनकी मौत के लिए अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार था इस कारण यह कमीशन उन लोगों में और बदनाम हो गया जो पंजाब के इस महान नेता का बड़ा आदर करते थे।

नेताओं का काम साइमन कमीशन के बायकाट तक ही सीमित नहीं था, उनके सामने बड़ा काम था एक सहमत संविधान तैयार करके लार्ड बर्केनहेड की चुनौती का करारा जवाब देना। इसी उद्देश्य से मार्च 1928 में दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ। सम्मेलन को जिस कठिनतम समस्या को सुलझाना था वह थी नए विधान के अंतर्गत विधान मंडलों में हिन्दू-मुस्लिम-सिख प्रतिनिधित्व का प्रश्न। जब यह सम्मेलन दुबारा मई में बंबई में हुआ तो स्थिति निराशाजनक नजर आई क्योंकि इस दिशा में गाड़ी जरा भी आगे नहीं बढ़ सकी थी। महात्मा गांधी की समझदारी से सम्मेलन ने अपनी असफलता को सार्वजनिक रूप से प्रकट न करके भारत के लिए नए संविधान के सिद्धांत तय करने और उनके बारे में एक रिपोर्ट देने के लिए पं. मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक छोटी सी समिति नियुक्त कर दी। समिति की इलाहाबाद में कई बैठकें हुई और अंत में इसने अगस्त में एक रिपोर्ट दी।[1] यह रिपोर्ट प्राक्कथन (प्रीएम्बल) में कुछ रिजर्वेशन के साथ सर्वसम्मत थी और इस पर हस्ताक्षर करने वाले थे पं. मोतीलाल नेहरू, सर अली इमाम, सर तेजबहादुर सप्रू, श्री एम.एस. अणे, सरदार मंगलसिंह, श्री शोएब कुरैशी, श्री जी.आर. प्रधान और मैं। आमतौर से इस कमेटी को नेहरू कमेटी कहा जाता है। इसकी रिपोर्ट का देश के सब राष्ट्रवादियों ने हृदय से स्वागत किया क्योंकि इसके कारण साइमन कमीशन का काम अनावश्यक हो गया था। महात्मा गांधी ने पं. मोतीलाल नेहरू को उनके काम पर बड़ी भावपूर्ण बधाई दी। उन्होंने इसके लिए बड़ी मेहनत की थी और उनके लिए निश्चय ही यह बड़ी उपलब्धि थी। अगस्त में लखनऊ में सर्वदलीय सम्मेलन के खुले अधिवेशन के सामने इसी रिपोर्ट को पेश किया गया और सर्वसम्मति से इसे स्वीकार किया गया। फिर से इसे दिसंबर 1928 में कलकत्ता में जब सर्वदलीय सम्मेलन के सामने लाया गया तो मुस्लिम लीग, सिख लीग और हिन्दू महासभा की ओर से इस पर आपत्तियां उठाई गईं। मुस्लिम लीग का विरोध सबसे उग्र था। इसी कारण अन्य दोनों संस्थाओं ने भी विरोध किया।

नेहरू रिपोर्ट के प्राक्कथन (प्रीएम्बल) में कहा गया था कि चूंकि अल्पमत (मैं भी इसी में शामिल था) को औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) स्वीकार नहीं था और वह पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता के संविधान का आधार बनाने पर जोर दे रहा था इस कारण संविधान के मौलिक आधार के प्रश्न पर समिति एकमत नहीं हो सकी। खैर,

1 सर्वदलीय सम्मेलन (आल पार्टीज कांफ्रेंस) की इस समिति की रिपोर्ट जो भारत के संविधान के सिद्धांत तय करने के लिए नियुक्त की गई थी। इंडियन नेशनल कांग्रेस, इलाहाबाद, 1928 द्वारा प्रकाशित।

नेहरू समिति के अधिकतर सदस्यों ने औपनिवेशिक स्वराज्य को संविधान का आधार माना पर अन्य पार्टियों के, जिनका लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता थी, काम करने की आजादी को किसी प्रकार कम नहीं किया। रिपोर्ट में जो विधान की रूपरेखा तैयार की गई थी, वह केवल ब्रिटिश भारत के लिए था। भारत की देशी रियासतों के लिए रिपोर्ट में कहा गया था कि केंद्रीय सरकार भारतीय रियासतों के साथ संधियों आदि के अंतर्गत जिस प्रकार के संबंध और दायित्व उस पर आते हैं, उन्हें उसी प्रकार पूरा करेगी और निभाती रहेगी जिस प्रकार वर्तमान केन्द्रीय सरकार पूरा करती और निभाती है। हां, भविष्य में भारत के राज्यों के साथ संघ बनने की आशा है पर यह तभी संभव होगा जब राज्य अपने कुछ अधिकार छोड़ने के लिए तैयार होंगे, जैसा कि संघ के लिए आवश्यक है। रिपोर्ट में प्रांतों के लिए स्वशासन की सिफारिश की गई थी और सिंध तथा कर्नाटक को पृथक प्रांत बनाने का भी सुझाव दिया गया था। केन्द्र और प्रांतों दोनों में कार्यपालिका को विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होना था। केन्द्रीय विधान मंडल के दो सदन होने थे एक सीनेट और दूसरा हाउस आफ रिप्रेजेंटेटिव्स। सीनेट का चुनाव प्रांतों के विधान मंडलों को करना था। हर वयस्क स्त्री और पुरुष को मताधिकार मिलना था। हिन्दुओं, मुसलमानों और सब सम्प्रदायों की संयुक्त निर्वाचन पद्धति होनी थी। अल्पसंख्यकों के लिए केवल दस साल तक सीटों का आरक्षण होना था। बंगाल और पंजाब में सीटों का बिलकुल आरक्षण नहीं होना था। भारत के लिए एक सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) की व्यवस्था सोची गई थी और प्रिवी कौंसिल में अपीलों में बहुत कटौती कर देने का सोचा गया था। नागरिक सेवाएं केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में आनी थीं। रिपोर्ट में नौ मौलिक अधिकार गिनाए गए थे, जिनको देश के कानून में शामिल किया जाना था। अवशिष्ट शक्तियों को केन्द्र सरकार में निवेशित होना था।

नेहरू समिति की सबसे बड़ी उपलब्धि थी संविधान के अंतर्गत विधायिका में हिन्दू-मुस्लिम-सिख प्रतिनिधित्व के सवाल पर फैसला। हाल के साम्प्रदायिक झगड़ों को देखते हुए इतनी जल्दी इस प्रकार के फैसले का होना असंभव था। यह संभव हुआ केवल साइमन कमीशन के ही कारण। रिपोर्ट में सभी सम्प्रदायों के लिए संयुक्त निर्वाचन की व्यवस्था सोची गई थी। अल्पसंख्यकों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में विधायिकाओं में सीटों का आरक्षण रखा गया था। इसके अलावा उन्हें अन्य सीटों से भी चुनाव लड़ने का अधिकार दिया गया था। हां, यह आरक्षण दस वर्षों के लिए ही था। बंगाल और पंजाब में समिति ने आरक्षण की व्यवस्था नहीं रखी थी। इन दो प्रांतों में हिन्दू अल्पसंख्या में हैं। उन्होंने आरक्षण की मांग नहीं की क्योंकि यह राष्ट्रवाद के सिद्धांत के विरुद्ध था और समिति ने बहुसंख्यक मुसलमानों के लिए यहां आरक्षण को उचित और युक्तिसंगत नहीं माना और इस कारण इसे नहीं रखा। जहां तक सिखों का सवाल था वे इस बात पर राजी थे कि यदि अन्य दो सम्प्रदाय आरक्षण नहीं मांगते तो वे भी नहीं मांगें और

यदि किसी अन्य ने मांगा तो वे भी मांगेंगे। उस हालत में उनकी मांग उनकी जनसंख्या के अनुपात से ज्यादा थी। सिद्धांत की बात तो नेहरू समिति ने मानी ही। व्यावहारिक विचार से भी यही बात सामने आई कि बंगाल और पंजाब के लिए आरक्षण न रखना ही समस्या का सबसे अच्छा हल था। बंगाल में वर्तमान विधान के अनुसार हिन्दुओं के पास 60 प्रतिशत निर्वाचित सीटें हैं और मुसलमानों के पास 40 प्रतिशत। जबकि हिन्दुओं की जनसंख्या करीब 46 प्रतिशत है और मुसलमानों की करीब 56 प्रतिशत। उधर पंजाब में वर्तमान विधान के अधीन मुसलमानों को 50 प्रतिशत निर्वाचित सीटें मिली हुई हैं, हिन्दुओं को 31 प्रतिशत और सिखों को 19 प्रतिशत जबकि जनसंख्या की दृष्टि से मुसलमान 55 प्रतिशत, हिन्दू 31 प्रतिशत और सिख 11 प्रतिशत हैं। इस समय जो हिन्दू-मुस्लिम-सिख प्रतिनिधित्व है वह कांग्रेस और लीग की उस योजना के अधीन है जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने लखनऊ में 1926 में स्वीकार की थी। जनसंख्या के लिहाज से कांग्रेस-लीग योजना में बंगाल और पंजाब में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व इस कारण कम रखा गया था कि अन्य प्रांतों में उन्हें उनकी आबादी के अनुपात में कहीं अधिक स्थान दे दिए गए थे। हिन्दुओं एवं मुसलमानों के हितों का समायोजन (एडजस्टमेंट) अखिल भारतीय आधार पर किया गया था। कांग्रेस ने लीग योजना में मुसलमानों को जो प्रतिनिधित्व देना स्वीकार किया गया था वह अब बंगाल और पंजाब के मुसलमानों को मान्य नहीं था। साथ ही, नेहरू समिति के लिए फिर से ऐसा अनुपात निश्चित करना असंभव था जो संबद्ध पक्षों को मान्य हो। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से भी समिति ने बंगाल और पंजाब में सीटों का आरक्षण न करना ही अच्छा समझा।

इधर नेहरू समिति नए विधान के सिद्धांत निश्चित करने में जुटी थी, दूसरी ओर देश में दिलचस्प घटनाएं घट रही थीं। मई 1928 में मुझे पूना में होने वाले महाराष्ट्र प्रांतीय सम्मेलन का सभापतित्व करने को आमंत्रित किया गया। वहां मुझे लोगों में अतिशय उत्साह देखने को मिला। मैंने अपने भाषण में कांग्रेसजनों के लिए कुछ नए प्रकार के काम सुझाए। इनके बारे में मैंने बर्मा में अपनी जेल की लम्बी अवधि में अपने विचार बनाए थे। उदाहरण के तौर पर मैंने कहा था कि कांग्रेसजनों को मजदूर संगठन का काम खुद ही उठाना चाहिए और युवकों एवं विद्यार्थियों को अपने हितों की रक्षा और देश-सेवा के लिए अपने-अपने संगठन अपने बलबूते पर स्थापित करने चाहिए। इसी प्रकार मैंने स्त्रियों के लिए भी अलग राजनीतिक संगठन बनाए जाने पर जोर दिया। साथ ही स्त्रियां कांग्रेस संगठनों में भी हिस्सा ले सकती थीं। पूना से मैं बंबई गया। मैंने वहां देखा कि वहां नौजवानों ने बंबई प्रेसीडेंसी यूथ लीग स्थापित कर ली है और अब राष्ट्र सेवा के लिए खुद आगे बढ़ कर काम करने की तैयारी में हैं, जबकि वहां की कांग्रेस कमेटी जैसी कि उससे अपेक्षा थी उनका नेतृत्व करने को आगे नहीं आ रही है। जून के महीने में गुजरात के बारडोली सब-डिवीजन में लगान बंदी आंदोलन जोर-शोर से चल रहा था

जहा 1922 मे महात्मा गाधी ने पीछे हटने अर्थात् आदोलन रोक देने का हुक्म दे दिया था। सरकार ने वहा लगान में 20 प्रतिशत वृद्धि का आदेश दिया था पर किसानों ने लगान देना बद कर दिया और वल्लभभाई पटेल (पटेल बधुओ में छोटे) के नेतृत्व मे सत्याग्रह आरभ कर दिया। जैसाकि हमेशा होता था सरकारी दमन चक्र चला जिसमें सपत्ति और जमीन की जब्ती भी शामिल थी। बारडोली के किसानों ने कई महीने तक बडी वीरता के साथ अहिसक लडाई लडी और अत मे सरकार को झुकना पडा। सारी बबई प्रेसीडेंसी और खास कर बबई शहर ने बारडोली के किसानों का खूब साथ दिया। इस आदोलन में स्त्रियों ने बढ-चढकर भाग लिया। बारडोली आदोलन असल मे उस बडी लडाई का पूर्वाभ्यास था जो आगे चलकर बबई में 1930 में लडी जानी थी। इस आदोलन से श्री वल्लभभाई पटेल ने बहुत नाम कमाया। इससे पहले भी वह महात्माजी के सबसे सच्चे और कट्टर अनुयायियो में गिने जाते थे। लेकिन बारडोली की जीत ने तो उन्हें भारत के प्रथम श्रेणी के नेताओ के बीच ला खडा किया। उनकी बहादुरीपूर्ण सेवा के लिए महात्माजी ने उन्हें 'सरदार' की पदवी दे दी और अब लोग उन्हें इसी नाम से पुकारते हैं।

लखनऊ मे सर्वदलीय सम्मेलन के समय एक नई चीज हुई थी। युवक राष्ट्रवादियों ने नेहरू समिति के साम्प्रदायिक सवाल के फैसले का स्वागत किया था पर औपनिवेशक ढग से सरकार सबधी उनकी सिफारिश जोकि मद्रास काग्रेस के प्रस्ताव के बाद सामने आई थी उन्हे कतई मान्य नहीं थी। इस कारण उनका इरादा लखनऊ में होने वाले सर्वदलीय सम्मेलन म इस रिपोर्ट का विशेष विरोध करने का था। इस तरह के कदम से काग्रेस के शत्रुओ को सबसे अधिक खुशी और सतोष होता, राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयत्नशील शक्तिया कमजोर पडतीं और साइमन कमीशन की प्रतिष्ठा नष्ट होने के बजाय और बढती। अत काग्रेस के वामपक्ष की एक निजी बैठक, हम लोगों को आगे क्या करना है यह तय करने के लिए बुलाई गई। बैठक में मैंने और प जवाहरलाल नेहरू ने यह सुझाव दिया कि आपस में भेद पैदा करने और सर्वदलीय सम्मेलन को खत्म कर देने की बजाय हम लोगों को सम्मेलन मे केवल अपना विरोध प्रकट करके ही सतोष कर लेना चाहिए, फिर देश में स्वाधीनता के पक्ष में प्रचार करने के लिए इडिपेंडेंस लीग गठित करके काम करना चाहिए। इस सुझाव को वामपथियो ने मान लिया और तदनुसार प जवाहरलाल नेहरू और मैंने सर्वदलीय सम्मेलन में स्वाधीनता के बारे में अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी लेकिन हमने वहा मतभेद पैदा नहीं होने दिया। सम्मेलन के बाद हमने देशभर में इडिपेडस लीग की शाखाए स्थापित करनी शुरू कर दीं और नवम्बर मे दिल्ली म एक बैठक बुला कर इसका बाकायदा उद्घाटन कर दिया।

लखनऊ में जब 'इडिपेंडस मूवमट' (स्वाधीनता आदोलन) का आरम्भ हुआ उसी समय एक और आदोलन की भी शुरुआत हुई—यह था छात्र आदोलन। जब फरवरी में साइमन कमीशन के बायकाट का आदोलन शुरू हुआ था तो सारे बगाल में और खासकर

जुलूस यह दिखाने के लिए कि वे लोग राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष में कांग्रेस के साथ हैं और कांग्रेस से इस बात की अपील करने के लिए कांग्रेस मंडल में आया कि वह भूखे मजदूरों के मसले को अपने हाथ में ले। लेकिन उफान के इन सब लक्षणों का नेताओं पर कोई असर नहीं पड़ा। जो निर्णय साइमन कमीशन की नियुक्ति के तुरंत बाद ही, और नहीं तो कलकत्ता कांग्रेस के समय तो अवश्य ही ले लिया जाना चाहिए था, दिसम्बर 1929 में लाहौर कांग्रेस के समय तक नहीं लिया गया। किन्तु तब तक स्थिति काफी बिगड़ चुकी थी।

हमेशा की तरह दिसम्बर सम्मेलनों और अधिवेशनों का महीना था। इन सब में महत्वपूर्ण थे अखिल भारतीय युवक कांग्रेस (जो अपना पहला अधिवेशन करने जा रही थी), सर्वदलीय सम्मेलन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन। युवक कांग्रेस के सभापति थे बंबई के पारसी सज्जन श्री के.एफ. नरीमन जो कांग्रेस के वातावरण में बहुत लोकप्रिय हो गए थे। वह पेशे से वकील थे, पहले वह बंबई कौंसिल में स्वराज पार्टी के सदस्य थे और कौंसिल में रह कर उन्होंने योग्य सेनानी होने की ख्याति अर्जित की थी। फिर भी उन्होंने अधिक प्रसिद्धि पाई थी बंबई सरकार की बैकवे रिक्लेमेशन स्कीम पर होने वाली धन की असीम बरबादी का भंडाफोड़ करने की कोशिश से। उन्होंने जो आरोप लगाए थे उन्हें लेकर उन पर न्यायालय में मानहानि के लिए मुकदमा भी चलाया गया लेकिन वह शान से बरी हुए। श्री नरीमन ने जबसे प्रसिद्धि पाई थी तबसे वह बराबर उग्र विचार रखते थे और उन्हें प्रकट भी करते रहे थे जब तक महात्माजी के कहने पर उन्हें कांग्रेस कार्यकारिणी में शामिल नहीं कर लिया गया। युवक सम्मेलन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था कि इसका जन्म देश में एक नए नेतृत्व के उदय का संकेत था और इसने ऐसी मनोवृत्ति को व्यक्त किया था जो राष्ट्रीय कांग्रेस[1] के दायरे के विचारों से भिन्न थी।

कांग्रेस सप्ताह में सर्वदलीय सम्मेलन कलकत्ता में हुआ जिसके दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम निकले। इस समय वे सब लोग एक होकर इसके खिलाफ जुट गए जिनका इसको तैयार करने में हाथ नहीं था। जिन श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने एक साल पहले कलकत्ता में ही मुस्लिम लीग कांफ्रेंस में प्रगतिशील राष्ट्रवादी दृष्टिकोण की हिमायत की थी वही अब नेहरू रिपोर्ट में संशोधन के लिए अपने 14 सूत्र लेकर सामने आए। उन्होंने अन्य लोगों के अलावा यह मांग भी की कि भारतीय विधायिका के दोनों सदनों में मुसलमानों के लिए निर्वाचित सीटों में से एक-तिहाई सीटें सुरक्षित रखी जाएं, बंगाल और पंजाब में मुसलमानों के लिए आबादी के अनुपात से सीटें सुरक्षित की जाएं और अवशिष्ट शक्तियाँ को केन्द्र की बजाय प्रान्तों को दिया जाए इत्यादि। श्री जिन्ना के इस रवैये से उनके प्रतिक्रियावादी सहधर्मियों (मुसलमानों) में तो उनकी लोकप्रियता बढ़ गई, लेकिन इससे नेहरू रिपोर्ट की उपयोगिता और महत्व चौपट हो गया। मुसलमानों के इस रवैये को देख कर हिन्दुओं और सिखों ने भी मांगें पेश कीं। हिन्दू महासभा के प्रतिनिधियों ने नेहरू रिपोर्ट में जो सिफारिशें दी थीं उनसे अधिक कुछ और देने से साफ इंकार कर दिया। मुसलमानों की मांगों के बारे में नेहरू समिति ने जो सिफारिशें दे दी थीं उनके लिए उनकी काफी कटु आलोचना की गई। नेहरू रिपोर्ट के बारे में मुस्लिम लीग का समर्थन प्राप्त

1. स्वागत समिति के अध्यक्ष की हैसियत से मैंने अपने भाषण में इस [illegible] के स्थान पर स्वतंत्रता की हिमायत की जिसका [illegible] अंग्रेज और [illegible] दिन जा रहा था। मैंने [illegible] के [illegible] पक्ष का [illegible] का भी उल्लेख किया था। इस प्रकार मैं [illegible] और [illegible] के अनुरूप [illegible] हो गए थे।

करना कठिन था, क्योंकि इस सम्मेलन में जो पार्टियां शामिल थीं वे व्यक्तिगत विचारों पर अधिक आधारित थीं। उदाहरण के लिए स्व. मुहम्मद शफी के गुट का साम्प्रदायिक मसले पर तो असहयोगी रवैया था पर वह साइमन कमीशन से सहयोग करने के पक्ष में था। राष्ट्रवादी खेमा, नेहरू रिपोर्ट को पूरी तरह स्वीकार करने और साइमन कमीशन का पूरा-पूरा बायकाट करने के हक में था। श्री जिन्ना गुट का साम्प्रदायिक प्रश्न पर प्रतिक्रियावादी रुख था पर वह साइमन कमीशन के बायकाट के हक में था। इस सवाल पर विचार करने के लिए मार्च 1929 में दिल्ली में मुस्लिम लीग की बैठक बुलाई गई, लेकिन इसमें भिन्न-भिन्न गुटों में आपस में इतना झगड़ा हुआ कि इस अव्यवस्था में बैठक ही खत्म हो गई।

दिसम्बर 1927 में जब मद्रास कांग्रेस ने सर्वदलीय सम्मेलन बुलाने के पक्ष में निश्चय किया तो लगा था कि निर्णय उचित था। यह धारणा तब और भी पक्की हो गई थी जब नेहरू समिति सर्वसम्मत रिपोर्ट तैयार करने में समर्थ हुई और जब लखनऊ में अगस्त 1928 में सर्वदलीय सम्मेलन ने इसे स्वीकार भी कर लिया। लेकिन बाद के अनुभव ने बताया कि ऐसा करने में कांग्रेस की गलती थी। जिस प्रकार कि ऐसे गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस का शामिल होना भी गलती थी, जिसमें वे लोग भी हिस्सा ले रहे थे जिन्हें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं था। देश के लिए संविधान बनाने का अधिकार केवल उसी पार्टी का था जो देश की आजादी के लिए लड रही थी। सर्वदलीय समिति द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट का तभी कुछ मूल्य हो सकता था जब सब पार्टियां इसकी पुष्टि करतीं, किन्तु इस प्रकार की पुष्टि ऐसे देश में कभी संभव नहीं, जो कुछ समय तक विदेशी शासन के अधीन रहा हो। ऐसे देश में कुछ ऐसी पार्टियों का होना लाजमी है जो सरकार के हाथ की कठपुतली हों और ये पार्टियां नेहरू रिपोर्ट जैसे दस्तावेज की पुष्टि को हमेशा रोक सकती हैं। बड़ी बात यह है उस पुष्टि की भी क्या कीमत जब अन्य पार्टियां स्वाधीनता के लिए संघर्ष ही न कर रहीं हों। इसलिए उस पार्टी को जो लड़ रही हो, किसी भी और पार्टी की तरफ संविधान बनाने के लिए देखना ही नहीं चाहिए, जिसके लिए कि वह अकेले लड रही है।

वर्ष का सबसे महत्वपूर्ण सम्मेलन था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन, जिसके सभापति प. मोतीलाल नेहरू थे। जबसे कांग्रेस बनी थी तबसे आज तक इस अधिवेशन में सबसे अधिक उपस्थिति थी और सभी प्रबंध बहुत बडे पैमाने पर किए गए थे। कांग्रेस में दो गुट थे। एक पुराना गुट जो औपनिवेशिक ढंग की सरकार मिलने से संतुष्ट हो जाता और नेहरू रिपोर्ट को अक्षरशः मानने के पक्ष में था। दूसरा वामपक्षी गुट था जो मद्रास कांग्रेस द्वारा स्वीकृत पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव पर दृढ था और नेहरू रिपोर्ट को पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आधार पर ही मानने को तैयार था। नवम्बर में दिल्ली में जो अ.भा. कांग्रेस समिति की बैठक हुई थी, उसमें प. मोतीलाल नेहरू को

अपनी गिरफ्तारी के बाद ही लाहौर षड्यंत्र केस के कैदियों ने, जिनके नेता सरदार भगत सिंह थे, मांग की कि हमसे जेल में आम अपराधियों की अपेक्षा अच्छा व्यवहार किया जाए क्योंकि हम राजनीतिक बंदी हैं और विचाराधीन कैदी हैं जो तब तक निरपराध माने जाते हैं, जब तक कि उनका जुर्म साबित न हो जाए और उन्हें सजा न सुना दी जाए। पहले तो उन्होंने आम तरीके ही इस्तेमाल किए लेकिन जब इनसे कोई सुनवाई नहीं हुई तो उन्होंने भूख हड़ताल शुरू कर दी। इन कैदियों में कलकत्ता का एक युवक यतीन्द्रनाथ दास भी था, जो पहले तो भूख हड़ताल के विरुद्ध था क्योंकि वह उसे खतरनाक खेल मानता था। लेकिन दूसरों के उत्साह ने उसे भी भूख हड़ताल करने को मजबूर कर दिया लेकिन इससे पहले उसने चेतावनी दे दी थी कि अब चाहे जो हो मैं तब तक अपना कदम पीछे नहीं हटाऊंगा जब तक हमारी मांगें पूरी तरह नहीं मान ली जाएंगी। सारे देश में इस भूख हड़ताल के प्रश्न पर जबरदस्त आंदोलन हुआ और जनता ने एक स्वर से मांग की कि सरकार को इनकी मांगें मान कर इनके जीवन को बचाना चाहिए। जब इन कैदियों की हालत गम्भीर हो गई तो सरकार ने अपनी भाव में कुछ समझौते की कोशिश की, उदाहरण के लिए उन्होंने डाक्टरी आधार पर भूख हड़तालियों को अधिक सुविधाएं देने का प्रस्ताव किया। लेकिन उनकी बेहतर व्यवहार की मांग केवल अपने लिए नहीं थी बल्कि इसी तरह की स्थिति वाले सभी बंदियों के लिए इस आधार पर थी कि वे सब राजनीतिक कैदी हैं। इस मांग को सरकार मानने को तैयार नहीं थी और भूख हड़ताल चलती रही। इसके अलावा समाचार पत्रों में भरपूर आंदोलन चला, सारे देश में जगह-जगह सभाएं और प्रदर्शन हुए जिनमें मांग की गई कि राजनीतिक बंदियों के साथ मानवोचित व्यवहार किया जाए। इसी तरह के एक प्रदर्शन में मुझे और बहुत से प्रमुख कांग्रेस जन गिरफ्तार किए गए और उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते चले गए कैदी एक-एक कर भूख हड़ताल खोलते गए, पर युवक यतीन्द्रनाथ झुकने वाला नहीं था। मौत या संयोग ने एक क्षण को भी उसके कदम कभी नहीं डगमगाए। वह वीरता से सीधा मृत्यु की ओर बढ़ता गया और उसका आलिंगन कर मुक्त हो गया। उसकी मृत्यु ने कठोर से कठोर मनुष्य का दिल पिघला दिया लेकिन नौकरशाही का दिल नहीं पिघला। यतीन की 13 सितम्बर को मृत्यु हो गई। पर वह मौत एक शहीद की मौत थी। उसकी मृत्यु पर देश ने जिस संवेदना का परिचय दिया उतना हाल के इतिहास में किसी को नसीब नहीं हुआ। जब उसके शव को अंत्येष्टि के लिए लाहौर से कलकत्ता ले जाया गया तो हर स्टेशन पर हजारों की संख्या में लोग अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने जमा हुए। उसकी शहादत ने भारत के युवकों को बड़ी प्रबल प्रेरणा दी और हर तरफ युवकों और छात्रों के संगठन खड़े होने लगे। इस अवसर पर जो बहुत से संदेश प्राप्त हुए उनमें एक संदेश ऐसा था जिसने हर भारतीय के हृदय को छू लिया। यह संदेश कार्क के लार्ड मेयर टैरेंस मैकस्विनी के परिवार की ओर से प्राप्त हुआ जो आयरलैंड में इसी प्रकार शहीद हुए थे। इस संदेश में कहा गया था : "यतीन्द्रनाथ की

कलकत्ता में छात्रों ने इसमें बड़ा सक्रिय भाग लिया था। कालेज अधिकारियों ने बहुत से विद्यार्थियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई की थी। तब छात्र वर्ग ने अपने हितों के लिए लड़ने वाले किसी अपने ही संगठन की आवश्यकता महसूस की। इसी अनुभूति ने बंगाल में छात्र आंदोलन को जन्म दिया।[1] अगस्त मास में कलकत्ता में पहला प्रथम अखिल बंगाल विद्यार्थी सम्मेलन हुआ। इसके सभापति पं जवाहरलाल नेहरू थे। इस सम्मेलन के बाद सारे बंगाल में छात्र संगठन बनने लगे और आगे चल कर अन्य प्रांतों में भी छात्र संगठनों का निर्माण हुआ। विद्यार्थियों में जो असंतोष था प्रायः वैसा ही मजदूर वर्ग में भी था। एक साल पहले ही खड़गपुर में, जो कलकत्ता से बहुत दूर नहीं था, रेल कर्मचारियों की हड़ताल हो चुकी थी। 1928 में टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स में 18,000 कामगारों ने हड़ताल कर दी। यह स्थान भी कलकत्ता से 160 मील दक्षिण-पश्चिम में ही था। यह हड़ताल भी कई महीनों तक खिंची और अंत में जाकर कर्मचारियों और प्रबंधकों में समझौता हुआ, जो मजदूरों के लिए बहुत ही अनुकूल था। टाटा कारखाने की हड़ताल से भी बडी और महत्वपूर्ण हड़ताल थी बंबई में कपड़ा मिलों की हडताल, जिसमें 60,000 मजदूर शामिल थे। पहले दौर में यह हडलाल काफी अभूतपूर्व रूप से सफल रही और इससे मिल मालिकों को ही नहीं बल्कि सरकार को भी काफी परेशानी हुई। इस हडताल के बाद ईस्ट इंडिया रेलवे के वर्कशाप में जो कलकत्ता के पास लिलुआ में था 10,000 कर्मचारियों ने, जमशेदपुर में टिनप्लेट कम्पनी में 4,000 ने, बजबज के तेल और पेट्रोल वर्क्स में जो कलकत्ता से बीस मील था 6,000 ने हड़ताल की। यह कलकत्ता और आसपास की जूट मिलों में अतिम किन्तु बहुत महत्वपूर्ण हड़ताल थी, जिसमें 2 लाख मजदूर शामिल थे। बंबई के कपड़ा मिलों की हड़ताल का यहां विशेष उल्लेख करना अच्छा होगा क्योंकि यह एक ऐसी सुगठित और अनुशासित पार्टी के नेतृत्व में हुई थी, जिन पर कम्युनिस्ट विचारों के होने का आरोप था। और उनमें से कुछ ने बाद में मेरठ षड्यंत्र केस में मुकदमे के समय कट्टर कम्युनिस्ट होना स्वीकार भी किया था। इन हड़तालों में से अधिकांश ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिक लड़ाका वर्ग ने चलाई थीं और वे लोग दिनोंदिन महत्व प्राप्त करते जा रहे थे। साल के अंत के करीब जब झरिया के खान क्षेत्र की ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो यह पता चला कि वामपक्ष की संख्या बहुत बढ़ी है और उनमें कम्युनिस्टों का एक सुगठित और अनुशासित गुट था। इस कांग्रेस में एक नया कदम उठाया गया वह यह कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस को 'लीग अगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म'[2] से संबद्ध कर दिया गया।

---

1 जब हड़ताल टूटने को थी तो मजदूरों के द्वारा मुझ पर जोर डालने के कारण मैंने हड़ताल का नेतृत्व सभाला। इसके बाद हड़ताल फिर चली और बढ़ी जिसके कारण एक सम्मानपूर्ण समझौता हुआ। दुर्भाग्य से समझौते के बाद कर्मचारियों में जबरदस्त मतभेद पैदा हो गए जिसके बहुत हानिकारक नतीजे निकले। टाटा कारखाने की हड़ताल मेरे लिए कर्मचारियों के आंदोलन का पहला सबक था, उसके बाद से मैं इस आंदोलन से निकट रूप से जुड़ा रहा हूं।

2 'लीग अगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म' को पहले गैर साम्यवादी संस्था घोषित किया गया था और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस इसी से सबद्ध थी। बाद में जब यह लीग प्राय कम्युनिस्ट संस्था बन गई तो राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड यूनियन काग्रेस ने इससे नाता तोड लिया।

अध्याय 9

आसन्न उथल-पुथल के लक्षण (1929)

जैसा कि हमने देखा कलकत्ता कांग्रेस का कुल मिला कर जो नतीजा निकला वह घड़ी की सुई को पीछे हटाने जैसा था। किन्तु महात्माजी जैसा दूरदर्शी नेता समय की नब्ज को पहचानता था। कलकत्ता कांग्रेस में वामपक्ष का विरोध वास्तव में काफी ताकतवर था और उन्हें यदि अपना नेतृत्व कायम रखना था तो उन्हें विरोधियों के साथ चतुराई से व्यवहार करना था। अगले 12 महीनों में महात्माजी ने जो रणनीति दिखाई वह निःसंदेह बेजोड़ थी। जैसाकि अब हम देखेंगे उन्होंने उग्र लोगों के विरोध को निष्प्रभ कर दिया इस बात से कि अगले अधिवेशन में उन्होंने खुद स्वाधीनता की माग की और वामपक्ष के कुछ नेताओं को अपनी तरफ मिलाकर विरोधियों में फूट डाल दी। हर वर्ग के पुराने नेताओं के लिए, चाहे वे स्वराज्यवादी हों या अपरिवर्तनवादी, वामपक्ष का विरोध एक मुसीबत बन गया था और खतरे से लड़ने के लिए कलकत्ता कांग्रेस में स्वराजवादी प मोतीलाल नेहरू 'अपरिवर्तनवादी' महात्मा गांधी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर उनके सामने खड़े हो गए थे। अगले कुछ महीनों में यह अस्थायी गठजोड़ और मजबूत हुआ और वामपक्ष के कुछ नेताओं की मदद से महात्माजी के लिए एक दो कांग्रेस की मशीनरी पर दुबारा अपना शिकंजा मजबूत करना संभव हो सका और दूसरे देश में फिर से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई जो कलकत्ता कांग्रेस की कार्यवाही के कारण बुरी तरह डिग गई थी।

कोई भी व्यक्ति गम्भीरता से ऐसा नहीं समझ सकता कि महात्मा गांधी जैसा चतुर राजनीतिज्ञ सचमुच यह आशा करता होगा कि बस कांग्रेस के एक लिखित अल्टीमेटम देने मात्र से सरकार झुक जाएगी और बिना लड़ाई औपनिवेशिक स्वशासन दे देगी। इसलिए हरेक यही मानेगा कि कलकत्ता कांग्रेस के समय महात्माजी कुछ और समय लेना चाहते थे क्योंकि वह स्वयं निकट भविष्य में किसी प्रकार का संघर्ष करने के लिए तैयार नहीं थे। सच तो यह है कि दिसम्बर 1929 में लाहौर कांग्रेस के समय भी महात्माजी के पास सरकार के विरोध में किसी प्रकार का आंदोलन चलाने की कोई योजना नहीं थी यद्यपि पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव उन्होंने ही रखा था, जो सर्वसम्मति से पास हुआ था। अपने

---

1 कलकत्ता कांग्रेस के फौरन बाद ही उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह वायदा अवश्य कर दिया था कि यदि सरकार ने 31 दिसम्बर, 1929 तक भारत को उपनिवेश का दर्जा नहीं दिया तो वे 1 जनवरी, 1930 से 'आजादवादी' बन जाएंगे। एक साल की इस अवधि की शर्त से 1921 में उनके एक साल में स्वराज्य दिलाने के वायदे की याद दिलाती है।

अंतरात्मा को काफी कुरेदने के बाद वह फरवरी 1930 में जाकर ही देश में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने के लिए तैयार हो सके और इसका आरम्भ नमक बनाने से होना था। यद्यपि कांग्रेस ने 1929 के पूरे साल साहस और सूझबूझपूर्वक देश का कोई नेतृत्व नहीं किया फिर भी देश में जन असंतोष तनिक भी कम नहीं हुआ था। उल्टे क्रांतिकारी शक्तियां निरंतर प्रबल होती जा रही थीं। हां, उनमें समन्वय न होने के कारण बहुत सी शक्ति बेकार जा रही थी। उस समय कांग्रेस आंदोलन की मुख्य धारा के अलावा देश में तीन अन्य धाराएं बड़ी स्पष्ट चल रही थीं। एक तो क्रांतिकारी आंदोलन की अंतर्धारा थी जिसका कुछ समर्थन उत्तर भारत में था। दूसरे मजदूर जगत में सारे देशभर में असंतोष फैला हुआ था और तीसरी धारा थी मध्यवर्गीय युवकों में जागरण की, जो देश में सर्वत्र दिखाई पड़ रही थी।

क्रांतिकारी आंदोलन का रूप सामने आया लाहौर और दिल्ली की दो घटनाओं के कारण। लाहौर में एक अंग्रेज पुलिस इंस्पेक्टर मि. साडर्स का वध हुआ। ऐसा बताया गया कि क्रांतिकारियों को यह विश्वास था कि साइमन के विरुद्ध लाहौर में 1928 में जो प्रदर्शन हुआ था उसमें लाला लाजपत राय पर लाठी प्रहार के लिए सांडर्स जिम्मेदार था और इसी चोट के कारण अंत में उनकी मृत्यु हो गई थी। उसकी हत्या लालाजी की मौत का बदला था। दूसरी घटना दिल्ली में असेम्बली में अधिवेशन के समय बम फेंकने की थी। इस सिलसिले में दो नौजवान सरदार भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त गिरफ्तार किए गए थे। इन प्रकट घटनाओं के बाद देशभर में बहुत से नवयुवकों को गिरफ्तार किया गया और 1929 के मध्य में लाहौर में एक अखिल भारतीय षड्यंत्र का मुकदमा कुछ युवकों के खिलाफ शुरू हुआ। शायद इसका कारण थे सरदार भगत सिंह, जो अपनी गिरफ्तारी से पहले, युवक आंदोलन (नौजवान भारत सभा) के नेता के रूप में जाने जाते थे। फिर उन्होंने और उनके साथियों ने गिरफ्तारी के बाद और मुकदमे के दौरान जिस निर्भीकता और बहादुरी का परिचय दिया उससे जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। बड़ी बात यह भी हुई कि सरदार भगत सिंह एक बहुत देशभक्त परिवार के युवक थे। उनके चाचा सरदार अजीत सिंह को 1909 में लाला लाजपत राय के साथ बर्मा की जेल में सजा काटने भेजा गया था। नौजवान भारत सभा पहले पहल पंजाब में साम्प्रदायिकता और धर्मांधता के विरुद्ध लड़ने के लिए विशुद्ध राष्ट्रवादी संगठन के रूप में आरंभ की गई थी। यदि सरकार के आरोपों को सही माना जाए तो सभा ने आगे एक क्रांतिकारी संगठन का रूप ले लिया और उसके कुछ सदस्य आतंकवादी कामों में लग गए थे। ये आरोप चाहे सच हों या न हों, एक बात स्पष्ट थी कि सभा स्पष्ट तौर से समाजवादी प्रवृत्ति की थी। जब मार्च 1931 में कराची में अ.भा. नौजवान भारत सभा का अधिवेशन हुआ, तब पंजाब नौजवान भारत सभा के सदस्यों ने खुले रूप में घोषणा की कि हम आतंकवादी कार्यों के विरुद्ध हैं और समाजवादी राह पर चलकर जन आंदोलन में विश्वास रखते हैं।

कोशिश से दोनों गुटों में समझौता हो गया था। कलकत्ता अधिवेशन में महात्माजी ने दिल्ली फार्मूला को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यह अंतर्विरोधी था। इस प्रकार दोनों गुटों की खाई और उभर आई। महात्माजी और पं. मोतीलाल नेहरू ने दोनों में समझौता कराने की कोशिश की लेकिन वे जितनी अधिकतम रियायत दे सकते थे वह भी वामपंथियों की न्यूनतम मांग से कम थी। यद्यपि वामपक्षी नेता खुली फूट से बचना चाहते थे लेकिन उनके साथी और अनुयायी समझौते की बात सोचने को भी तैयार नहीं थे। इस प्रकार महात्माजी ने इस कांग्रेस का जब मुख्य प्रस्ताव पेश किया तो समूचे वामपक्ष ने इसका विरोध किया और मैंने जो संशोधन पेश किया था, उसका उसने समर्थन किया। महात्माजी के प्रस्ताव में कहा गया था कि राजनीतिक स्थिति के तकाजों को मानते हुए, कांग्रेस नेहरू संविधान को पूर्ण रूप में,इस शर्त पर स्वीकार करेगी कि ब्रिटिश पार्लियामेंट भी इसे 31 दिसम्बर, 1929 से पहले-पहले स्वीकार कर ले, किन्तु यदि इस तारीख तक इसे स्वीकार नहीं किया जाता है या इससे पहले ही इसे ठुकरा दिया जाता है तो कांग्रेस देशवासियों को लगान बंदी या अपने द्वारा तय किए गए और किसी भी ढंग को अपनाने के बारे में सलाह देकर अहिंसक असहयोग आंदोलन आरंभ करेगी। प्रस्ताव में मैंने जो संशोधन पेश किया था वह इस प्रकार था कि कांग्रेस स्वाधीनता से कम किसी भी चीज से संतुष्ट नहीं होगी जिसका अर्थ था ब्रिटेन से पूरी तरह से नाता तोड़ लेना। इस संशोधन का समर्थन अन्य लोगों के अलावा पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी किया था। यह संशोधन 973 के विरुद्ध 1350 मतों से गिर गया, लेकिन इस मतदान को असल में स्वतंत्र मतदान कहा ही नहीं जा सकता था क्योंकि महात्माजी के अनुयायियों ने इसे विश्वास का सवाल बना लिया था और यह जाहिर किया था कि यदि महात्माजी हार गए तो वह कांग्रेस से रिटायर हो जाएंगे। बहुत से लोगों ने उनके प्रस्ताव के पक्ष में इस कारण मत दिया कि वे महात्माजी को कांग्रेस से निकलने के लिए मजबूर करने वालों में अपनी गिनती कराने को तैयार नहीं थे। खैर मतदान से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि कांग्रेस में वामपक्ष काफी सशक्त और प्रभावशाली है।

एक प्रकार से यदि मद्रास कांग्रेस चरम बिन्दु या क्लाइमैक्स था तो उसकी तुलना में कलकत्ता कांग्रेस ठीक उससे उल्टा था। जब अधिवेशन के भावी अध्यक्ष नगर में पहुंचे और उनका जो स्वागत हुआ उससे किसी भी बादशाह या डिक्टेटर को ईर्ष्या हो सकती थी। लेकिन जब वह विदा हुए तो सबके मुंह निराशा से लटके हुए थे। देश भर में उस समय बड़ा उत्साह था और सब उम्मीद कर रहे थे कि कांग्रेस साहस का परिचय देगी। लेकिन जब देश तैयार था तो नेतागण तैयार नहीं थे। देशवासियों के दुर्भाग्य से महात्माजी को उस समय प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ। इसी का परिणाम था कलकत्ता कांग्रेस का भीरुता का प्रस्ताव, जिसने अमूल्य समय गवाने के सिवा और कुछ नहीं किया। कोई पागल या मूर्ख ही यह आशा कर सकता था कि ब्रिटिश सरकार औपनिवेशिक प्रकार का स्वराज्य भी बिना लड़े देना मान जाएगी। कांग्रेस अधिवेशन के समय 10,000 कामगारों का एक

लायक ताकत रखते थे। असल बात यह है कि दक्षिण पक्ष वाले व्हिटले कमीशन के सवाल पर ही हारे थे। यह इस वजह से नहीं हुआ कि वामपक्षी बहुमत में थे बल्कि इस कारण हुआ कि मध्यमार्गियों ने, जो कम्युनिस्ट नहीं थे, इस सवाल पर कम्युनिस्टों का साथ दिया। खैर, निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि दक्षिण पक्ष वाले नागपुर में ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग न हुए होते तो इसमें रहकर भी वे महत्वपूर्ण रोल अदा करते। लेकिन उस हालत में उन्हें एक घाटा उठाना पड़ता, जिसके लिए वे शायद तैयार नहीं थे। यह नुकसान था, हर साल अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के अधिवेशन में भाग लेने के लिए जेनेवा की यात्रा का अवसर खो देने का। ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन का बायकाट करने का एक प्रस्ताव स्वीकार किया क्योंकि इस सम्मेलन से भारत के मजदूरों को कोई सहायता नहीं मिलती थी और इसके लिए भारतीय प्रतिनिधियों को भारत सरकार नामजद करती थी न कि अ भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस। यह प्रस्ताव व्हिटले कमीशन के बायकाट संबंधी प्रस्ताव की ही तरह दक्षिण पक्ष वालों को भाया नहीं था और विभाजन के लिए अंतिम कारण सिद्ध हुआ।

यदि 1929 में ही राजनीतिक आंदोलन शुरू किया जाता तो हर दृष्टि से बहुत उपयुक्त होता। यह आंदोलन उस आंदोलन के साथ मिलने से और प्रभावशाली हो जाता जो इस समय अन्य क्षेत्रों में भी चल रहा था। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। अतः राजनीतिक हलके उस समय से उपयुक्त घड़ी की बाट देख रहे थे। बंगाल में कांग्रेस पार्टी बार-बार मंत्रियों को बाहर निकालने में समर्थ रही थी। पार्टी के इस रवैये से तंग आकर गवर्नर ने लैजिस्लेटिव कौंसिल को मई के महीने में भंग कर दिया और नए चुनाव कराने का आदेश दे दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस पार्टी और अधिक शक्ति के साथ कौंसिल में आई और राष्ट्रवादी मुसलमानों ने अपनी उन कई सीटों को फिर से जीत लिया जो वे पिछले चुनावों में खो बैठे थे। चुनाव से ठीक पहले मानहानि के उस मुकदमे का फैसला सुनाया गया जो ईस्ट इंडियन रेलवे[1] ने 'फारवर्ड' नामक राष्ट्रवादी पत्र के खिलाफ कलकत्ता के पास एक रेल दुर्घटना के बारे में ऐसी रिपोर्ट छापने को लेकर दायर किया था, जो कम्पनी का नाम बदनाम करने वाली थी। न्यायालय ने पत्र पर एक तरह से सबक सिखाने वाला 1,50,000 रु. जुर्माना किया और आशा की गई थी कि इससे समाचार पत्र को मजबूर होकर बंद हो जाना पड़ेगा। अस्तु, अगले दिन 'फारवर्ड' तो नहीं निकला लेकिन उसकी जगह एक नया पत्र 'लिबर्टी' उसी दिन से शुरू हो गया। इस प्रकार कांग्रेस पार्टी को अपना मुखपत्र न होने की तनिक भी असुविधा नहीं उठानी पड़ी।

जून मास में चुनाव हुए और लेबर पार्टी सत्ता में आ गई तथा वाइसराय लार्ड इर्विन को सलाह-मशविरे के लिए लंदन बुलाया गया। वह वहां कई महीने रहे। जब वह वहां

1 ईस्ट इंडियन रेलवे एक सरकारी और भारत की बहुत महत्वपूर्ण रेलवे थी।

'बी' 'सी' या क्रमश पहली, दूसरी और तीसरी श्रेणिया मे रखा जाएगा। 'सी' श्रेणी के कैदिया के साथ ठीक अपराधियो की तरह वर्ताव किया जाएगा। 'बी' श्रेणी के वदियो की 'सी' श्रेणी की तुलना में भोजन, पत्रो मुलाकातो की दृष्टि से स्थिति बेहतर होगी। 'ए' श्रेणी के कैदियों को 'बी' से भी अधिक सुविधाए मिलेंगी। यह अतर और श्रेणी विभाजन कैदी की सामाजिक स्थिति को देखकर किया जाएगा। जब इन नियमों को अमल में लाया गया तो पता चला कि 95 प्रतिशत राजनीतिक कैदी 'सी' श्रेणी म रखे गए। करीब 3-4 प्रतिशत 'बी' श्रेणी मे और 1 प्रतिशत से भी कम 'ए' श्रेणी में आए। इन नए नियमों का मकसद यह था कि मुट्ठी भर लोगों को बेहतर सुविधाए दी जाए ताकि राजनीतिक वदियो की एकता खत्म हो जाए। इस प्रकार सरकार ने फूट डालो और राज करो की नीति को जेल प्रशासन तक भी पहुचा दिया। इन नए नियमों का केवल एक ही अच्छा पहलू था वह यह कि कुछ कैदियो को पहले जो एक श्रेणी यूरोपियनो को हुआ करती थी और जिन्हे ऊची से ऊची हैसियत के भारतीयों से बेहतर खाना, कपडा और रहने को जगह मिला करती थी, वह खत्म हो गई। पर व्यवहार मे मैंने देखा कि बहुत से प्रातों मे जैसे कि बगाल, मध्य प्रात और मद्रास मे यूरोपियन कैदियो का मिलने वाली सुविधाए आज भी कायम हैं। मद्रास की एक जेल में जहा मैं 1932 मे दो महीने बद रहा यूरोपियन कैदियों के वार्ड के आगे अभी तक 'यूरोपियन वार्ड' की पट्टी लगी थी। मेरे आपत्ति करने पर इसे हटाया गया। इस बारे में यहा यह मानना होगा कि जब ये नियम बनाए गए तो असेम्बली के सदस्या ने, यहा तक कि स्वराज पार्टी के सदस्यों ने भी वहा विरोध प्रकट नहीं किया जिसकी उनसे आशा की जाती थी। कुछ सदस्य जो कभी जेल गए ही नहीं थे जैसे कि श्री जिन्ना, वह तो यहा तक सोचते थे कि ये नियम तो बडी नियामत सिद्ध होंगे।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है 1928 और 1929 के वर्षों मे युवको में अभूतपूर्व जागृति दिखाई पडती थी।[1] कलकत्ता म काग्रेस के निष्क्रिय रवैये और विधान मडलों में स्वराज पार्टी वालो की उन्हीं घिसी-पिटी चाला से नवयुवक असतुष्ट थे और उनम एक प्रकार की कर्तव्य-भावना जागृत हुई। कलकत्ता मे जो पहली युवक काग्रेस हुई थी उसकी सफलता से और यतीन्द्रनाथ दास के अविस्मरणीय बलिदान की मिसाल म युवकों में नई स्फूर्ति आई। 1929 के सारे साल पूरे बगाल मे प्रातीय युवक एसोसिएशन और प्रातीय विद्यार्थी एसोसिएशन की शाखाए कायम होती रहीं। बगाल के विभिन्न जिलों में राजनीतिक सम्मेलन तो समय-समय पर हुए हैं, अब युवक सम्मेलन और छात्र सम्मेलन

1 इसके फौरन बाद ही स्त्रियों में भी इसी प्रकार की जागृति दिखाई पडी। बगाल में देशबधु ने 1921 में स्त्रियों को राष्ट्रीय सेवा की शिक्षा देने के लिए एक सस्था नारी कर्म मदिर, स्थापित की थी। उनकी मृत्यु के बाद यह सस्था भी बद हो गई। 1928 में जब मैंने फिर सार्वजनिक कार्य शुरू किया तो स्त्रियों के लिए एक राजनीतिक सगठन महिला राष्ट्रीय सघ' कलकत्ता में शुरू किया। इसके बाद देशभर में ऐसे बहुत से सगठन कायम हुए।

भी अलग-अलग आयोजित होने लगे। अन्य प्रांतों में भी इसी ढंग से काम होता दिखाई देता था। पूना में महाराष्ट्र युवक सम्मेलन हुआ, जिसके सभापति पं. जवाहरलाल नेहरू थे। अक्तूबर 1929 में अहमदाबाद में बम्बई प्रेसीडेंसी युवक सम्मेलन हुआ जिसकी सभापति श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय थीं। यह सरोजनी नायडू की भाभी थीं और थोड़े समय में युवकों में काफी लोकप्रिय हो गई थीं। सितम्बर के महीने में पंजाब विद्यार्थी सम्मेलन का पहला अधिवेशन लाहौर में हुआ था और मैं उसका अध्यक्ष था। इसके बाद नवम्बर में मध्य प्रांत युवक सम्मेलन नागपुर में हुआ और छात्र सम्मेलन दिसम्बर में अमरावती में हुआ। दोनों का ही सभापतित्व मैंने किया। मद्रास प्रेसीडेंसी में भी इसी प्रकार के सम्मेलन आयोजित किए गए। साल के अंत में लाहौर में आयोजित कांग्रेस सप्ताह में विद्यार्थियों की एक अ.भा कांग्रेस हुई, जिसके अध्यक्ष बनारस विश्वविद्यालय के उपकुलपति पं. मदनमोहन मालवीय थे।

युवकों में जो जागृति दिखाई दे रही थी वैसी ही जागृति या असंतोष मजदूरों में दिखाई पड़ रहा था और सारे देश में हड़ताल चल रही थी। पर ऐसी हड़ताल जिससे सरकार घबरा गई थी, बंबई की कपड़ा मिलों की हड़ताल थी जिसका संचालन कम्युनिस्ट (साम्यवादी) विचारवाले सुशिक्षित स्त्री-पुरुषों की एक सुगठित पार्टी कर रही थी। हड़ताल को तोड़ने में सरकार और मिल मालिक मिलकर कोशिशें कर रहे थे। इस काम के लिए बाहर से काफी गुंडे बुलाए गए थे। जब हड़ताल कमजोर पड़ती दिखाई दी तो सरकार ने करारा वार किया। मार्च 1929 को देश भर में प्रगतिशील विचारों के मजदूर नेताओं को एक साथ गिरफ्तार किया गया और उनमें से 31 को दिल्ली के पास मेरठ ले जाया गया जहां उन पर अ.भा कम्युनिस्ट षड्यंत्र केस के नाम से जाना जाने वाला मुकदमा चलाया गया। उन्हें सब जगहों को छोड़ मेरठ संभवतः इस कारण ले जाया गया कि एक तो यह छोटी जगह थी और उम्मीद थी कि वहां सार्वजनिक प्रदर्शन आदि नहीं हो सकेंगे और दूसरे इस कारण कि जूरी द्वारा मुकदमे की सुनवाई की प्रणाली वहां नहीं थी। गिरफ्तार व्यक्तियों में तीन अंग्रेज भी थे और शायद इसी कारण इस मुकदमे ने हर प्रकार के विचार वाले ब्रिटिश मजदूर क्षेत्रों में बड़ी दिलचस्पी और सहानुभूति पैदा कर दी थी। करीब चार साल तक यह मुकदमा चला और इस अवधि में बार-बार प्रार्थना करने पर भी अभियुक्तों की जमानत मंजूर नहीं की गई। सरकार का पक्ष यह था कि अभियुक्तों ने बादशाह के हाथ से भारत पर उसकी प्रभुसत्ता को छीनने का और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सहायता से यहां सोवियत रूस के ढंग की सरकार स्थापित करने का षड्यंत्र किया। 16 जनवरी, 1933 को इस मुकदमे का फैसला सुनाया गया। तीन अभियुक्तों को मुक्त कर दिया गया और शेष (एक को छोड़कर जिसकी मुकदमे के दौरान मृत्यु हो गई थी) को तीन साल से लेकर आजन्म कैद तक की विभिन्न सजाएं सुनाई गईं।

जब मेरठ षड्यंत्र संबंधी गिरफ्तारियां हुई थीं तब ब्रिटेन में कंजरवेटिव पार्टी की

फिर से सही तौर से निश्चित किया जा सके। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश भारत एवं देशी रियासतों के प्रतिनिधियों का एक गोलमेज सम्मेलन होना चाहिए। ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने दोनों ही सुझाव मान लिए गए। इसी महीने लार्ड इर्विन भारत लौटे और उन्होंने 31 अक्तूबर, 1929 को एक वक्तव्य दिया जिसमें कहा गया था, 'मुझे हिज मैजेस्टी की सरकार ने अधिकार दिया है कि यह स्पष्ट तौर पर बता दूं कि उनके विचार से 1917 की घोषणा में यह निहित है कि भारत की वैधानिक प्रगति की स्वाभाविक नियति जैसा कि कल्पित है, उपनिवेश की हैसियत की प्राप्ति है।' उन्होंने आगे कहा कि जैसा कि सर साइमन ने स्वयं सुझाया है, साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद लंदन में एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाएगा।

ब्रिटिश मंत्रिमंडल के नए रूप से जो स्थिति बनी, ऐसा नहीं है कि उसकी ओर ध्यान न दिया गया हो या उसका लाभ न उठाया गया हो। देशबंधु चितरंजन दास के न रहने पर भी देश में कम से कम एक व्यक्ति ऐसा अवश्य था जो फौरन ही अवसर का लाभ उठा सकता था और उसके सौभाग्य से जनता के प्रतिनिधियों और वाइसराय के बीच इसकी मध्यस्थता की एक खास स्थिति थी। यह व्यक्ति थे श्री विट्ठलभाई पटेल जो यद्यपि प्रमुख कांग्रेसी थे पर 1925 में असेम्बली के अध्यक्ष चुन लिए गए थे। अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल का बड़ा यशस्वी सार्वजनिक जीवन रहा था। पेशे से तो वह वकील थे पर राजनीति को उन्होंने जीवन में पहला स्थान दिया था। हर ऊंच-नीच में बहुत लम्बे समय तक वह कांग्रेस के साथ रहे थे और कभी-कभी कांग्रेस के महामंत्री भी रहे थे। उस हैसियत से वह कांग्रेस के प्रतिनिधिमंडल के साथ इंग्लैंड भी गए थे। यह प्रतिनिधिमंडल वहां 1919 के सुधारों से पहले गया था। वह वैधानिक कानून के अच्छे ज्ञाता थे और संसदीय प्रक्रिया तथा खासकर अड़ंगेबाजी के विशेषज्ञ थे। उनके बारे में लोग कहा करते थे—'विट्ठलभाई को संसार का सबसे सम्पूर्ण संविधान दे दो और वह उसकी धज्जियां न उड़ा दें तो बात ही क्या।' असेम्बली के अध्यक्ष के नाते वह इतने सफल रहे कि *ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स की प्रक्रिया के अनुसार उन्हें 1927 में* दुबारा अध्यक्ष चुन लिया गया। सरकार को बेकार की परेशानी में डाले बिना वह असेम्बली की कार्यवाही इस ढंग से चलाते थे, जो किसी भी लोकप्रिय अध्यक्ष के लिए श्रेय की बात हो सकती थी। जब 1929 में असेम्बली में बम फेंका गया तो सरकार इस मौके का फायदा उठाकर असेम्बली भवन के रक्षकों का नियंत्रण अपने हाथ में ले लेना चाहती थी। उस समय अध्यक्ष ने काफी लड़ाई लड़कर सरकार को ऐसा नहीं करने दिया। असेम्बली के सचिवालय को भी उन्होंने अपने अधीन लेने के लिए सरकार से टक्कर टक्कर ली। पहले यह सचिवालय सरकार के अधीन रहता था। पर हर लड़ाई वह इतनी चतुराई और वैधानिक रीति की बारीकियों के साथ लड़ते थे कि वाइसराय लार्ड इर्विन उनका बड़ा आदर करने लगे थे।

मृत्यु के बारे में जानकर टेरेंस मैकस्विने के परिवार को शोक और गर्व हुआ है। आजादी अवश्य आएगी।''

यतीनदास मृत्यु के समय 25 वर्ष का था। जब वह विद्यार्थी था तब भी उसने 1921 के असहयोग आंदोलन में हिस्सा लिया था और कई वर्ष की जेल काटी थी। इसके बाद उसने कलकत्ता के एक कालेज में अपनी पढ़ाई शुरू की थी। 1928 में कलकत्ता कांग्रेस के समय उसने स्वयंसेवक दल के गठन और ट्रेनिंग में भाग लिया था और बंगाल सेवा दल में जिसका मैं चीफ आफिसर या जी.ओ.सी. था, वह मेजर के रैंक पर था। कांग्रेस अधिवेशन और इससे सम्बद्ध राष्ट्रीय प्रदर्शनी के लिए बहुत से स्वयंसेवकों की आवश्यकता थी और कांग्रेस के अधिकारियों ने मुझे इस दल के गठन और ट्रेनिंग का भार सौंपा था। यद्यपि यह दल शांतिपूर्ण और निःशस्त्र संगठन था फिर भी इसमें स्वयंसेवकों को सैनिक अनुशासन और सैनिक कवायद कराने की ट्रेनिंग दी जाती थी और उन्हें अर्धसैनिक वर्दी भी दी जाती थी। अधिवेशन समाप्त होने पर भी स्वयंसेवक दल को बनाए रखा गया और प्रांतभर में इसकी शाखाएं खोली गईं। इस सारे कठिन काम में यतीन ने काफी महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इसी कारण से स्वयंसेवक दल के अफसरों और सदस्यों ने यतीन की अंत्येष्टि में बहुत बड़ी संख्या में भाग लिया था।

इस बारे में महात्माजी का जो रोल रहा उसको समझाया नहीं जा सकता। यतीनदास के बलिदान ने सारे देश के हृदय को आंदोलित कर दिया था पर महात्माजी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आमतौर से 'यंग इंडिया' में सब प्रकार के राजनीतिक विषयों और हलचलों पर चर्चा रहा करती थी। स्वास्थ्य, भोजन जैसे विषयों पर भी चर्चा की जाती थी पर यतीन की मृत्यु पर उसमें कुछ भी नहीं लिखा गया। महात्माजी के एक अनुयायी ने, जो यतीन का भी मित्र था, जब उन्हें लिखा कि आप ने इस घटना के बारे में कुछ क्यों नहीं लिखा तो उन्होंने जवाब दिया कि मैंने जानबूझ कर इस बारे में कुछ नहीं लिखा क्योंकि यदि मैं लिखता तो मुझे कुछ उल्टा ही लिखने को मजबूर होना पड़ता।

यतीनदास की मृत्यु की खबर जब दिल्ली पहुंची तो असेम्बली का अधिवेशन चल रहा था। एक क्षण को ऐसा लगा कि सरकार का दिल भी कुछ धड़का लेकिन यह धड़कन क्षणिक थी। उसी समय सरकार जो थोड़ी बहुत द्रवित हुई, शीघ्र ही सरकारी कूटनीति और दोगलेपन में डूब गई। सरकार ने राजनीतिक कैदियों के साथ बर्ताव के प्रश्न पर गौर करने का वचन दिया। लेकिन लम्बे विचार और फाइलों के इधर-उधर चक्कर काटने तथा काफी देर के बाद जब जनता की उत्तेजना भी कुछ कम हो गई तो सरकार ने अंत में अपने प्रस्ताव प्रकट किए। पर उन्हें देखने पर पता चला कि इलाज तो रोग से भी बदतर था। शुरू में ही सरकार ने किसी को भी राजनीतिक कैदी की श्रेणी में रखने से इंकार कर दिया। यानि कि लाहौर के भूख हड़तालियों की मुख्य मांग को ही ठुकरा दिया गया। इसके बदले सरकार ने प्रस्ताव किया कि भविष्य में कैदियों को तीन श्रेणियों-'ए'

थे तो महात्माजी में अचानक परिवर्तन आया। जुलाई में कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पास करके कांग्रेसजनों से कहा कि वे विधान मंडलों की अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दें। इसके लिए विधान मंडलों में कांग्रेस पार्टी को कोई नोटिस नहीं दिया गया। न विधान मंडलों से उनकी राय पूछी गई। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह रही कि प. मोतीलाल नेहरू ने भी इसे मान लिया जो कि असेम्बली में कांग्रेस पार्टी का नेतृत्व कर रहे थे। पंडितजी ने मई के महीने में ही बंगाल की कांग्रेस पार्टी को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया था कि वह चुनाव लड़े और कुछ मुस्लिम सीटों को फिर से जीतने पर खास जोर दिया था। जब उसी महीने इलाहाबाद में अ.भा. कांग्रेस[1] समिति की बैठक हुई तो मैंने और श्री जे. एम. सेनगुप्त ने इस बात का डट कर विरोध किया। हम दोनों ही कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य थे। इस विरोध के कारण और विभिन्न प्रान्तों के विधान मंडलों में कांग्रेस पार्टियों ने जो असंतोष व्यक्त किया उसके कारण त्यागपत्र देने संबंधी प्रस्ताव को रद्द कर दिया गया और सारे मामले पर विचार दिसम्बर में होने वाली लाहौर कांग्रेस तक के लिए स्थगित कर दिया गया। अभी तक यह एक पहेली ही बनी हुई है कि मई और जुलाई के बीच ऐसी क्या बात हुई है जिससे उन्होंने (प. मोतीलाल नेहरू) ने अपना रवैया बदल दिया। क्या वह विधान मंडलों में कांग्रेस पार्टियों के काम से अचानक निराश हो गए थे? क्या असेम्बली में अपनी पार्टी में उनके अपने खिलाफ विद्रोह या फूट होने वाली थी और इस कारण वह उसे भंग करना चाहते थे या कि वह वामपंथियों के विरुद्ध, जो निरंतर शक्तिशाली होते जा रहे थे, एक संयुक्त मोर्चा बनाना चाहते थे? इस कारण वह महात्मा गांधी को खुश करने के लिए कौंसिल बायकाट के उनके पुराने सिद्धांत को मान गए। कुछ भी हो इसमें जरा भी संदेह नहीं कि प. मोतीलाल नेहरू के समर्थन के बिना महात्मा गांधी कांग्रेस पर अपने विचार नहीं थोप सकते थे और बहुत ही अफसोस के साथ यह कहना पड़ता है कि उस समय केवल प. मोतीलाल नेहरू ही ऐसे व्यक्ति थे जो महात्माजी को इधर या उधर मोड़ सकते थे और उन्होंने महात्माजी को विधान मंडलों का बायकाट करने की नीति को फिर से जिन्दा करके देश के प्रति निश्चित रूप से कुसेवा की। आने वाले सालों में बायकाट के हानिकारक नतीजे अधिकाधिक साफ-साफ दिखाई देने लगे। राजनीति की दृष्टि से विधान मंडलों का बायकाट भयानक भूल थी और वह भी ऐसे समय जब कि नया संविधान विचाराधीन था और खास कर तब जब पहले साल ही यह स्पष्ट हो गया था कि असेम्बली में कांग्रेस के रहने से ही असेम्बली ने साइमन कमीशन की भर्त्सना की थी। मैं उन थोड़े से लोगों में से था जिन्होंने अंत तक प्रस्तावित बायकाट का विरोध किया लेकिन प. मोतीलाल नेहरू के समर्थन और बाद में श्री जे. एम. सेनगुप्त के भी साथ देने से महात्माजी आसानी से कांग्रेस को राजी कर सके और बंगाल भी एक होकर इसका विरोध नहीं कर पाया, जैसा

1 अ.भा. कांग्रेस समिति में विभिन्न प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करने वाले 350 सदस्य होते हैं। यह समिति हर साल 15 व्यक्तियों की एक समिति को चुनती है जो कांग्रेस कार्य समिति या कांग्रेस कार्यकारिणी कहलाती है।

कि इलाहाबाद में जुलाई में अ.भा. कांग्रेस समिति के अधिवेशन में मेरे और श्री जे.एम. सेनगुप्त में मतभेद होने से पहले सम्भव हो सका था।

अगस्त महीने में अ.भा. कांग्रेस समिति की एक विशेष बैठक इस बात का निश्चय करने के लिए बुलाई गई कि आगामी कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करे। कांग्रेस के विधान के अनुसार अधिकांश प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों ने महात्माजी को नामजद किया था। लेकिन उन्होंने अपनी नामजदगी को नामंजूर कर दिया। कांग्रेस क्षेत्रों में उस समय आम राय यह थी कि यह सम्मान सरदार वल्लभभाई पटेल को मिलना चाहिए। लेकिन महात्माजी ने पं. जवाहरलाल नेहरू की उम्मीदवारी का समर्थन करने का निश्चय किया। महात्माजी के लिए यह चुनाव समझदारी का था लेकिन कांग्रेस के वामपक्ष के लिए दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ क्योंकि इसी घटना से महात्माजी और पं. जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक समझौते की शुरुआत हुई और इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के वामपक्ष के साथ उनके (पं. जवाहरलाल नेहरू) दुराव की। 1920 से पं. जवाहरलाल नेहरू महात्माजी की हर नीति के निकट समर्थक रहे थे और उनके साथ पंडितजी के निजी संबंध भी सदा मैत्रीपूर्ण रहे थे। फिर भी दिसम्बर 1927 में इंग्लैंड से लौटने के बाद से पं. जवाहरलाल नेहरू अपने को समाजवादी कहने लगे थे और महात्मा गांधी तथा अन्य पुराने नेताओं के विचारों से विपरीत विचार प्रकट करने लगे थे और अपने सार्वजनिक जीवन में कांग्रेस के भीतर विरोधी गुट यानि वामपक्ष के साथ अपने को जोड़ने लगे थे। उनकी जबरदस्त हिमायत के बिना इंडिपेंडेंस लीग इतना महत्व प्राप्त कर ही नहीं सकती थी जितना उसने उस समय कर लिया था। इसलिए महात्माजी के लिए यदि वह वामपक्षी विरोधियों को नीचा दिखाकर कांग्रेस पर फिर से अपना एकछत्र नियंत्रण चाहते थे तो पं. जवाहरलाल नेहरू को अपने साथ मिलाना अनिवार्य हो गया था। वामपक्षी यह नहीं पसंद करते कि उनका सबसे प्रमुख प्रवक्ता लाहौर कांग्रेस का अध्यक्ष पद स्वीकार करे, क्योंकि यह स्पष्ट था कि ऐसा होने से कांग्रेस महात्माजी की मुट्ठी में रहेगी और अध्यक्ष केवल कठपुतली रहेगा। उनका विचार यह था कि वामपक्ष के किसी भी व्यक्ति को कांग्रेस का अध्यक्ष पद तब स्वीकार करना चाहिए जब वह इस स्थिति में हो कि कांग्रेस उसके कार्यक्रम को स्वीकार करे। किन्तु महात्माजी ने प जवाहरलाल नेहरू की उम्मीदवारी का समर्थन करके चालाकी का कदम उठाया और उनके अध्यक्ष बनने से उनके सार्वजनिक जीवन का एक नया ही अध्याय शुरू हुआ। तब से पं. जवाहरलाल नेहरू महात्माजी के निरंतर वफादार समर्थक रहे हैं।

इस बीच साइमन कमीशन अपना काम करता रहा और 16 अक्तूबर, 1929 को (और लगता है पहले से ही कुछ ऐसा तय था) प्रधानमंत्री श्री रैमजे मैकडोनल्ड को लिखा कि कमीशन के विचारणीय विषयों को बढ़ाया जाए ताकि वह उन तरीकों पर भी विचार कर सके जिनके द्वारा देसी रियासतों और ब्रिटिश भारत के प्रांतों के भावी संबंधों को

सरकार थी लेकिन जून में वहां आम चुनाव होने के बाद लेबर पार्टी सत्ता में आ गयी थी और कैप्टेन वेजवुड बेन भारत मंत्री बनाए गए। आशा की जाती थी कि मेरठ केस के अभियुक्तों के लिए लेबर पार्टी की सरकार कुछ करेगी लेकिन असल में कुछ भी नहीं किया गया। खैर, लेबर पार्टी मंत्रिमंडल ने भारत के मज़दूर वर्ग को खुश करने के लिए एक कदम उठाया। साइमन कमीशन के मज़दूर दल के संस्करण की तरह एक शाही लेबर कमीशन (शाही श्रम आयोग) नियुक्त किया गया। इसके अध्यक्ष श्री विह्टले थे। इस कमीशन को भारत में मज़दूरों की स्थिति की रिपोर्ट देने और उसके सुधार की सम्भावित रूपरेखा सुझाने का काम सौंपा गया था। चूंकि लेबर पार्टी की सरकार के सामने साइमन कमीशन के बायकाट का अनुभव था इस कारण उसने इस कमीशन में दो स्थान भारतीय मज़दूर नेताओं को दिए। ये नेता थे—श्री एन.एम. जोशी (बंबई) और श्री चमन लाल (लाहौर)। ये दोनों ही व्यक्ति भारतीय श्रम आंदोलन के दक्षिण पक्ष से सम्बद्ध थे। इन्होंने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया लेकिन उनके इस निर्णय से भारतीय मज़दूर संगठन में फूट पड़ गई। जब नवम्बर में नागपुर में कांग्रेस की बैठक हुई जिसके अध्यक्ष प. जवाहरलाल नेहरू थे तो यह पाया गया कि बहुमत लेबर कमीशन (विह्टले कमीशन) के बायकाट के पक्ष में था। इस रवैये के कई कारण थे। उन दिनों बायकाट का वातावरण था। फिर बड़ी बात यह थी कि क्योंकि लेबर पार्टी की सरकार ने मेरठ षड्यंत्र के अभियुक्तों के बारे में कुछ भी नहीं किया था इसलिए यह अनुभव किया गया कि उनके द्वारा नियुक्त कमीशन से भारत का कुछ भी भला नहीं होने वाला है। तीसरे, पिछले मार्च के महीने में जो भारत भर में भारी संख्या में गिरफ्तारियां हुई थीं उनके कारण मज़दूर संगठनों के भीतर वामपक्ष वालों के प्रति सहानुभूति पैदा हो गई थी। जब कमीशन के बायकाट का प्रस्ताव स्वीकार हो गया तो 'चमन लाल मुर्दाबाद,' 'जोशी मुर्दाबाद' आदि नारे लगाए गए और इसी तरह के पट्टे भी प्रदर्शित किए गए। श्री जोशी ने भारतीय मज़दूर आंदोलन के लिए इतना कुछ किया था यहां तक कि उनको इस आंदोलन का जनक कहना भी उचित ही होगा। उनके प्रति इस प्रकार के व्यवहार से उनके अनुयायियों (दक्षिण पंथियों) को बहुत क्षोभ हुआ और वे लोग अधिवेशन से उठ कर चले गए। इसके बाद उन्होंने अपना एक अलग संगठन बनाया जिसका नाम रखा आल इंडिया ट्रेड यूनियन फेडरेशन। आमतौर से इस सम्बंध-विच्छेद का कारण यह बताया जाता है कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अपने को 'लीग अगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म' और 'पान-पैसिफिक ट्रेड यूनियन सेक्रेटेरिएट' से सम्बद्ध कर लिया था और ये दोनों कम्युनिस्ट संगठन थे। लेकिन असल कारण विह्टले कमीशन का बायकाट था। यदि बायकाट पर अमल किया जाता तो श्री जोशी और श्री चमन लाल को उससे त्यागपत्र देना पड़ता। जहां तक 'लीग अगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म' से सम्बन्ध जोड़ने का सवाल है, यह तो ट्रेड यूनियन कांग्रेस के 1928 के झरिया अधिवेशन में ही तय हो चुका था। लेकिन उस समय दक्षिण पक्ष के मज़दूर नेता इस घूंट को पी गए थे क्योंकि उस समय वे सेक्रेटेरिएट को अपने कब्ज़े में रखने

श्री विट्ठलभाई पटेल ने वाइसराय को समझाया कि वह कांग्रेस नेताओं महात्मा गांधी और पं. मोतीलाल नेहरू से स्वयं मिलें और उनके साथ समझौते की कोशिश करें। वाइसराय इस बात पर राजी हो गए और दिसम्बर में यह भेंट हुई। लेकिन इससे पहले उन्हें ऐसी जमीन तैयार करनी पड़ी जिससे कि नेताओं की ओर से भी समुचित तैयारी दिखाई पड़े। अतः नवम्बर में दिल्ली में सब पार्टियों के नेताओं का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में भारी बहुमत से ऐसा घोषणापत्र जारी करने का फैसला किया गया जिसमें वाइसराय की घोषणा की सदाशयता की प्रशंसा की जाए और भारत के लिए औपनिवेशक संविधान तैयार करने के प्रयत्न में हिज मैजेस्टी की सरकार को सहयोग देने का प्रस्ताव किया जाए। घोषणापत्र के हस्ताक्षरकर्ताओं ने आशा प्रकट की कि गोलमेज सम्मेलन इस बात पर विचार नहीं करेगा कि उपनिवेश का दर्जा कब दिया जाएगा बल्कि भारत के लिए औपनिवेशिक संविधान की योजना पर विचार करेगा। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि गोलमेज सम्मेलन से पहले आम माफी की घोषणा की जाए। इस घोषणापत्र पर महात्मा गांधी, पं. मोतीलाल नेहरू, पं. जवाहरलाल नेहरू, पं. मदनमोहन मालवीय, डा. अंसारी, डा. मुंजे, सरदार वल्लभभाई पटेल, राइट आनरेबल वी.एस. शास्त्री, सर तेजबहादुर सप्रू, श्रीमती एनी बेसेंट, श्रीमती सरोजिनी नायडू तथा कुछ अन्य नेताओं ने हस्ताक्षर किए थे। पहले तो पं. जवाहरलाल नेहरू अन्य नेताओं से सहमत नहीं थे और इस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने को राजी नहीं थे। वह मेरे साथ मिलकर एक विपरीत घोषणा पत्र जारी करने का इरादा रखते थे। लेकिन बैठक के अंत में उन्हें महात्माजी ने यह कह कर मना लिया कि यदि आप लाहौर कांग्रेस के मनोनीत अध्यक्ष हैं और आपने इस पर हस्ताक्षर नहीं किए तो इस घोषणापत्र का मूल्य बहुत कम हो जाएगा। इसके बाद डा. सैफुद्दीन किचलू (लाहौर), श्री अब्दुल बारी (पटना) और मैंने अलग से एक घोषणापत्र जारी किया जिसमें उपनिवेश का दर्जा स्वीकार करने और गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के विचार से विरोध प्रकट किया गया था। इस घोषणापत्र में कहा गया था कि गोलमेज सम्मेलन में केवल आजादी के लिए लड़ने वाली पार्टियां ही हिस्सा लें और भारत के प्रतिनिधियों को ब्रिटिश सरकार न चुने जैसा कि उसका इरादा है, बल्कि वे भारत की जनता द्वारा चुने जाएं। इसमें भारतवासियों को यह भी चेतावनी दी गई थी कि वाइसराय की घोषणा भारत के लोगों को फंसाने का जाल है। यह ठीक उसी तरह है जिस तरह कुछ साल पहले ब्रिटिश सरकार ने आयरलैंड के साथ किया था। उस समय ब्रिटेन के प्रधानमंत्री श्री लायड जार्ज ने सुझाव रखा था कि आयरलैंड के लिए संविधान तैयार करने की दृष्टि से आयरलैंड के सभी दलों का एक सम्मेलन बुलाया जाए पर वहां की सिन फीएन पार्टी काफी समझदार थी। उसने इस बात को समझ लिया और सम्मेलन का बायकाट कर दिया। नेताओं के घोषणापत्र ने जनता का ध्यान आकृष्ट किया और उसे जोरदार जन-समर्थन प्राप्त हुआ। इसके मुकाबले विरोधी घोषणापत्र का केवल वामपक्षी कांग्रेसजनों ने और युवकों ने ही आमतौर से स्वागत किया।

इसी महीने यानि नवम्बर में बंगाल कांग्रेस समिति की बैठक हुई जिसमें पदाधिकारियों के चुनाव आदि हुए। उस बैठक में यह बात सामने आई कि समिति में दो गुट एक सेनगुप्त के और दूसरा मेरे नेतृत्व में हो गए। चुनावों में काफी जोर की टक्कर रही और मेरी पार्टी थोड़े से बहुमत से जीती। यह बंगाल के झगड़े की शुरुआत थी और कांग्रेस समिति में फूट होने से युवकों और विद्यार्थियों में भी फूट पड़ गई। असल में दरार तो कलकत्ता कांग्रेस के समय ही पड़ गई थी जब श्री जे.एम. सेनगुप्त ने महात्माजी का साथ दिया था और वह चाहते थे मैं भी ऐसा ही करूं। उस समय से ही बंगाल में श्री सेनगुप्त के नेतृत्व में एक अलग पार्टी बन गई थी, जो महात्माजी की और उनकी नीति का आंख मूंद कर समर्थन करती थी। बंगाल की बहुसंख्यक पार्टी महात्माजी के साथ इस ढंग से नहीं बधी थी और अपने दृष्टिकोण और कार्यक्रम के नाते यह कांग्रेस में महात्माजी के विरोधी वामपक्ष के साथ जुड़ी थी।

कांग्रेस नेता महात्मा गांधी और पं. मोतीलाल नेहरू दिसम्बर में वाइसराय से भेंट करने वाले थे। इस भेंट से पूर्व एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घट गई। यह थी वाइसराय की रेलगाड़ी को बम से उड़ाने का यत्न। लेकिन सौभाग्य से कोई गम्भीर बात नहीं हुई और लार्ड इर्विन सुरक्षित बच निकले। जिस भेंट की इतनी देर से प्रतीक्षा थी वह हुई लेकिन उसका नतीजा कुछ नहीं निकला। कांग्रेस नेता ब्रिटिश सरकार या कम से कम वाइसराय से ही यह आश्वासन चाहते थे कि भारत को औपनिवेशिक स्वशासन दिया जाएगा लेकिन यह आश्वासन उन्हें नहीं मिला। वह वाइसराय को निराश छोड़कर और खाली हाथ लौट कर लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में पहुंचे[1]। देश का सामान्य वातावरण उग्रवादी नीति के अनुकूल था। सारे साल देश में असंतोष फैला रहा। पंजाब के सरदार भगतसिंह और उनके साथियों की गिरफ्तारी के बाद नौजवान भारत सभा ने उनके पक्ष में बहुत प्रचार किया था। दूसरी तरफ वे नेता, जो कलकत्ता कांग्रेस में कुछ न करने की अपील कर चुके थे, कुछ हासिल नहीं कर पाए थे। यतीन्द्रनाथ दास के बलिदान से देश का वातावरण बहुत तनावपूर्ण हो गया था। महात्माजी ने यह घोषणा करके समझौतावादी मनोवृत्ति का परिचय दिया कि यदि सरकार 31 दिसम्बर, 1929 तक कुछ भी अनुकूल रवैया नहीं दिखाती है, तो वह 1 जनवरी, 1930 को 'आज़ादीवाले' बन जाएंगे। उनकी तरह उनके दकियानूस समर्थक भी, अभी तक हमेशा औपनिवेशिक स्वशासन की ही मांग करते आए थे और इस नीति से हटना भी नहीं चाहते थे, लेकिन महात्माजी ने समझ लिया कि उनके विरोध के बावजूद स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार हो जाएगा क्योंकि देश का वातावरण ही ऐसा था। इसलिए उन्होंने खुद ही इस प्रस्ताव को पेश करना उचित समझा।

---

1 सम्भवतः यह स्पष्ट था है कि ब्रिटिश सरकार या वाइसराय महात्मा गांधी को इस बात का कोई आश्वासन नहीं दे सके थे कि 31 अक्तूबर, 1929 की वाइसराय की घोषणा के फौरन बाद ही इंग्लैंड के श्री चर्चिल, लार्ड बर्कनहेड, लार्ड रीडिंग और कुछ अन्य लोगों ने इसका विरोध करना शुरू कर दिया था।

लाहौर कांग्रेस का अधिवेशन पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ। जैसी कि अपेक्षा थी, अध्यक्ष तो बस नाममात्र के ही थे सारी की सारी कार्यवाही पर महात्मा गांधी ही छाए रहे और उन्होंने स्वाधीनता की हिमायत करके कुछ वामपंथी तत्वों को भी अपने साथ मिला लिया। यद्यपि मद्रास कांग्रेस में 1927 में ही स्वाधीनता का प्रस्ताव पास कर दिया गया था लेकिन कांग्रेस के विधान में जो निश्चित किया गया था उस लक्ष्य को नहीं बदला गया था। यह काम लाहौर में हुआ। महात्माजी ने जो प्रस्ताव पेश किया था उसके एक खंड पर काफी उत्तेजना दिखाई दी। यह वाइसराय की ट्रेन को बम से उड़ाने की कोशिश में उनका बाल बांका न होने के लिए उन्हें बधाई देने के बारे में था। कांग्रेसजनों को यह ख्याल था कि इस तरह के राजनीतिक प्रस्ताव में यह बात जोड़ना बेकार है पर महात्माजी ने इस पर जोर दिया। संभवतः इसका कारण था कि वह वाइसराय को खुश करना चाहते थे ताकि आगे समझौते के लिए कुछ रास्ता साफ हो जाए। खैर जो भी हुआ, महात्माजी ने इसे अपने प्रति विश्वास का सवाल बना लिया और वह थोड़े से मतों से जीत गए। अब आगे सवाल आया अगले साल के लिए आंदोलन की योजना क्या हो। महात्माजी इस के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। कांग्रेस ने प्रस्ताव पास किया कि सभी कांग्रेसजन विधान मंडलों की सदस्यता से इस्तीफा दे दें और इस प्रकार 1923 में स्वराजवादियों की जीत का बदला अब आकर 1929 में लिया गया। उनकी योजना के रचनात्मक पक्ष के रूप में उन्हीं के कहने पर कार्य समिति ने एक प्रस्ताव स्वीकार कर अ.भा. चरखा संघ और इसी प्रकार की स्वशासी संस्थाओं का गठन कर अस्पृश्यता निवारण, शराबबंदी तथा हर प्रकार की नशाबंदी की रोक के लिए प्रचार करने का आग्रह किया। इस पर हर एक ने एक ही सवाल किया कि देशभर में कांग्रेसजनों और कांग्रेस संगठनों को आखिर क्या काम दिया जाना चाहिए। जब स्वशासी बोर्ड बनाने का प्रस्ताव विषय समिति के सामने आया तो इसका काफी विरोध हुआ। आम कांग्रेसजनों की इच्छा थी कि यह काम कांग्रेस संगठनों को करना चाहिए न कि महात्माजी की प्रस्तावित तदर्थ संस्थाओं को। इस पर यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया। वामपक्ष की ओर से मेरे द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया कि कांग्रेस देश में समानांतर सरकार स्थापित करने का लक्ष्य अपनाए और इसकी पूर्ति के लिए किसानों, मजदूरों और युवकों को संगठित करने का काम अपने हाथ में ले। यह प्रस्ताव भी पास नहीं हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि पूर्ण स्वाधीनता को कांग्रेस ने अपना लक्ष्य स्वीकार कर लिया लेकिन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए न तो कोई योजना निर्धारित की और न ही अगले साल के लिए कोई कार्यक्रम ही बनाया गया। क्या इससे बढ़कर बदतर हालात की कल्पना की जा सकती है? लेकिन कभी-कभी सार्वजनिक मामलों में हम यथार्थ के ज्ञान को ही नहीं, मामूली समझदारी को भी खो बैठते हैं। जब आगामी वर्ष के लिए कार्य समिति के चुनाव का वक्त आया तो महात्माजी ने अपने पंद्रह व्यक्तियों की सूची पेश कर दी। इस सूची में श्रीनिवास आय्यंगार, मेरे और अन्य वामपंथियों के नाम जानबूझ कर नहीं रखे गए थे।

अ भा. कांग्रेस समिति में मुझे और श्री आय्यंगार को कार्य समिति में रखने के पक्ष में प्रबल भावना थी लेकिन महात्माजी कहां सुनने वाले थे। उन्होंने खुल कर कहा कि मैं कार्य समिति एक विचारों की चाहता हूं और मेरी सूची जैसी की तैसी ही स्वीकार होनी चाहिए। एक बार फिर विश्वास का सवाल उठ खड़ा हुआ और सदन उनका विरोध नहीं करना चाहता था। उनकी बात मानने के सिवा उसके सामने कोई दूसरा चारा नहीं था।

कुल मिलाकर देखें तो लाहौर कांग्रेस महात्माजी की ही फतह दिखाती है। वामपक्ष के सबसे प्रमुख प्रवक्ताओं में से एक पं. जवाहरलाल नेहरू को महात्माजी ने फोड़ लिया था और अन्य वामपक्षी कार्यसमिति से बाहर कर दिए गए थे। अब आगे महात्माजी कांग्रेस कार्यसमिति में बिना किसी विरोध के अपनी योजनाएं मनवा सकते थे। कार्यकारिणी के बाहर जब कोई विरोध उठा भी तो वह कांग्रेस से अलग हो जाने या आमरण अनशन की धमकी देते थे। उनकी निजी दृष्टि से यह सबसे चतुराईपूर्ण नीति थी। उनकी हां में हां मिलाने वाली कार्यसमिति के रहते हुए उनके लिए मार्च 1931 में लार्ड इर्विन से समझौता करना, गोलमेज सम्मेलन के लिए खुद को एकमेव प्रतिनिधि नियुक्त करवा लेना, सितम्बर 1932 में पूना समझौता और अन्य कई ऐसे काम कर सकना संभव हो गया जिनसे सार्वजनिक हित को काफी ठेस पहुंची।

आम जनता के लिए जो राजनीति की बारीकियों से और कांग्रेस की अलग समितियों के भीतरी मतभेदों से अनभिज्ञ थी, लाहौर कांग्रेस महान प्रेरणादायक रही। दिसम्बर 31 की आधी रात के बाद कांग्रेस के अध्यक्ष ने बाहर आकर राष्ट्रीय झंडा फहराया। लाहौर की भीषण और कड़कड़ाती सर्दी के बावजूद उस समय अपार जन समूह मौजूद था और जब झंडा ऊपर चढ़ा तो लोगों में उत्साह की लहर दौड़ गई। जब कांग्रेस समाप्त हुई तो क्षितिज पर उषा की किरणें उभर आईं और यह विशाल जनसमुदाय नई आशा और नया संदेश लेकर वहां से विदा हुआ।

अध्याय 10

तूफानी वर्ष (1930)

नया साल हरेक के लिए नई आशा और नया विश्वास लेकर आया। लोग कार्य समिति की ओर आंख लगाए थे कि वह उन्हें शीघ्र स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए क्या करने का आदेश देती है। महात्माजी ने देश के माहौल को सही आंका और कहा: "केवल सविनय अवज्ञा ही देश को आशंकित अव्यवस्था और गुप्त अपराधों से बचा सकती है क्योंकि देश में हिंसा का एक ऐसा दल है जो भाषणों, प्रस्तावों या सम्मेलनों पर भरोसा नहीं करता और सीधी कार्रवाई में ही विश्वास रखता है।" इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष का खुद नेता बनने का संकल्प किया ताकि इसे अहिंसा की सीमाओं में रखा जा सके। जनवरी के शुरू में दिया गया पहला आदेश यह था कि 26 जनवरी को स्वतंत्रता दिवस मनाया जाए। उस दिन के लिए महात्माजी ने एक घोषणापत्र तैयार किया था जिसे कार्य समिति ने स्वीकार किया। इसे हर मंच से पढ़ा जाना था और जनता को इसे स्वीकार करना था। यह घोषणापत्र जिसे नीचे उद्धृत किया जा रहा है, स्वाधीनता की घोषणा और भारत की आजादी के पुनीत संघर्ष में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति वफादारी की शपथ थी :

"हमारा विश्वास है कि अन्य सभी लोगों की तरह भारतवासियों का भी यह अहरणीय अधिकार है कि वे स्वतंत्र हों और अपने श्रम के फल को पूरी तरह भोग सकें और विकास के पूरे-पूरे अवसर उन्हें प्राप्त हों। हमारा यह भी विश्वास है कि जो सरकार लोगों को इन अधिकारों से वंचित करती है और उन्हें सताती है, उसे बदलने या मिटाने का भी उन्हें अधिकार है। ब्रिटिश सरकार ने भारतवासियों से उनकी स्वाधीनता ही नहीं छीनी है बल्कि वह यहां जनता के शोषण की बुनियाद पर टिकी है और उसने भारत को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप से बर्बाद कर दिया है। अतः हम विश्वास करते हैं कि भारत को ब्रिटेन से अपना नाता तोड़ लेना चाहिए और पूर्ण स्वराज्य या पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिए।

"भारत आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः ध्वस्त हो चुका है। जनता से जो राजस्व वसूल किया जाता है वह हमारी आय की तुलना में बेहिसाब है। हमारी औसत दैनिक आय, सात पैसे (दो पेंस से भी कम) है और हमसे जो भारी कर वसूल किए जाते हैं उनमें से 20 प्रतिशत भू-राजस्व से प्राप्त होता है जो किसानों को देना पड़ता है और 3 प्रतिशत नमक कर से मिलता है जो गरीबों पर भारी बोझ है।

"कताई जैसे ग्रामोद्योग नष्ट हो चुके हैं जिससे किसान लोग साल में कम से कम चार महीने बेकार रहते हैं और किसी भी प्रकार की दस्तकारी के अभाव की वजह से उनकी अक्ल कुंद हो गई है, क्योंकि अन्य देशों की तरह इन नष्ट की हुई दस्तकारियों का स्थान किसी दूसरी चीज ने भी नहीं लिया है।

"सीमा शुल्क और मुद्रा इस ढंग से संचालित की गई हैं जिनसे किसानों पर अत्यधिक बोझ पड़ता है। हमारा अधिकांश आयात ब्रिटिश निर्मित माल का ही होता है। सीमा शुल्क लगाने में ब्रिटेन में बने माल के साथ स्पष्ट पक्षपात होता है और उससे जो आमदनी होती है वह आम लोगों पर पड़े भार को कम करने के बजाय बेहद खर्चीले प्रशासन को कायम रखने में इस्तेमाल होती है। मुद्रा विनिमय की दर तो और भी मनमानी है जिसके कारण देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनीतिक दृष्टि से भारत का दर्जा इतना नीचा कभी नहीं रहा जितना आज ब्रिटिश सरकार के अधीन है। सुधारों से जनता को कोई वास्तविक शक्ति या अधिकार नहीं मिले हैं। विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति और संगठित होने के अधिकारों से हम वंचित हैं। हमारे बहुत से देशवासियों को मजबूर होकर विदेशों में रहना पड़ रहा है और वे स्वदेश लौट भी नहीं सकते। सारी प्रशासनिक प्रतिभा को कुंठित कर दिया गया है और देशवासियों को बस पटवारी या क्लर्क के पदों से ही संतुष्ट रहना पड़ रहा है।

"सांस्कृतिक दृष्टि से शिक्षा प्रणाली ने हमें अपने मूल से काट दिया है और हमारी शिक्षा ने उन्हीं जंजीरों को प्यार करना सिखाया है जो हमें जकड़े हुए हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से निरस्त्रीकरण ने हमारा पौरुष समाप्त कर दिया है और एक विदेशी सेना की मौजूदगी ने, जिसने हमारे प्रतिरोध की शक्ति को बुरी तरह कुचल दिया है, हमें यह सोचने पर मजबूर कर दिया है कि हम अपनी रक्षा नहीं कर सकते या विदेशी आक्रमण से अपना बचाव नहीं कर सकते यानि कि हम खुद को और अपने घर-परिवार को चोरों, डाकुओं और बदमाशों से सुरक्षित नहीं रख सकते।

"हम समझते हैं कि ऐसे शासन के सामने सिर झुकाना मनुष्य और ईश्वर के प्रति अपराध है जिसने हमारे देश का सत्यानाश किया है। हम यह अवश्य मानते हैं कि आजादी हासिल करने का रास्ता हिंसा नहीं है। इसलिए हम अपने आप को ब्रिटिश सरकार के साथ जहां तक हो सकेगा, सहयोग न करने के लिए तैयार करेंगे और करबंदी सहित सविनय अवज्ञा की तैयारी करेंगे। हमें पूरा विश्वास है कि यदि हम स्वैच्छिक सहायता देना और कर देना बंद कर दें तथा भड़काए जाने पर भी हिंसा न करें तो इस अमानवीय शासन का अंत सुनिश्चित है। अतः हम लोग निष्ठापूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आदेश जारी करेगी हम उनका पालन करेंगे।"

देशभर से जो समाचार मिले उनसे पता चला कि स्वाधीनता दिवस समारोह काफी सफल रहे। सब तरफ असाधारण उत्साह दिखाई दिया और महात्माजी ने अनुभव किया कि अब यह गतिमान कार्यक्रम को हाथ में ले सकते हैं। लेकिन इसी समय उनके भीतर के व्यावहारिक राजनीतिज्ञ ने जोर मारा, सिविल नाफर्मानी या सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने के साथ-साथ वह समझौते के लिए भी द्वार खुला रखना चाहते थे और समझते थे कि स्वाधीनता का प्रस्ताव इस बारे में रुकावट डाल सकता है। उन्होंने यह भी समझ लिया कि उनके कुछ धनी समर्थक यानी भारतीय पूंजीपति लाहौर कांग्रेस के प्रस्ताव से चौंक गए थे। इसलिए कुछ सफाई देने की आवश्यकता थी खासकर इस वजह से कि स्वाधीनता का अर्थ था ब्रिटेन से संबंधों की समाप्ति। 30 जनवरी को उन्होंने अपने पत्र 'यंग इंडिया' में एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि मैं स्वाधीनता के तत्व से ही संतुष्ट हो जाऊंगा और इन शब्दों का अर्थ समझाने के लिए उन्होंने ग्यारह सूत्रों का उल्लेख किया। अंत में उन्होंने स्वाधीनता शब्द का प्रयोग करना ही छोड़ दिया और स्वाधीनता का तत्व (सब्सटेन्स आफ इंडिपेंडेंस) के बदले अपने ही द्वारा गढ़े हुए शब्द पूर्ण स्वराज्य का ही प्रयोग किया जिसे वह चाहे जो अर्थ दे सकते थे। उन्होंने जो 11 सूत्र बतलाए उनसे उन सभी क्षेत्रों को तसल्ली हो गई जो स्वाधीनता के विचार से घबरा गए थे और उनसे आगामी महीनों में चली लम्बी बातचीत के लिए रास्ता भी साफ हो गया। ये 11 सूत्र इस प्रकार थे :

1. पूर्ण नशाबंदी ।
2. अनुपात (रुपये और पौंड का) को एक शिलिंग 6 पैंस से घटा कर एक शिलिंग 4 पैंस कर देना।
3. लगान को कम से कम 50 प्रतिशत घटाना और इस पर विधायिका का नियंत्रण रखना।
4. नमक कर की समाप्ति।
5. सैनिक खर्च को घटाना और शुरू में ही कम से कम आधा कर देना।
6. ऊंची श्रेणी की सेवाओं के वेतन घटा कर आधे या उससे भी कम कर देना ताकि घटे हुए राजस्व से पूरा पड़ सके।
7. विदेशी कपड़े पर संरक्षणात्मक तटकर लगाना।
8. तटीय यातायात आरक्षण विधेयक को पास करना (भारत के समुद्रतटीय यातायात को भारतीय जहाजों के लिए आरक्षित रखना)।
9. जुडीशियल ट्रिब्यूनलों में जिन पर हत्या या हत्या की कोशिश के मुकदमे चल रहे हों उन्हें छोड़कर बाकी सभी राजनीतिक बंदियों की रिहाई, सभी प्रकार के राजनीतिक अभियोगों की वापसी, भारतीय दंड संहिता (इंडियन पीनल कोड) की धारा 124 ए, 1818 के रेगुलेशनों और इसी प्रकार के सब कानूनों की समाप्ति और सभी निष्कासित भारतीयों को स्वदेश लौटने की अनुमति।

10 सी आई डी (गुप्तचर विभाग) की समाप्ति या इस पर विधायिका का नियत्रण।
11 लोकहित को ध्यान में रखते हुए आत्मरक्षा के लिए आग्नेय अस्त्रों (बदूक आदि) के लाइसेंस देना।

फरवरी के आरभ तक स्थिति महात्माजी के अनुकूल थी। काग्रेस कार्यसमिति ने सविनय अवज्ञा आदोलन चलाने के लिए उन्हे डिक्टेटर के अधिकार दे दिए थे। स्वाधीनता दिवस को देशभर मे जिस उत्साह के साथ मनाया गया उसके अलावा विभिन्न विधान मडलो मे काग्रेस पार्टी के सदस्यो ने लाहौर काग्रेस के आदेश के अनुसार अपने-अपने त्यागपत्र दे दिए। हा, मुसलमानों का बहुत बड़ा वर्ग सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा का विरोधी था। अली बधुओ ने मुसलमानो से काग्रेस की अपील पर ध्यान न देने की खुली अपील की। फिर भी राष्ट्रवादी मुसलमानों ने, जो सख्या में नगण्य नहीं थे, पूरे दिल से काग्रेस का साथ दिया और उत्तर पश्चिमी सीमाप्रात, जो मुस्लिम बहुल प्रात था, पूरी तरह आने वाले आदोलन में साथ देने को तैयार था। बहुत आत्म-निरीक्षण के बाद 27 फरवरी को महात्माजी ने अपने आदोलन की योजना की घोषणा की। इसके बाद उन्होंने जो कुछ निर्णय किए वे हमेशा के लिए इतिहास में उनके नेतृत्व की सर्वोत्तम उपलब्धिया मानी जाएगी जो यह सिद्ध करती हैं कि वह सकट के समय राजनय की कितनी ऊचाई को छू सकते हैं। 27 फरवरी, 1930 को उन्होंने 'यग इडिया' में लिखा

"इस बार मेरी गिरफ्तारी पर मूक और निष्क्रिय अहिसा नहीं होगी। बल्कि अत्यत सक्रिय प्रकार की अहिसा का परिचय मिलना चाहिए ताकि भारत की स्वाधीनता के लिए अहिसा मे पूर्णत विश्वास करने वाला एक भी व्यक्ति इस प्रयास के अत में स्वतत्र या जीवित न बचे । जहा तक मेरा सबध है, मेरा इरादा अपने आश्रम के उन लोगों से मिल कर आदोलन शुरू करने का है जिन्होंने इसके अनुशासन को पूरा मान लिया है और उसके तौर-तरीकों की भावना को पूरी तरह हृदयगम कर लिया है।"

हिसा फूट पडने की अवस्था में अवज्ञा आदोलन को रोक देने की सम्भावना के बारे मे जैसा कि 1922 में हुआ था, उन्होंने लिखा -

"यद्यपि हिसा की हर शक्ति को रोकने का हर सम्भव और कल्पनीय प्रयत्न होना चाहिए लेकिन इस बार सविनय अवज्ञा के एक बार शुरू होने पर जब तक एक भी अवज्ञाकारी जिदा या स्वतत्र रहेगा इसे रोका नहीं जा सकेगा।"

उनके इस अतिम वक्तव्य से उन सभी लोगों को आश्वस्त करने म मदद मिली जिन्होंने 1922 मे चौरीचौरा में भीड द्वारा हिंसा करने पर बारडोली आदोलन वापस लिए जाने पर आपत्ति की थी। महात्माजी ने अपने चुन हुए 78 आश्रमवासियों के साथ नमक कानून को तोडने की भी घोषणा कर दी। 12 मार्च को उन्होंने अहमदाबाद से समुद्रतट तक कूच करने और वहा पहुच कर सविनय अवज्ञा आदोलन आरभ करने की घोषणा की। बस यही सारे देश के लिए आदोलन आरभ करने का सकेत था। महात्माजी ने इस

विशेष आंदोलन को इस कारण आरम्भ करने का निश्चय किया क्योंकि यह सारे देश को और खास कर गरीबों को आकर्षित करने वाला था। न जाने कब से लोग समुद्र के पानी से या मिट्टी से नमक बनाते आ रहे थे। उनके इस अधिकार को *ब्रिटिश हुकूमत ने छीन* लिया था। नमक कानून जिस ढंग से लागू किया जा रहा है, दुहरी मार कर रहा है। इसने *लोगों को प्रकृति से प्राप्त होने वाले नमक का उपयोग करने से रोक दिया है* और उसे विदेशों से मंगाने पर मजबूर कर दिया है। इससे भी बड़ी बात यह है कि नमक कर लगाने से नमक की कीमत और बढ़ गई है, फिर नमक तो गरीब से गरीब को भी खरीदना पड़ता है, इस बात को समझाते हुए उन्होंने वाइसराय को अपने पत्र में 2 मार्च को लिखा :

"यदि आप इन बुराइयों को दूर करने के लिए अपने को सक्षम नहीं पाते और मेरे पत्र से आपके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो मैं इस महीने के 12वें दिन अपने उन आश्रमवासियों के साथ जिन्हें मैं अपने साथ ले जा सकता हूं, नमक कानूनों को तोड़ने के लिए चल दूंगा। मैं इस कर (नमक कर) को गरीबों की दृष्टि से सबसे अधिक पीड़ादायक मानता हूं। क्योंकि स्वाधीनता आंदोलन अनिवार्यतः देश के सबसे गरीब लोगों के लिए है इसलिए इसकी शुरुआत इसी बुराई से हो रही है। आश्चर्य तो यह है कि *हम इस जालिम (नमक) एकाधिकार को इतने दिनों तक कैसे बर्दाश्त करते रहे।*"

इसी पत्र में जो कि एक लंबा दस्तावेज है, महात्माजी ने वाइसराय को बताने की कोशिश की है कि वह सविनय अवज्ञा करने को क्यों मजबूर हुए। यह स्पष्ट करते हुए *कि यह पत्र धमकी देने के लिए नहीं है बल्कि सविनय अवज्ञाकारी का एक सरल और* पवित्र कर्तव्य है, उन्होंने लिखा :

"अपने बहुत से देशवासियों की तरह मैं भी इस सुखद आशा को गले लगाए रहा कि प्रस्तावित गोलमेज सम्मेलन से कुछ हल निकल आएगा। लेकिन जब आपने साफ ही कह दिया कि आप कोई ऐसा आश्वासन नहीं दे सकते जिससे कि आप या ब्रिटिश मंत्रिमंडल पूर्ण औपनिवेशिक दर्जे की *किसी योजना का समर्थन करें तो गोलमेज सम्मेलन* से ऐसा कोई हल निकलने की सम्भावना नहीं है जिसके लिए मुखर भारतवासी सजग रूप से और करोड़ों मूक देशवासी शांत रूप से आशा लगाए बैठे थे। इस विषय में पार्लियामेंट क्या करती है इस सवाल के पूर्वानुमान का प्रश्न ही उठता है। इस तरह की मिसालें कम नहीं हैं *कि पार्लियामेंट की सहमति की आशा से ब्रिटिश मंत्रिमंडल किसी खास नीति से वचनबद्ध हुआ हो।* हमारी भेंट निष्फल होने के बाद मेरे और पं. मोतीलाल नेहरू के सामने कलकत्ता कांग्रेस के 1928 के प्रस्ताव को अमल में लाने के लिए आवश्यक कार्रवाई करने के सिवा कोई चारा ही नहीं था।"

सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर देने के बाद भी समझौते के लिए गुंजाइश है इस विषय में महात्माजी ने लिखा: "लेकिन यदि आपकी घोषणा में प्रयुक्त शब्द डोमिनियन स्टेटस *अपने मान्य अर्थ में इस्तेमाल किया गया है तो* स्वाधीनता संबंधी प्रस्ताव

से कोई परेशानी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि क्या जिम्मेदार ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने स्वीकार नहीं किया है कि डोमिनियन स्टेटस (औपनिवेशिक दर्जा) ही व्यावहारिक रूप में स्वाधीनता है?"

महात्माजी के इस पत्र या अल्टीमेटम का वाइसराय ने संक्षिप्त उत्तर दिया और खेद प्रकट किया कि श्री गांधी का कानून तोड़ने का इरादा है। अतः अपने घोषित कार्यक्रम के अनुसार महात्माजी ने समुद्रतट के गांव दांडी की ओर अपना तीन सप्ताह का कूच आरम्भ कर दिया जहां पहुंचकर उन्हें नमक कानून तोड़कर अवज्ञा आंदोलन शुरू करना था। उस समय सरकार को इस कूच से होने वाले प्रभाव के बारे में संदेह था और इसीलिए उसने महात्माजी की कार्रवाई को गम्भीरता से नहीं लिया। एंग्लो-इंडियन समाचार पत्रों ने व्यंग्यपूर्ण लेख लिखने शुरू कर दिए। कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख में लिखा कि 'महात्माजी चाहें तो औपनिवेशिक स्वराज मिलने तक समुद्र के पानी को उबालते रह सकते हैं।' कुछ कांग्रेसजन भी ऐसे थे जिन्हें इस आंदोलन की सफलता में संदेह था। पर दांडी कूच ऐतिहासिक महत्व की वस्तु था और इसे ऐसा ही माना जाएगा जैसाकि एल्बा से लौटने पर नेपोलियन का पेरिस मार्च या राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए मुसोलिनी का रोम की ओर कूच था। पर महात्माजी के सौभाग्य से देश में और देश के बाहर भी बहुत अच्छे समाचारपत्र थे। भारत में लगातार कई दिनों तक इस कूच के समाचार पूरे विवरण और विस्तार के साथ छपते रहे और बड़ा व्यापक प्रचार हुआ। पैदल कूच का यह लाभ हुआ कि जहां-जहां से वह गुजरे, सारे गांवों में जागृति की लहर दौड़ गई और साथ ही सारे देश की भावनाओं को उभारने का भी उन्हें समय मिल गया। यदि इसके विपरीत ऐसा होता कि वह अहमदाबाद से रेल गाड़ी से चल कर अगले दिन दिल्ली पहुंच जाते तो न तो वह गुजरात की जनता में जागृति पैदा कर सकते थे और न सारे राष्ट्र में जागरण की लहर लाने का उन्हें समय मिल पाता। जब महात्माजी एक गांव से दूसरे गांव तक कूच कर रहे थे, आसपास के इलाकों में सरकारी नौकरी छोड़ने और कर भुगतान न करने का जबरदस्त प्रचार किया जाता रहा जो काफी पहले से आरम्भ होने वाला था। हर कदम पर महात्माजी का अप्रत्याशित रूप से हार्दिक स्वागत किया गया। तब जाकर सरकार को पता चला कि भावी आंदोलन जितना उन्होंने अनुमान लगाया था, उससे कहीं अधिक गम्भीर होगा।

6 अप्रैल को समुद्र में शरीर शुद्धि के स्नान के बाद महात्माजी ने समुद्र तल पर पड़े नमक के टुकड़ों को अपने कब्जे में लेकर अवज्ञा आंदोलन शुरू किया। प्रायः उसी समय सारे देश में गैर कानूनी रूप से नमक बनाया जाना शुरू हो गया। जहां प्राकृतिक स्थिति इसके अनुकूल नहीं थी वहां और तरह से कानून भंग करने की कोशिश की गई। उदाहरण के लिए कलकत्ता में वहां के मेयर स्व. जे.एम. सेनगुप्त ने एक सार्वजनिक सभा में राजद्रोही साहित्य पढ़कर राजद्रोह संबंधी कानून को तोड़ा। बड़े पैमाने पर विलायती

कपड़े का बायकाट किया गया और उसी के साथ-साथ हर प्रकार के ब्रिटिश माल का बायकाट शुरू हो गया। शराब और अन्य नशीली चीजों का बायकाट जोर-शोर से शुरू हो गया। बायकाट को लागू करने के लिए कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने देशभर में पिकेटिंग शुरू कर दी। दांडी मार्च के शुरू होने के कुछ सप्ताह बाद महात्मा गांधी ने भारत की नारियों से विशेष अपील की (यंग इंडिया, 10 अप्रैल, 1930)। इसमें उन्होंने कहा : "कुछ बहनों की इस शुभ संघर्ष में भाग लेने की उतावली एक स्वस्थ लक्षण है...। इस अहिंसक युद्ध में उनका योगदान पुरुषों से अधिक होना चाहिए। स्त्रियों को दुर्बल मानना उनका अपमान करना है... यदि शक्ति का अर्थ नैतिक बल है तो वे निश्चय ही पुरुषों से कहीं अधिक बलशाली हैं।" आगे उन्होंने महिलाओं से शराब की दुकानों और विदेशी कपड़े की दुकानों की पिकेटिंग करने की अपील की। शराब और दूसरी नशीली चीजों पर पाबंदी से सरकार की आमदनी 25 करोड़ रुपये घट जाएगी और विदेशी कपड़े के बायकाट से करीब 60 करोड़ रुपये विदेश जाने से बच जाएगा। उन्होंने स्त्रियों से अपने खाली समय में चरखा कातने की अपील की ताकि इससे खादी का उत्पादन बढ़े। लेख के अंत में उन्होंने कहा: "कुछ बहनें कह सकती हैं कि शराब और विदेशी वस्त्रों की पिकेटिंग में उत्तेजना या साहस का तो लेश भी नहीं लेकिन यदि वे पूरे दिल से इस आंदोलन में हिस्सा लेंगी तो उन्हें काफी अधिक उत्तेजना और साहस की भावना प्राप्त होगी। इस आंदोलन के खत्म होने से पहले शायद वे जेल भेज दी जाएं। यह भी असंभव नहीं कि उनका अपमान किया जाए या शारीरिक रूप से चोट पहुंचाई जाए। ऐसा अपमान होना और चोट लगना उनके लिए गर्व की बात होगी। यदि उन्हें इस प्रकार के कष्ट झेलने पड़े तो इससे उद्देश्य और शीघ्र प्राप्त होगा।"

इस अपील को सारे देश में फैला दिया गया जिसका जादू का सा प्रभाव पड़ा। बड़े पुरातनपंथी और रईस घरानों की महिलाएं भी उठ खड़ी हुईं।[1] हर जगह हजारों स्त्रियां कांग्रेस के आदेश का पालन करने के लिए घरों से निकल पड़ीं। सरकार ही नहीं देशवासियों को भी इतने भारी जन-समर्थन को देख कर हैरानी होती थी। मद्यनिषेध आंदोलन के कार्यकर्ता कुमारी कैम्पबेल[2] जैसे लोग भी जिन्होंने 40 वर्ष तक भारत में काम किया था इस दृश्य को देखकर चकित थे। श्री जार्ज स्लोकोम्ब और श्री एच.एन. ब्रेल्सफोर्ड जैसे विदेशी पर्यवेक्षकों का विचार था कि यदि सविनय अवज्ञा आंदोलन से और कुछ भी हासिल न हुआ हो तो नारी स्वातंत्र्य की जो उपलब्धि हुई उस कारण से भी यह आंदोलन सार्थक कहा जाएगा। महिलाओं ने जिस शक्ति और उत्साह का परिचय दिया उससे पुरुषों में और अधिक प्रयास और बलिदान के लिए जोश पैदा हुआ। आंदोलन

1 उदाहरण के लिए पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे सनातनी और अत्यंत सामाजिक ब्राह्मण परिवार की महिलाएं निस्संकोच और निर्भय होकर जेल गईं।

2. ■ जून, 1931 के 'मानचेस्टर गार्डियन' में दिल्ली की महिलाओं के जागरण का वर्णन छपा था जिसमें कहा गया कि केवल दिल्ली में 1600 स्त्रियां जेल गईं।

शुरू होने के तीन सप्ताह के भीतर ही सरकार ने चोट करने का निश्चय किया। 27 अप्रैल को सरकार ने पहला अध्यादेश (आर्डिनेंस) जारी किया। यह था प्रेस आर्डिनेंस जिसके अनुसार सारे समाचार पत्र सरकारी अफसरों के नियंत्रण में आ गए। इसके विरोध में बहुत से राष्ट्रवादी समाचार पत्रों ने प्रकाशन बंद कर दिया। इसके बाद और भी अध्यादेश जारी किए गए जिनका उद्देश्य कांग्रेस के विभिन्न कार्यों पर रोक लगाना था। सारे देश में कांग्रेस संगठन गैर कानूनी करार दे दिए गए और एक अध्यादेश के जरिए सरकार को उसकी सम्पत्ति जब्त करने का अधिकार दिया गया। इन अध्यादेशों का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस अब खुले तौर पर काम नहीं कर सकती थी और इसको बहुत से काम, जैसे कि धन इकट्ठा करना, स्वयंसेवक भर्ती करना आदि छिपकर और भूमिगत रूप से करने पड़े। खैर, इन अध्यादेशों के कारण कांग्रेस का कार्य चौपट होने के बजाय और बढ़ा। सब जगह सभाओं और जुलूसों पर पाबंदी थी पर सरकारी पाबंदी के बावजूद इनका सिलसिला चलता रहा। सरकारी मनाही के बावजूद समाचार पत्र, पर्चे, बुलेटिन कांग्रेस की विभिन्न एजेंसियों द्वारा छापे और बांटे जाते रहे। बंबई जैसी कुछ जगहों में रेडियो द्वारा कांग्रेस का प्रचार होता रहा और पुलिस नहीं खोज पाई कि समाचार कहां से प्रसारित होते हैं।

सरकार को अहिंसक विद्रोह का सामना करना पड़ रहा था। पहले तो उसने गिरफ्तारियां की। पर इसका कुछ नतीजा नहीं निकला। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 60 हजार से ऊपर अवज्ञाकारी जेल भेजे गए थे।[1] जब पुरानी जेलें भर गईं तो तुरंत विशेष जेलें बनाई गईं पर इनके भरने में भी देर नहीं लगी। जिस प्रकार की कार्रवाइयां अब तक बताई गई हैं वे तो सर्वत्र एक-सी थीं पर कुछ प्रांतों में विशेष प्रकार की कार्रवाइयां की गईं। जैसे कि मध्य प्रांत और बंबई प्रेसीडेंसी के कुछ भागों में जंगलात के कानूनों को तोड़ा गया और लोग अपनी मर्जी से वन काटने लगे। गुजरात, संयुक्त प्रांत और बंगाल के कुछ जिलों खासकर मिदनापुर में कर और लगानबंदी भी की गई, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत में खान अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में, जिन्हें लोग फ्रंटियर गांधी के नाम से अधिक जानते हैं, जबरदस्त सरकार विरोधी आंदोलन चलाया गया जिसमें करबंदी भी शामिल थी। वहां के लोग बड़े लड़ाकू होते हैं, फिर भी सारा आंदोलन शांतिपूर्ण और अहिंसक रहा। फ्रंटियर गांधी ने एक लाल कुर्ती दल संगठित किया जिसे खुदाई खिदमतगार कहा जाता है। लाल कुर्ती दल सरकार की आंखों में बहुत खटक रहा था क्योंकि उसके प्रभाव से उन लोगों की वफादारी पर असर पड़ रहा था जिनकी भारतीय सेना में बड़ी अच्छी-अच्छी पलटनें थीं। उससे भी बड़ी बात यह थी कि सीमांत प्रदेश होने के कारण सरकार को वहां राजनीतिक आंदोलन का फैलना बेहद नागवार गुजर रहा था।

---

1 सरकारी संख्या कम करके दी गई है। मुझे व्यक्तिगत अनुभव से मालूम है कि बहुत से लोगों को चोरी करने, जोर-जबरदस्ती करने, दगा करने इत्यादि के अपराध में सजा दी गई यद्यपि वे पूरी तरह सत्याग्रही थे। चूंकि सत्याग्रहियों ने अदालतों की कार्रवाई में कोई हिस्सा नहीं लिया इसलिए इन अभियोगों को चुनौती नहीं दी जा सकी। सरकारी आंकड़ों में केवल राजनैतिक बंदी ही शामिल हैं।

ज्योंही सरकार को पता चला कि आंदोलन कितना व्यापक और जोरदार है त्यों ही उसने बेहद निर्दयता और बर्बरता से उसे कुचलने की कोशिश शुरू कर दी। सरकारी सेना और पुलिस ने जो जुल्म ढाए उनका वर्णन करना सम्भव नहीं। यह भी कहना कठिन है कि किस प्रांत ने अधिक कष्ट सहे क्योंकि हर एक के कष्टों और पीड़ा की अपनी-अपनी कहानी है। बंगाल के मिदनापुर जिले में सबसे अधिक अत्याचार हुए और इनके कारण एक आतंकवादी आंदोलन का जन्म हुआ जिसका उद्देश्य अफसरों से अत्याचारों का बदला लेना था। संयुक्त प्रांत के कुछ भागों में जहां लगान बंदी काफी प्रभावी नहीं रही, भारी दमन किया गया। गुजरात में किसानों पर इतने जुल्म हुए कि वे उन्हें सहन नहीं कर सके और घर-बार छोड़ कर पड़ोसी रियासत बड़ौदा में चले गए। अंधाधुंध पशुबल का प्रयोग, स्त्रियों पर हमले, सम्पत्ति को नुकसान पहुंचाना और नष्ट करना आदि कुछ ऐसी गैर कानूनी करतूतें थीं जो शाही नौकरों ने जिसमें सेना और पुलिस दोनों शामिल थीं, उन लोगों के खिलाफ की जो सामान्यतः पूरी तरह अहिंसक रहे। निहत्थे नागरिकों और सत्याग्रहियों पर जिनमें स्त्रियां भी होती थीं, हमला करने का एक जाना-माना तरीका था उन पर लोहा या चमड़ा चढ़ी मोटी-मोटी लाठियां बरसाना। इनसे बड़ी आसानी से किसी का भी सिर चटकाया जा सकता था।[1] जेल में भी असहाय सत्याग्रहियों पर हमले किए जाते थे।[2] जब इन ज्यादतियों से भी पर्याप्त डर नहीं पैदा किया जा सका तो कभी-कभी गोलियां भी चलाई जाती थीं। अधिकाश प्रांतों में गोली चलाने की घटनाएं यदाकदा हुई पर सबसे निंदनीय घटना हुई उ.प. सीमा प्रात की राजधानी पेशावर में 23 अप्रैल को। वहां एक ही दिन में कई सौ लोगों को गोलियों से उड़ा दिया गया। इस घटना के कुछ तथ्य इस प्रकार है -- कुछ स्थानीय नेताओं की गिरफ्तारी के बाद एक शातिपूर्ण प्रदर्शन किया गया। इस पर अधिकारी आपे से बाहर हो गए और प्रदर्शनकारियों को तितर-बितर करने के लिए बख्तरबंद गाड़ियां भेजी गई। उस समय भीड़ घरों को लौट रही थी। सिपाहियों से भरी बख्तरबंद गाडियां पीछे से बिना चेतावनी दिए भीड़ मे घुस गई और लोगों को कुचल डाला गया। तीन व्यक्ति तो वहीं मर गए और बहुत गंभीर रूप से घायल हुए। कहा जाता है कि इस पर भीड़ ने गाड़ियों को आग लगा दी। इस कारण और सिपाही वहां भेजे गए और उन्हें फायरिंग का आदेश दिया गया। लेकिन भीड वहां

1 अधिकाश प्रातों में काग्रेस की ओर से घायल सत्याग्रहियों की मरहम-पट्टी और देखभाल के लिए अस्पताल और एम्बुलेंस सेवाए स्थापित की गई। सबसे अच्छा और सज्जित अस्पताल बम्बई नगर में था जहा पर घायल सत्याग्रहियों की सख्या भी देश के सब नगरों से अधिक थी।

2. इस प्रकार का हमला कलकत्ता की अलीपुर सेन्ट्रल जेल में अप्रैल 1930 में हुआ। जिन पर हमला हुआ उनमें शामिल थे कलकत्ता के तत्कालीन मेयर स्व जे एम सेनगुप्त, बंगाल काग्रेस कमेटी के मंत्री श्री किरण शकर राय प्रो एन सी बनर्जी, ■ एस आर बख्शी, सम्पादक, लिबर्टी, मैं और बहुत से बदी साथी। मुझे जमीन पर पटक कर इतना पीटा गया कि मैं एक घटे तक बेहोश रहा। जनता ने जांच की माग की, पर सरकार नहीं मानी। अंत में सरकार ने एक मेडीकल बोर्ड नियुक्त किया। इसमें डा विधानचद्र राय और ले कर्नल डेनहम व्हाइट थे जिन्होंने जख्मी कैदियों की जांच की और उनकी शारीरिक दशा पर अपनी रिपोर्ट दी।

से भागी नहीं बस डटकर गोलियों का सामना करती रही। जब सब बातें सामने आईं तो जनता ने जाच की माग की जिसे सरकार ने ठुकरा दिया, इस पर काग्रेस कार्य समिति ने श्री विट्ठलभाई पटेल की अध्यक्षता में जाच करने और तथ्यों को सामने लाने के लिए एक समिति नियुक्त की। श्री पटेल तब तक असेम्बली की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे चुके थे। इस समिति को सीमाप्रात में जाने की इजाजत नहीं दी गई। अत इसे पजाब में ही सीमाप्रात के निकट एक स्थान पर जाकर साक्ष्य इकट्ठा करना पडा। समिति की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही सरकार ने इस पर पाबदी लगा दी। परतु काग्रेस के सगठनों के अपने प्रयत्नों से इसका व्यापक प्रचार हुआ।

पेशावर के इस काड का एक ही सुनहरा पहलू था। वह था गढवाली सिपाहियों[1] की एक कम्पनी का निहत्थे लोगों पर गोली चलाने से इकार करना। इसके परिणामस्वरूप उनसे फौरन शस्त्र छीन लिए गए और उनका कोर्ट मार्शल करके उन्हें लम्बी-लम्बी सजाए सुना दी गईं।

अधिकाश प्रातो में जहा-जहा अत्याचार किए गए लोगों ने इनकी जाच करके रिपोर्ट देने के लिए स्थानीय समितिया नियुक्त कीं। इन रिपोर्टों को प्रकाशित करने के लिए अलग से एक पोथी लिखनी पडेगी और इस पुस्तक का यह उद्देश्य नहीं है। फिर भी यहा महात्मा गाधी के उस दूसरे पत्र की कुछ पक्तिया उद्धृत करना अप्रासगिक नहीं होगा जो उन्होंने वाइसराय को मई के शुरू में अपनी गिरफ्तारी से पूर्व लिखा था।[2] यह 8 मई, 1930 को 'यग इडिया' में प्रकाशित हुआ था .

"मैंने आशा की थी कि सरकार सविनय अवज्ञाकारियों से सभ्य ढग से लडेगी। यदि अवज्ञाकारियों से पेश आने में सरकार स्वय अपनी इस बात से तसल्ली कर लेती कि वह कानून के सामान्य तरीकों से काम ले रही है तो भी मैं कुछ न कहता। इसके बजाय यह हुआ है कि प्रसिद्ध नेताओं के साथ तो कमोबेश कानूनी ढग से ही पेश आया गया लेकिन आम कार्यकर्ताओं को कई बार बहुत बर्बरता से और कई बार तो बहुत अशोभनीय तरीके से मारा-पीटा गया है। यदि कुछ इक्के-दुक्के मामले होते तो भी इनको नजरअदाज किया जा सकता है। लेकिन मेरे पास बगाल, बिहार, उत्कल, सयुक्तप्रात, दिल्ली और बम्बई से ऐसी खबरें आई हैं जो गुजरात के मेरे स्वय के अनुभव की पुष्टि करती हैं और इसके काफी सबूत मेरे पास हैं। कराची, मद्रास और पेशावर में जो गोली चलाई गई वह अनावश्यक और बिना भडकाए ही चलाई गई। लोगों की हड्डिया तोड दी गईं और स्वयसेवकों से उस नमक को छीनने के लिए उनके गुप्तागों को दबाया और कुचला गया जिसका सरकार के लिए कोई मूल्य नहीं पर जो उनके लिए बहुमूल्य है।

---

1. सयुक्त प्रात के पर्वतीय क्षेत्रों से गढवाली भारतीय सेना में भर्ती किए जाते थे जो नेपाल के गोरखा और पजाब के सिख सिपाही की तरह भारतीय सेना के श्रेष्ठ सिपाही माने जाते हैं।
2. यह निश्चित रूप से नहीं मालूम कि यह पत्र वाइसराय को मिला भी या नहीं।

मथुरा में एक मजिस्ट्रेट ने एक दस वर्ष के बच्चे से राष्ट्रीय झंडा छीना। जब भीड़ ने झंडा वापस मांगा तो उसे बुरी तरह पीटा गया, बाद में झंडा लौटा दिया गया। इससे छीननेवालों की बेईमानी का पता चलता है। बंगाल में नमक के बारे में मुकदमे और मारपीट के साथ-साथ स्वयंसेवकों से झंडे छीनने के अकथनीय जुल्म किए गए हैं। पता चला है कि धान के खड़े खेतों को जला दिया गया और खाने-पीने की चीजों को भी जबरन उठा कर ले जाया गया। गुजरात में एक सब्जी मंडी पर इस कारण हमला किया गया था क्योंकि दुकानदारों ने सरकारी लोगों को सब्जियां बेचने से इंकार कर दिया था। इस प्रकार की करतूतें उन जन समूहों के सामने हुई हैं जिन्होंने कांग्रेस का आदेश मानकर बिना प्रतिकार के सब कुछ होने दिया। फिर अभी तो संघर्ष का पांचवां सप्ताह ही है।''

महात्मा गांधी की एक अंग्रेज शिष्या कु. मैडलीन स्लेड ने 6 जून, 1930 को स्वयं गुजरात के बलसाड़ नामक स्थान पर जाकर देखा कि धरसाना के नमक डिपो पर सत्याग्रही स्वयंसेवकों ने किस प्रकार अहिंसक हमला किया और पुलिस ने उनके साथ क्या बर्ताव किया। उन्होंने 12 जून, 1930 को 'यंग इंडिया' में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। उसमें उन्होंने लिखा की सत्याग्रही स्वयंसेवकों को जो चोटें मारी गईं उनके ये सबूत मेरे पास हैं :

1. सिर, सीने, पेट और जोड़ों पर लाठी की मार।
2. गुप्तांगों में और पेट में लाठी घुसाना।
3. पुरुषों को नगा करके पीटना।
4. लंगोटियां, लुंगी आदि हटा कर गुदा में लाठी घुसाना।
5. पुरुषों के बेहोश होने तक उनके अंडकोषों को कुचलना और दबाना।
6. घायल पुरुषों को टांग या हाथ पकड़ कर घसीटते जाना और साथ ही उन्हें पीटते जाना।
7. घायल लोगों को कंटीली झाड़ियों या खारे पानी में पटक देना।
8. जमीन पर बैठे या बेहोश पड़े लोगों पर घोड़े दौड़ाना।
9. लोगों के शरीर में पिन या कांटे चुभाना, कई बार तो उनके बेहोश हो जाने पर भी ऐसा करते जाना।
10. बेहोश हो जाने पर भी पीटते जाना और ऐसी बहुत सी बेहूदा हरकतें करना जिनका वर्णन नहीं हो सकता। इतना ही नहीं बल्कि बेशुमार गालियां और सत्याग्रहियों की पवित्र भावनाओं को चोट पहुंचाने वाली गंदी से गंदी भाषा और अपशब्दों की बौछार।

अब मैं और घटनाओं की तरफ आता हूं। अप्रैल 1930 सनसनीपूर्ण घटनाओं से भरा महीना था। प्रतिदिन कोई न कोई नई घटना घटित होती, देश का कोई भी भाग इनसे अछूता नहीं था। इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली में यद्यपि कांग्रेस सदस्य नहीं रह गए

थे फिर भी वहां शांति नहीं थी। पं. मदनमोहन मालवीय ने, जो इंडिपेंडेंट पार्टी के नेता थे, विरोधी दल का नेतृत्व भी संभाल लिया था। अप्रैल के शुरू में वह अपने अनुयायियों के साथ असेम्बली से बहिर्गमन कर गए थे। उनका बहिर्गमन सरकार की उस नीति के विरोध में था जिसका उसने कॉटन टैरिफ बिल के संबंध में असेम्बली पर शाही पसंद (इम्पीरियल प्रेफरेंस) के सिद्धांत को थोपकर परिचय दिया था। दो दिन बाद उन्होंने और उनकी पार्टी के कुछ साथियों ने असेम्बली से त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद असेम्बली के अध्यक्ष श्री वल्लभ भाई पटेल ने भी त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने वाइसराय को दो पत्र लिखे जिनमें उन्होंने कहा कि कांग्रेस पार्टी और पंडित मदनमोहन मालवीय की इंडिपेंडेंट पार्टी के त्यागपत्र दे देने के बाद असेम्बली अपना प्रतिनिधित्व खो चुकी है और इन हालातों में मैं महसूस करता हूं कि मेरा स्थान अपने लोगों के बीच में है। उन्होंने इस बात पर भी विरोध प्रकट किया कि सरकार ने वैधानिक प्रश्न पर अपना रवैया बदल दिया है।

अप्रैल में ही देश के सबसे पूर्वी भाग में एक ऐसी घटना घटी जिसका स्वरूप बिल्कुल दूसरा था। यह पूर्वी बंगाल में चटगांव के शस्त्रागार पर हमले की घटना थी। इसमें कुछ युवकों ने श्री सूर्य कुमार सेन के नेतृत्व में चटगांव के शस्त्रागार पर धावा बोल दिया था। ये लोग एक स्थानीय क्रांतिकारी पार्टी के सदस्य थे। इन्होंने ड्यूटी पर तैनात गार्ड को गोली मार दी, शस्त्रागार की इमारत पर कब्जा कर वहां से जितने हथियार लूट सकते थे लूटे और बाकी सब कुछ नष्ट कर दिया। इसके बाद ये लोग चटगांव की पहाड़ियों में जा छिपे और वहां से कुछ दिनों तक गुरिल्ला युद्ध करते रहे। आखिर उन्हें काबू कर लिया गया। अधिकांश तो लड़ाई में मारे गए और जो बचे वे अपनी जान बचाकर इधर-उधर छिप गए। पार्टी के जो सदस्य पकड़े नहीं गए वे काफी समय तक आतंकवादी कार्रवाइयां करते रहे।[1] करीब इसी समय उत्तर-पश्चिमी सीमा के आफरीदी कबीले वाले बिगड़ उठे और उन्होंने ब्रिटिश सरकार को तंग करना शुरू किया।

मई के आरम्भ में महात्माजी ने दूसरा पत्र वाइसराय को लिखा (जिसका कुछ अंश ऊपर दिया जा चुका है) जिसमें उन्होंने कहा:

प्रिय मित्र,

ईश्वर की इच्छा से मेरा इरादा अपने साथियों सहित धरासना रवाना होने और वहां पहुंच कर नमक कारखाने का कब्जा मांगने का है—आपके लिए इस 'हमले', जैसाकि इसे उपहासात्मक और शरारतपूर्ण नाम दिया गया है, को रोक सकना तीन प्रकार से ही संभव है:

---

1 इस हमले के बाद जो लोग गिरफ्तार हुए उन पर मुकदमा चलाया गया। इस मुकदमे को 'चटगांव शस्त्रागार आक्रमण केस' के नाम से जाना जाता है। लम्बी अदालती कार्यवाई के बाद अधिकतर को आजीवन कैद की सजा देकर अंडमान की जेल भेज दिया गया। इस दल के नेता सूर्य कुमार सेन काफी समय तक गिरफ्तार नहीं किए जा सके। बाद में वह भी पकड़े गए और उन्हें फांसी दे दी गई। अब ये चटगांव बंगला देश के अधीन है।

1. नमक कर को हटाकर।
2. मुझे और मेरे दल को गिरफ्तार करने के बाद यदि देश हर गिरफ्तार व्यक्ति की जगह दूसरा व्यक्ति न दे सके।

3. सिर्फ गुंडागर्दी (यानी आतंकवाद) के जरिए जब तक कि हर चोट खाए सिर की जगह लेने वाला दूसरा न आ जाए। ('यंग इंडिया', 8 मई, 1930)

किन्तु महात्माजी के अपने इरादे को पूरा करने से पहले ही कानून के ठेकेदारों ने उन्हें 5 मई, 1930 को पकड़ लिया और किसी पुराने 1827 के बम्बई रेगुलेशन 25 के तहत उन्हें बिना मुकदमा चलाए जेल में डाल दिया।

महात्माजी की गिरफ्तारी से देशभर में जनता में उत्तेजना फैल गई लेकिन एक स्थान शोलापुर (बम्बई प्रेसीडेंसी) को छोड़कर कहीं भी हिंसा की कोई घटना नहीं घटी। उस नगर में जहां औद्योगिक मजदूरों की काफी आबादी है, लोगों ने विद्रोह कर दिया और स्थानीय पुलिस को अपने काबू में कर लिया। उन्होंने नगर पर अपना अधिकार करके राष्ट्रीय झंडा फहराकर नगर को स्वतत्र घोषित कर दिया। कुछ समय तक लोगों ने नगर को अपने अधिकार में रखा लेकिन बम्बई से तुरंत सेना भेजी गई और फिर से नगर पर ब्रिटिश राज की सत्ता कायम हो गई। वहां मार्शल ला लगा दिया गया और फिर शुरू हुआ आतंक और दमन का दौर। मार्शल ला के अधीन जनता पर तरह-तरह की पाबंदिया लगाई गईं और अपमानजनक वर्ताव किया गया। उदाहरण के लिए लोगों को सार्वजनिक स्थानो में गांधी टोपी[1] नहीं लगाने दी गई और राष्ट्रीय झंडा जहां भी दिखाई दिया, उतार फेंका गया। जिस पर भी आंदोलन में प्रमुख रूप से भाग लेने का संदेह हुआ उस पर मुकदमा चलाया गया। कुछ को फांसी पर चढ़ा दिया गया और कुछ को लम्बी कैद की सजा दी गई।

जबकि एक ओर ये उद्वेलित करने वाली घटनाएं हो रही थीं और देशवासी स्वाधीनता के बारे में सोचने लगे थे, उधर सरकार ने 1927 के कार्यक्रम पर अमल शुरू कर दिया था। साइमन कमीशन की सहायता के लिए जो प्रांतीय समितियां और केन्द्रीय समिति बनी थी उन्होंने अपनी रिपोर्टें दे दी थीं और वे 1929 के अंत से पहले प्रकाशित भी हो गई थीं। सर फिलिप हारकोर्ट की अध्यक्षता में भारत में शिक्षा के विकास के बारे में विचार के लिए साइमन कमीशन की सहायक के रूप में एक और समिति बनी थी उसने भी अपनी रिपोर्ट दे दी थी और वह भी अक्तूबर 1929 मे प्रकाशित हो चुकी थी। बस बची थी साइमन कमीशन की रिपोर्ट जो अब तक प्रकाशित नहीं हुई थी। सम्भवतः इसका कारण यह हो कि जून 1929 में इंग्लैंड में लेबर पार्टी की सरकार सत्ता में आ गई थी। खैर 7 जून, 1930 को साइमन कमीशन की रिपोर्ट भी जारी कर दी गई। कमीशन की सिफारिशें इतनी प्रतिक्रियावादी थीं कि सब तरफ इसका घोर विरोध हुआ। यहां तक

1 खादी की बनी सफेद टोपी गांधी टोपी कहलाती थी। आमतौर पर कांग्रेस पार्टी के सदस्य इन्हें पहनते थे।

कि उदारवादियों ने भी यह माग की कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट को गोलमेज सम्मेलन की बातचीत का आधार न बनाया जाए। क्योंकि राष्ट्रवादी सदस्यो के न होने पर भी केंद्रीय असेम्बली ने साइमन रिपोर्ट को पूर्णत अस्वीकार कर दिया था इस कारण सरकार के सामने इस माग को मानने के सिवा और कोई चारा ही नहीं था। जब सरकार और काग्रेस के बीच खाई बढती जा रही थी और समझौते की गुजाइश बहुत कम थी, ऐसे समय में एक ब्रिटिश पत्रकार अपना बुद्धि बल आजमाने के लिए रगमच पर आया। यह था 'डेली हेराल्ड' का प्रतिनिधि जार्ज स्लोकोम्ब। श्री जार्ज स्लोकोम्ब ने बडी चतुराई से महात्माजी से पूना में यरवदा जेल में मिलने की अनुमति ले ली और वह 19 और 20 मई को यह जानने के लिये गाधीजी से मिले कि वह किन शर्तों पर सविनय अवज्ञा आदोलन वापस लेने को तैयार होंगे। महात्माजी ने उनसे साफ कह दिया कि स्वाधीनता के तत्व (सब्सटैंस आफ इडिपेंडेस) की निश्चित गारटी के बिना आदोलन को रोका नहीं जा सकेगा। उन्होने अवज्ञा आदोलन को स्थगित करने के लिए और गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए चार आवश्यक बात सामने रखीं

1 गोलमेज सम्मेलन के विचारणीय विषयों मे ऐसा विधान बनाने के विषय को भी शामिल किया जाए जो भारत को सार रूप मे स्वाधीनता देने वाला हो।
2 नमक कर वापस लेने, शराब अफीम-बदी और विदेशी कपडे पर प्रतिबध के बारे में हमे सतुष्ट किया जाए।
3 सविनय अवज्ञा आदोलन की समाप्ति और राजनीतिक कैदियों की रिहाई एक साथ हो।
4 वाइसराय के नाम महात्मा गाधी ने जो पत्र लिखा था उसकी बाकी बातें भविष्य के विचार-विमर्श के लिए छोड दी जाए।

काग्रेस के कार्यकारी अध्यक्ष प मोतीलाल नेहरू की गिरफ्तारी स पहले 20 जून को श्री स्लोकोम्ब उनसे मिले। प मोतीलाल नेहरू ने भी उन सब बातों का जो महात्माजी ने कही थीं अधिकाशत समर्थन किया। 25 जून को श्री स्लोकोम्ब ने एक वक्तव्य तैयार किया जो उनके विचार से सरकार और काग्रेस क बीच बातचीत का आधार बन सकता था। पडित नेहरू ने उसे अपनी स्वीकृति दी। यह वक्तव्य इस प्रकार था

''यद्यपि हालात में ब्रिटिश सरकार और भारत की सरकार इसका अनुमान नहीं लगा सकती की गोलमेज सम्मेलन पूरी स्वतत्रता क साथ क्या सिफारिश करेगा और ब्रिटिश सरकार इन सिफारिशो पर क्या रुख अपनाएगी, वे निजी तौर से यह आश्वासन देने को राजी होंगी कि वे भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी सरकार की माग का समर्थन करेंगी। यह ऐसे परस्पर समझौते और हस्तातरण की शर्तों के अनुसार होगा जो भारत को विशेष आवश्यकताओं, हालात और ग्रेट ब्रिटेन के साथ उसके दीर्घ सबधो के कारण गोलमेज

सम्मेलन जैसा निश्चय करेगा उसके अनुसार होगा। पं. मोतीलाल नेहरू इस प्रकार का आश्वासन खुद प्राप्त करने का या किसी तीसरे पक्ष से ऐसा संकेत प्राप्त करने का जिम्मा लेंगे कि ऐसा आश्वासन श्री गांधी और श्री जवाहरलाल नेहरू को दे दिया जाएगा। यदि इस प्रकार का आश्वासन दिया गया और उसे स्वीकार कर लिया गया तो इससे सामान्य समझौते का रास्ता खुल जाएगा जिसमें सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना, सरकार की वर्तमान दमनात्मक नीति को समाप्त करना और राजनीतिक बंदियों की आम माफी जैसे उदार कदम एक साथ उठाए जाना शामिल होगा। इसके बाद कांग्रेस परस्पर सहमत शर्तों के साथ गोलमेज सम्मेलन में शामिल होगी।"

इस वक्तव्य को श्री स्लोकोम्ब ने सर तेजबहादुर सप्रू और श्री एम. आर. जयकर के पास भी भेजा ताकि उन्हें शांति के प्रयत्नों में साझा बनाया जा सके। दोनों ने इस मामले में काफी उत्साह दिखाया और जुलाई के शुरू में दोनों जाकर वाइसराय से मिले। उन्होंने महात्मा गांधी, पं. मोतीलाल नेहरू और पं. जवाहरलाल नेहरू से जेल में मिलने की अनुमति भी प्राप्त कर ली। 23 और 24 जुलाई को वे यरवदा जेल में महात्मा गांधी से मिले और उनके ज्ञापन के साथ फिर 28 जुलाई को वे पं. मोतीलाल नेहरू और पं. जवाहरलाल नेहरू से इलाहाबाद के पास नैनी जेल में मिले। इन दोनों (पिता-पुत्र) ने अन्य बातों के साथ यह भी कहा कि अंतिम रूप से कोई भी वायदा बिना महात्माजी से व्यक्तिगत रूप से मिले नहीं किया जा सकता। दोनों नेहरुओं के ज्ञापन के साथ श्री जयकर 31 जुलाई को फिर गांधीजी से मिले। इसके बाद दोनों नेहरुओं को नैनी जेल से यरवदा जेल ले जाए जाने के आदेश हुए और 13, 14 एवं 15 अगस्त को यरवदा जेल में सलाह मशविरा हुआ जिसमें दोनों शांति कराने वाले (श्री सप्रू और श्री जयकर) महात्मा गांधी, पं मोतीलाल नेहरू, प. जवाहर लाल नेहरू, श्रीमती सरोजनी नायडू और सरदार वल्लभ भाई पटेल शामिल थे। 15 अगस्त को कांग्रेस नेताओं ने एक संयुक्त वक्तव्य जारी किया जिसमें कहा गया कि ऐसा कोई हल उन्हे या काग्रेस को मंजूर नहीं होगा जिसमें इन तीन बातों की गारंटी न दी गई हो :

1. भारत जब चाहे अलग हो सके।
2. राष्ट्रीय सरकार की मंजूरी जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो और जिसका रक्षा एवं वित्त पर भी नियंत्रण हो।
3. भारत को तथाकथित सार्वजनिक ऋण के बारे में यह अधिकार हो कि वह उसमें निष्पक्ष जांच करा सके।

इस वक्तव्य को बाकायदे वाइसराय को भेज दिया गया और 28 अगस्त, 1930 को लार्ड इर्विन ने दोनों मध्यस्थों को उत्तर भेज दिया कि मैं यह समझता हूं कि 15 अगस्त के संयुक्त वक्तव्य के आधार पर किसी तरह की बातचीत होना संभव नहीं है। इस तरह

शांति वार्ता असफल हो गई। दोनों नेताओं ने फिर यरवदा और नैनी जेल में आकर नेताओं से मिलकर और भी प्रयत्न किए पर कांग्रेस नेताओं का विचार था कि सरकार और कांग्रेस के बीच खाई इतनी बढ़ गई है जिसे पाटा नहीं जा सकता।

इस वार्ता के बाद जल्दी ही पं. मोतीलाल नेहरू को जेल से अचानक 8 सितम्बर को रिहा कर दिया गया। कारण था उनका गम्भीर रूप से बीमार पड़ जाना। रिहाई के बाद वह केवल पांच महीने तक जीवित रहे पर स्वास्थ्य के बेहद खराब होने के बावजूद वह देशभर में आंदोलन को सबल बनाने के लिए पूरी शक्ति से काम करते रहे। कलकत्ता में रह कर उन्होंने बहुत-सा समय बंगाल कांग्रेस के झगड़े को निपटाने में लगाया। लाहौर कांग्रेस के फौरन बाद ही वह कलकत्ता आए थे। इस यात्रा का कारण उन शिकायतों की जांच करना था जो बंगाल कांग्रेस समिति की कार्यसमिति (जिसका मैं अध्यक्ष था) के खिलाफ चुनावों के बारे में स्व. श्री जे.एम. सेनगुप्त की पार्टी की तरफ से मिली थीं। उन्होंने कार्यसमिति के पक्ष में अपना फैसला दिया था लेकिन उनके जाते ही फिर मतभेद उभर आए और कलकत्ता नगरपालिका के चुनावों में दोनों कांग्रेस गुटों की ओर से अपने-अपने उम्मीदवारों को खड़ा किया गया। जब अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ तो बंगाल में इस आंदोलन को चलाने के लिए भी दो अलग-अलग समितियां बनीं। कुछ महीने बाद जब कलकत्ता के मेयर का चुनाव होने वाला था तो एक पार्टी ने वर्तमान मेयर स्व. श्री जे.एम. सेनगुप्त को उम्मीदवार बनाया और दूसरी ने मुझे। इसमें मेरी जीत हुई। इस फूट ने कांग्रेस की प्रतिष्ठा को बहुत भारी धक्का पहुचाया। खैर पं. मोतीलाल नेहरू के प्रभाव से दोनों अवज्ञा आंदोलन समितियां मिला कर एक कर दी गईं और अन्य मतभेद भी दूर हो गए। नतीजा यह हुआ कि जब दिसम्बर में वह बंगाल से विदा हुए तो कांग्रेस की प्रतिष्ठा और शक्ति कुछ सीमा तक बहाल हो गई थी।

जब उपर्युक्त घटनाएं हो रही थीं, नौकरशाही अपनी ही योजना पर काम कर रही थी। जून में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी थी और 20 सितम्बर को सरकार ने गोलमेज सम्मेलन की भूमिका के रूप में अपना खरीता लंदन भेजा। कमीशन की सिफारिशों के कुछ मुख्य मुद्दे इस प्रकार थे :

1. नए संविधान में ही जहां तक सम्भव हो, इसके स्वयं के विकास का प्रावधान रखना चाहिए।
2. भारत के संविधान का अंतिम स्वरूप संघीय हो।
3. नए संविधान से बर्मा को अलग रखा जाए।
4. प्रांतों को पूरी स्वायत्तता रहे जिसमें कानून और व्यवस्था भी शामिल हो, लेकिन प्रशासनिक पक्ष में गवर्नर को कुछ ऐसे मामलों में शक्तियां रहें जैसे कि आंतरिक सुरक्षा एवं सभी सम्प्रदायों का हित आदि।

5. बहुत वर्षों तक ब्रिटिश सेनाओं और भारतीय रेजीमेंटों में अंग्रेज अफसरों को रहना अनिवार्य होगा। कमांडर इन चीफ (मुख्य सेनापति) वाइसराय की कार्यकारिणी का सदस्य नहीं होना चाहिए और न उसे विधायिका में बैठना चाहिए।
6. प्रांतीय विधान परिषदों को और बढ़ाया जाना चाहिए।
7. केन्द्रीय विधायिका (सेंट्रल लेजिस्लेचर) के निचले सदन को फेडरल असेम्बली कहा जाना चाहिए। इसका विस्तार कर देना चाहिए और इसके लिए चुनाव प्रांतीय परिषदों को करना चाहिए। ऊपरी सदन कौंसिल आफ स्टेट अपने वर्तमान रूप में ही रहनी चाहिए।
8. प्रांतों के लिए पर्याप्त संसाधन जुटाने के लिए प्रांतीय कोष बनाया जाए लेकिन इससे उनकी स्वायत्तता पर आंच नहीं आनी चाहिए।
9. मंत्रिमंडल के सदस्यों का चुनाव और नियुक्ति गवर्नर जनरल को करनी चाहिए। वही सरकार का सक्रिय मुखिया रहना चाहिए और कुछ मामलों में उसकी शक्तियां बढ़ाई जानी चाहिए। (कमीशन ने केन्द्र में उत्तरदायी शासन लाने की सिफारिश नहीं की)।
10. उच्च न्यायालय भारत सरकार के प्रशासनिक नियंत्रण में रहना चाहिए।
11. भारत मंत्री की परिषद के कार्य और सदस्यता कम कर देनी चाहिए। भारत सरकार ने अपना जो खरीता भेजा था उसके कुछ मुख्य सूत्र इस प्रकार थे :
    1. ये विषय ब्रिटिश पार्लियामेंट के अधीन रहने चाहिए : रक्षा, विदेश संबंध, आंतरिक सुरक्षा, वित्तीय जिम्मेदारियां, वित्तीय स्थायित्व, अल्पसंख्यकों की और भारत मंत्री द्वारा भर्ती की जाने वाली सेवाओं की सुरक्षा, आर्थिक और वाणिज्य संबंधी अनुचित भेद-भाव की रोकथाम।
    2. वैधानिक कमीशन (स्टेचुटरी कमीशन) को प्रांतों में द्विशासन प्रणाली को समाप्त करने और उत्तरदायी सरकार (कानून और व्यवस्था समेत) स्थापित करने का प्रस्ताव मान लिया गया था।
    3. गवर्नर को यह विशेषाधिकार रहना चाहिए कि वह चाहे तो अफसरों को मंत्री नियुक्त कर सके।
    4. मद्रास, बम्बई, पंजाब, मध्य प्रांत और असम में विधायिकाओं के एक-एक ही सदन रहने चाहिए। बंगाल, संयुक्त प्रांत, बिहार और उड़ीसा में दो-दो सदन होने चाहिए।
    5. बर्मा को अलग करने की बात सिद्धांत रूप में मान ली गई थी।
    6. गवर्नर जनरल की कार्य परिषद के सदस्यों को स्वयं गवर्नर जनरल को ही नियुक्त करना चाहिए। गवर्नर जनरल का मंत्रिपरिषद यद्यपि एकात्मक

हो और विधायिका के प्रति उत्तरदायी भी न हो पर उसमें विधायिका के कुछ चुने हुए सदस्य रहें ताकि उन्हें विधायिका का कुछ न कुछ समर्थन प्राप्त रहे।

12 नवम्बर, 1930 को गोलमेज सम्मेलन का पहला अधिवेशन लंदन में हुआ जिसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री रैमजे मैक्डोनाल्ड थे। इसमें 89 सदस्य थे—16 ब्रिटिश पार्टियों के, 16 भारतीय रियासतों के और 57 ब्रिटिश भारत के। कांग्रेस पार्टी का कोई प्रतिनिधि इसमें शामिल नहीं था। प्रारम्भिक बैठकों के बाद समस्याओं पर विस्तार से विचार करने के लिए कई समितियां बना दी गईं। एक संघीय रचना समिति बनी जिसके प्रधान लार्ड सैंकी थे, दूसरी मताधिकार और सेवाओं से सम्बंधित थी जिसके प्रधान सर विलियम जोविट थे, तीसरी बर्मा समिति थी जिसके प्रधान अर्ल रसेल थे, चौथी रक्षा समिति के प्रधान श्री जे. एच. टामस थे, अल्पसंख्यक समिति के प्रधान रैमजे मैक्डोनाल्ड थे, इत्यादि। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों को भी इस सम्मेलन में आमंत्रित किया गया था यह इस बात का सबूत था कि ब्रिटिश सरकार भावी भारतीय संविधान में रियासतों को भी शामिल करना चाहती है। इस संबंध में पहला कदम तब उठाया गया जब सर जान साइमन ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को कमीशन के विचारार्थ विषय व्यापक करने को लिखा था ताकि ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के संबंधों के प्रश्न को भी शामिल किया जा सके। साइमन कमीशन ने यह भी रिपोर्ट दी थी कि भारत का अंतिम संविधान संघीय प्रणाली का होना चाहिए। एक बड़ा प्रश्न अनिर्णीत रहा था कि ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को संघ (फेडरेशन) कब बनाना सम्भव होगा। इस सम्बन्ध में आश्चर्य की बात यही थी कि 17 नवम्बर को गोलमेज सम्मेलन की बैठक में महाराजा बीकानेर ने इस प्रकार के संघ बनने का स्वागत किया था। इस सारे विचार पर गोलमेज से कई महीने पहले काफी चर्चा हो चुकी थी। इस अवस्था में संघ (फेडरेशन) का विचार ब्रिटिश सरकार की चालाकी भरी चाल थी और यह बड़े खेद का विषय है कि सर तेज बहादुर सप्रू और श्री एम.आर. जयकर जैसे राजनेता तुरंत इस चाल को भांप नहीं सके, यद्यपि श्रीनिवास शास्त्री और श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने शुरू में इस विचार के बारे में संदेह प्रकट किया था। भारत सरकार के 20 सितम्बर के खरीते में केवल प्रान्तों का जिक्र था अर्थात वे वे विषय थे जिन्हें हिज मैजेस्टी की सरकार और ब्रिटिश पार्लियामेंट के नियंत्रण में रखा जाना चाहिए था। लेकिन आखिर भारतीय विधायिका के अधिकार क्षेत्र में कौन से विषय आने थे? ब्रिटेन के हित इसी में थे कि उसमें नियंत्रण के अनुसार ढांचा हो जिस पर ब्रिटिश भारत की प्रगतिशील शक्तियों को रोकने के लिए प्रयोग किया जा सके और इसके लिए भारतीय राजाओं और नवाबों को इसमें लाने से बढ़कर और उपयुक्त तरीका क्या हो सकता है ताकि वे केन्द्रीय विधायिका के कार्य में उल्टा-सीधा रोड़ा अटका सकें। ब्रिटिश सरकार और भारतीय रजवाड़ों में यह मेल-जोल 1922 से ही शुरू हो गया था जिस समय प्रिंस आफ वेल्स (ब्रिटेन के युवराज) ने भारत की यात्रा की थी जिसमें

यों में हम अध्याय 2 में उल्लेख कर चुके हैं। जब ब्रिटिश भारत में राष्ट्रवादी उभार आया तो ब्रिटिश सरकार ने सहानुभूति और सहायता के लिए भारतीय राजा-महाराजाओं की ओर देखना शुरू किया। उधर रजवाड़ों को भी अपनी-अपनी रियासतों में लोकतांत्रिक आंदोलनों का मुकाबला करना पड रहा था। इनमें वहां की जनता को ब्रिटिश भारत की जनता का समर्थन मिल रहा था। इस लोकप्रिय विद्रोह को रोकने के लिए उन्हें भी ब्रिटिश सरकार की मदद चाहिए थी। इस मांग की वजह से ही इंडिया स्टेट्स बिल को सरकार ने सितम्बर 1922 में इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली में पेश किया था। जब उसे असेम्बली ने ठुकरा दिया तो वाइसराय ने उसे अपने विशेषाधिकार द्वारा कानून का रूप दे दिया था। दोनों पक्षों की इसी मैत्री की परिणति ही संघ (फेडरेशन) के रूप में हुई जो कि भारत में व्यापक जनजागरण को थामने के लिए ब्रिटिश सरकार और भारतीय राजा-नवाबों का एक अपवित्र गठजोड़ था।

गोलमेज सम्मेलन के पहले अधिवेशन का मुख्य परिणाम था दो कड़वी गोलियां : एक संरक्षण (अल्पसंख्यकों की) और दूसरी संघ या फेडरेशन। इन दो कड़वी गोलियों को खाने लायक बनाने के लिए उन पर 'उत्तरदायित्व' की शक्कर चढा दी गई थी। उदार दलीय (लिबरल) राजनीतिज्ञ बहुत खुश हुए जब प्रधानमंत्री ने 19 जनवरी, 1931 को अपने समापन भाषण में यह घोषणा की कि यदि वे संरक्षण और फेडरेशन को मान गए तो उन्हें केंद्र में उत्तरदायी सरकार दे दी जाएगी। लेकिन उन्होंने यह पूछने की भी कोशिश नहीं की कि यदि सरक्षण और फेडरेशन दे दिया जाएगा तो वास्तविक उत्तरदायित्व में से बचेगा ही क्या? इस सवाल की और छीछालेदर कर दी राष्ट्र विरोधी मुसलमानों ने, जो गोलमेज सम्मेलन में मौजूद थे। उनकी इस घोषणा से कि वे फेडरेशन और सरक्षण के साथ उत्तरदायी सरकार को मानने के लिए तभी तैयार होंगे जब साम्प्रदायिक सवाल को उनके हक में संतोषजनक रूप से तय किया जाएगा। 19 जनवरी, 1931 को गोलमेज सम्मेलन अनिश्चितकाल के लिए स्थगित हो गया। उदारदलीय राजनीतिज्ञ लंदन में अपनी उपलब्धियों पर बेहद खुश थे और उनके हौसले ऊंचे थे, पर आम आदमी के लिए वे समुद्रपार से भला क्या लेकर लौटे। बस प्रधानमंत्री का इतना सा आश्वासन कि जनमत के उन वर्गों का भी सहयोग लेने के लिए कदम उठाए जाएंगे जो इस सम्मेलन से अलग रहे हैं।

अध्याय 11

गांधी-इर्विन पैक्ट और उसके बाद (1931)

सरकार और कांग्रेस के बीच 1930 के अंत में और 1931 के शुरू में समझौते के लिए वातावरण फिर अनुकूल था। पहली बात तो यह थी कि लेबर पार्टी की सरकार थी और कप्तान वैजवुड बेन इंडिया-आफिस में थे। दूसरे, महात्मा गांधी के गोलमेज सम्मेलन में न रहने से सम्मेलन पर भारी प्रभाव पड़ा था। चूंकि भारत की एकमात्र एकमेव प्रतिनिधि पार्टी उनकी सरकार के साथ कठोर संघर्ष कर रही थी तो ऐरे-गैरों और स्वयंभू नेताओं से बातचीत करने की निरर्थकता को ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भली प्रकार समझ लिया था। इसलिए लेबर पार्टी के राजनीतिज्ञों ने कांग्रेस के साथ ही समझौता करने का ही निश्चय किया, बशर्ते कि कांग्रेस लम्बी-चौड़ी मांग न करे। तीसरे, लार्ड इर्विन भारत के वाइसराय और गवर्नर जनरल थे जो इतने दूरदर्शी थे कि उन्होंने यह समझ लिया था कि यदि सरकार और कांग्रेस के बीच कोई समझौता होता है तो वह उसी समय करना ठीक होगा जब तक महात्मा गांधी कांग्रेस के नेता हैं, क्योंकि समझदार अंग्रेज लोग मानते थे कि गांधीजी भारत में अंग्रेजों के सबसे अच्छे पुलिसमैन हैं।[1] चौथा कारण निस्संदेह सबसे महत्वपूर्ण था। यदि भारत की बागडोर उस समय किसी अड़ियल वाइसराय के हाथ में होती तो कांग्रेस के साथ कोई समझौता संभव नहीं होता, चाहे ब्रिटेन की सरकार का रवैया भले ही कितना भी सहानुभूतिपूर्ण क्यों न होता।

लेकिन लार्ड इर्विन कांग्रेस के साथ समझौते के लिए इतने उत्सुक क्यों थे? इसमें कोई संदेह नहीं कि आम ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से उनका दृष्टिकोण अधिक व्यापक था और उनमें न्याय और औचित्य की सहज भावना थी जिसका अन्य ब्रिटिश राजनीतिज्ञों में नितांत अभाव था। स्व. मौलाना मुहम्मद अली ने उन्हें एक बार 'एक सच्चा पक्का ईसाई' कहा था। वह निश्चय ही सच्चे ईसाई थे। लेकिन इन सबके बावजूद यदि भारत में जो गम्भीर घटनाएं चल रही थीं वे न होतीं तो वह भारत की फौलादी नौकरशाही श्री बाल्डविन और इंग्लैंड के कंजरवेटिव पार्टी के नेताओं को अपनी बात मनवाने में कभी सफल न होते। भारत का प्रवेश द्वार बम्बई उस समय सारे आन्दोलन का गढ़ बना हुआ था। गुजरात, संयुक्त प्रान्त और बंगाल के कुछ भागों में करबंदी आन्दोलन बहुत सशक्त था। सारे देश में ब्रिटिश माल का बायकाट प्रभावी रूप से चल रहा था और सविनय अवज्ञा आन्दोलन भी किसी न किसी रूप में सभी प्रान्तों में चल रहा था। बंगाल में आतंकवादी कार्य काफी

---

1 यह मत भू.पू.एम.पी. कुमारी एलन विल्किन्सन ने 1932 में इंडिया लीग के प्रतिनिधि मंडल के भारत के दौरे के बाद प्रकट किया था।

खतरनाक रूप ले चुका थे। अत्यन्त चिन्ताजनक स्थिति थी उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त की। वहां की स्थिति से सीमांत कबीलों के रवैये पर काफी असर पड़ रहा था। ये लोग साधारणतया भारत की राजनीतिक घटनाओं के प्रति काफी उदासीन रहा करते थे। कई कबीलों ने ब्रिटिश सरकार से यह कह दिया था कि हम आपके साथ तभी शांति रखेंगे जब आप नंगे फकीर (अर्थात् महात्मा गांधी) और खान अब्दुल गफ्फार खां को छोड़ देंगे और भारत को स्वराज देंगे। यद्यपि शाह अमानुल्ला के अफगानिस्तान की गद्दी छोड़ देने से वहां स्थिति कुछ ठीक हो गई थी और ग्रेट ब्रिटेन के साथ अधिक मित्रता रखने वाली सरकार सत्ता में आ गई थी लेकिन सरकार यह नहीं भूली थी कि 1919 में उसके अन्य कठिनाइयों में फंसे होने के कारण अफगानिस्तान के शाह ने युद्ध की घोषणा करके कितना फायदा उठाया था और उसके साथ अनुकूल संधि करने में सफल रहा था। इसलिए सीमांत के कबायिलियों ने भारत में होने वाली घटनाओं के प्रति जो रवैया दिखाया था उसके कारण सरकार परेशान हो गई थी।

जिस दिन प्रधानमंत्री रैमजे मैकडोनल्ड ने गोलमेज सम्मेलन के समापन पर भाषण दिया था उसी दिन इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली के सामने भाषण करते हुए वाइसराय ने कांग्रेस के सहयोग की सार्वजनिक अपील की। इस अपील के एक सप्ताह के भीतर ही महात्मा गांधी और कांग्रेस कार्यसमिति के अन्य सदस्यों को प्रधानमंत्री के वक्तव्य पर विचार करने का अवसर देने के लिए बिना शर्त रिहा कर दिया गया। प्रधानमंत्री ने फेडरेशन और संरक्षणों के साथ उत्तरदायित्व का प्रस्ताव करने के बाद अंत में ये शब्द कहे थे: "अंत में मैं आशा करता हूं, विश्वास करता हूं और ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि हम सबके एक साथ मिलकर परिश्रम करने से भारत उस वस्तु को पा सकेगा जो अभी ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत औपनिवेशिक हैसियत प्राप्त करने के लिए उसके पास नहीं है — जिम्मेदारियां और चिंताएं, बोझ और कठिनाइयां, गौरव और सम्मान एक उत्तरदायी सरकार का।" उदारदल के नेताओं ने जो भारत के लिए रवाना हो गए थे, महात्मा गांधी को समुद्री तार भेजा कि हमारी बात सुने बिना सरकार के प्रस्ताव पर कोई अंतिम फैसला न करें क्योंकि उन्हें डर था कि कार्यसमिति प्रधानमंत्री के प्रस्ताव को एकदम ठुकरा देगी। उनकी यह आशंका निर्मूल नहीं थी। कार्यसमिति के सदस्य रिहाई के फौरन बाद इलाहाबाद में मिले जहां पंडित मोतीलाल नेहरू बहुत गंभीर रूप से बीमार थे। सरकार के प्रस्ताव के बारे में पहली प्रतिक्रिया बिलकुल अनुकूल नहीं थी। 6 फरवरी को उदार नेता सर तेजबहादुर सप्रू, राइट आनरेबल श्री वी. एस. शास्त्री और श्री एम. आर. जयकर भारत पहुंचे और सीधे इलाहाबाद गए। पं. मोतीलाल नेहरू ने तो प्रस्ताव के खिलाफ एकदम कठोर रुख अपनाया लेकिन उदारदलीय नेताओं ने वाइसराय से बातचीत किए बिना प्रस्ताव को अंतिम रूप से अस्वीकार न करने को मना लिया। उन दिनों इलाहाबाद नगर शांति-वाहकों और सनसनी फैलाने वालों से भरा हुआ था। कुछ का तो काम बस अफवाहें

फैसला और इधर को उधर करना भर था। 15 फरवरी को महात्माजी ने वाइसराय से मिलने की अनुमति मांगी और फिर उनसे मिलने के लिए दिल्ली रवाना हो गए। कार्यसमिति के अधिकांश सदस्य उनके साथ गए लेकिन पं. मोतीलाल नेहरू अपनी गंभीर बीमारी के कारण उनके साथ नहीं जा सके जो एक दुर्भाग्यपूर्ण बात थी।

दिल्ली में महात्माजी घिरे रहे बड़े-बड़े लोगों और धन सेठों से और ऐसे राजनीतिज्ञों से जो यह चाहते थे कि किसी भी तरह यह फैसला हो जाए। उधर कार्यसमिति में ऐसा कोई भारी-भरकम व्यक्ति नहीं था जो महात्माजी से अपने विचारों को मनवा सकता। यहां तक कि पं. जवाहरलाल नेहरू भी जो ऐसा कर सकते थे इस बार कुछ नहीं बोले। जहां तक अन्य सदस्यों का प्रश्न है, यदि सब नहीं तो भी अधिकांश ऐसे थे जो महात्माजी से भी अधिक समझौते के इच्छुक थे। महात्मा गांधी और वाइसराय के बीच काफी समय तक प्रतिदिन बातचीत होती रही और वह कार्यसमिति को इसके बारे में अवगत कराते रहे। 4 मार्च को वार्ता समाप्त हो गई और जब महात्माजी ने कार्य समिति के सामने पैक्ट की शर्तें रखीं तो उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि आप जब तक सर्वसम्मति से समर्थन नहीं करेंगे तब तक मैं एक कदम आगे नहीं रखूंगा। इस मौके पर पं. जवाहरलाल नेहरू की जिम्मेदारी बहुत बड़ी थी। कांग्रेस का अध्यक्ष होने के अलावा कार्यसमिति में वही अकेले ऐसे व्यक्ति थे जिनसे आशा की जाती थी कि वामपक्ष के दृष्टिकोण को समझ और समझा सकते हैं। उनके इंकार करने पर महात्माजी व कार्यसमिति पैक्ट को अंतिम रूप से स्वीकार न कर पाते। दुर्भाग्य से वह झुक गए और कार्यसमिति ने पैक्ट को मंजूर कर लिया। अगले दिन 5 मार्च को महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन ने उस पर अपने हस्ताक्षर कर दिए। जब पैक्ट के प्रकाशित होने पर देशभर में जबरदस्त वावेला मचा तो पं. जवाहरलाल नेहरू ने एक बयान देकर कहा कि मैं पैक्ट की कई शर्तों से सहमत नहीं था लेकिन एक नेता का आज्ञाकारी सिपाही होने के नाते मुझे झुकना पड़ा। लेकिन देश ने उन्हें आज्ञाकारी सिपाही से कुछ और अधिक ठहराया।

यह पैक्ट जिसे दिल्ली पैक्ट या गांधी-इर्विन पैक्ट कहा जाता है अगले दिन सभी समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ। यह एक लम्बा दस्तावेज है और कांग्रेस की दृष्टि से इसका लेखन दोषपूर्ण था क्योंकि इससे ऐसा नहीं लगता था कि कांग्रेस की जीत हुई है। पैक्ट को पढ़कर कांग्रेस के सभी नेताओं पर जो प्रभाव पड़ा वह उत्साहभंग करने वाला था। उस समय लेखक कलकत्ता की अलीपुर सेंट्रल जेल में था। लगभग कई दिनों पहले से समाचार पत्र पैक्ट की शर्तों की काफी अंशों में सही भविष्यवाणियां प्रकाशित कर रहे थे। महात्मा गांधी के सारे अंधभक्त भी इन भविष्यवाणियों को पढ़कर कहते थे कि हम तो सोच भी नहीं सकते कि हमारा नेता ऐसी शर्तें को स्वीकार कर लेगा। परन्तु जो सोचा भी नहीं जा सकता था वही सब होकर सामने आया। महात्माजी स्थिति की सच्चाइयों से अनभिज्ञ नहीं थे और पैक्ट के साथ ही उन्होंने एक वक्तव्य प्रेस को जारी किया जिसमें

उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि पैक्ट में किसी भी एक पक्ष की जीत निहित नहीं है और मैं पूरी-पूरी कोशिश करूंगा कि जो अभी आशा है वह स्थायी और अंतिम हो जाए ताकि यह पैक्ट उस लक्ष्य को समीप लाने वाला बन जाए जिसे कांग्रेस प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रही है। पैक्ट की शर्तें संक्षेप में निम्नलिखित थीं। कांग्रेस की ओर से महात्मा गांधी इन बातों पर सहमत हुए :

1. सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करना।
2. (क) संघ, (ख) उत्तरदायित्व, (ग) जो भारत के हितों की दृष्टि से आवश्यक हों ऐसे संरक्षण और सामंजस्य के आधार पर भारत के लिए संविधान का मसौदा तैयार करने के लिए आगामी गोलमेज सम्मेलन के व्याख्यान में शामिल होना।
3 भारत के विभिन्न भागों में पुलिस की जो कथित ज्यादतियां हुई हैं उनकी जांच की मांग रखना।

सरकार की ओर से वाइसराय इन बातों पर सहमत थे :

1. अहिंसक आंदोलन के संबंध में सभी राजनीतिक बंदियों की एक साथ रिहाई।
2. जहां जब्त की गई सम्पत्ति और जमीन अभी तक नीलाम नहीं की गई या बेची नहीं गई है वहां उसकी उसके मालिकों को वापसी।
3. आपात अध्यादेशों की वापसी।
4. समुद्रतट से कुछ फासले के भीतर रहने वालों को बिना शुल्क दिए समुद्र से नमक इकट्ठा करने या बनाने की छूट।
5. शराब, अफीम और विदेशी कपड़े की दुकानों पर शान्तिपूर्वक पिकेटिंग की अनुमति। अंतिम वस्तु (विदेशी कपड़े) को ब्रिटिशमाल होने के कारण नहीं बल्कि स्वदेशी आन्दोलन को प्रोत्साहन देने के लिए लिया जा रहा है।

जनता में जो लोग राजनीतिक रूप से जागरूक थे वे इस पैक्ट की शर्तों का विश्लेषण कर सकते थे और उनके लिए यह बेहद निराशाजनक था। कुल मिलाकर देश के सभी युवक इससे असंतुष्ट रहे। लेकिन आम जनता को यह पैक्ट कांग्रेस की महान विजय मालूम हुई। केवल बंगाल में जनसाधारण में कोई उत्साह इसके प्रति नहीं दिखाई पड़ा। इसके क्या कारण थे? यह मैं अभी स्पष्ट किए देता हूं। इस युद्ध विराम की घोषणा के साथ ही कांग्रेस की मशीनरी ने तेजी से और अधिक कुशलता के साथ काम करना शुरू कर दिया। कार्यसमिति ने कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कराची में करने का निश्चय किया और अध्यक्ष के चुनावों की वैधानिक प्रक्रिया को त्याग कर सरदार वल्लभभाई पटेल को अध्यक्ष चुन लिया। उनसे बढ़कर महात्माजी का कट्टर समर्थक और कहां मिल सकता

था। कार्यसमिति का हर सदस्य सोचता था कि उसकी प्रतिष्ठा दांव पर लगी है। अत: उसने अपने प्रान्त से अधिक से अधिक समर्थक कराची के अधिवेशन में ले जाने की जी-तोड़ कोशिश की। कार्यसमिति के सदस्यों के अलावा दक्षिण पक्ष के सभी नेताओं ने भी यह महसूस किया कि जैसे भी हो उन्हें कराची अधिवेशन में पैक्ट की पुष्टि करानी है। और इसके लिए उन्होंने भी अपनी तरफ से पूरा ज़ोर लगाया। देश के पूंजीपति भी चाहते थे कि युद्ध विराम शीघ्र से शीघ्र स्थायी रुचि में बदल जाए ताकि वे शांति से अपना कारोबार चला सकें। इसलिए जो लोग महात्माजी के समर्थन के लिए कराची जाना चाहते थे उनके लिए पैसे की कमी नहीं थी। इसके विपरीत पैक्ट विरोधी लोगों के सामने बेहद कठिनाइयां थीं। उन के बहुत से साथी अभी तक जेलों में थे क्योंकि पैक्ट के अनुसार जिस रिहाई का वचन दिया गया था उसका लाभ उन्हें नहीं मिला था। उनके नेताओं के पक्ष बदलने के कारण देश में उनकी स्थिति काफ़ी कमज़ोर हो गई थी और जो लोग कराची जाना चाहते थे उनके लिए अधिक समस्या खड़ी थी। लाहौर कांग्रेस के बाद से श्रीनिवास आय्यंगार सार्वजनिक कार्यों से हट गए थे। लाहौर कांग्रेस में कांग्रेस अध्यक्ष और महात्मा गांधी ने उनके और अन्य वामपक्षी नेताओं के साथ बड़ा अशोभनीय व्यवहार किया था और महात्माजी ने ही उन्हें कार्यसमिति में स्थान नहीं देने दिया। यद्यपि वह मद्रास के प्रमुख नेता और कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष थे। इस अपमान से उनको इतनी ठेस पहुंची कि उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक महात्मा गांधी कांग्रेस के नेता रहेंगे तब तक मैं कांग्रेस से कोई वास्ता नहीं रखूंगा। श्रीनिवास आय्यंगार के अलावा एक और व्यक्ति ने साथ छोड़ दिया वह थे लाहौर के डा. मुहम्मद आलम जिन्होंने लाहौर कांग्रेस में तो बड़ी प्रमुखता से भाग लिया था लेकिन गांधी इर्विन पैक्ट के बाद वह महात्मा गांधी के समर्थक बन गए थे। सभी प्रान्तों में केवल बंगाल ही ऐसा था जो पैक्ट का सबसे अधिक विरोधी था लेकिन वहां भी स्व. जे. एम. सेनगुप्त की पार्टी गांधीजी के समर्थन के लिए वचनबद्ध थी।

इस हालात में वामपक्षी भला कर ही क्या सकते थे। मैंने 8 मार्च को अपनी रिहाई से पूर्व यह अच्छी तरह पता कर लिया था कि प्राय: सभी राजनीतिक कैदी पैक्ट के विरोध में थे और मेरा भी उन्हीं की भावनाओं से सहमत होना स्वाभाविक था। बाहर आकर मैंने महसूस किया कि पैक्ट एक अपरिवर्तनीय तथ्य है और कराची अधिवेशन में इसकी पुष्टि को रोकने की कोई सम्भावना नहीं थी। बस हमें एक बात यही तय करनी थी कि क्या हमें कराची में महत्वहीन विरोध प्रकट करना चाहिए या अथवा पैक्ट को अस्वीकार करते हुए सदन में विभेद पैदा करने से बचना चाहिए। इस बारे में निर्णय करने से पूर्व मैंने महात्माजी से स्वयं जाकर बातचीत करना उचित समझा। ऐसा सोचकर मैंने बम्बई की यात्रा की। इससे मुझे उन प्रान्तों के भी जनमत को जानने का मौका मिला जिनमें से मैं गुजरा। बम्बई में मेरी गांधीजी से लम्बी बातचीत हुई। मैंने पैक्ट की काफ़ी आलोचना

की। इसके बाद मैंने इस बात पर जोर दिया कि हम लोग आपका तब तक समर्थन करने को तैयार हैं जब तक कि आप स्वाधीनता के पक्ष में रहेंगे। जिस क्षण आपने अपनी यह स्थिति छोड दी हम आपका विरोध करना अपना कर्तव्य समझेंगे। अंत में महात्माजी ने निम्नलिखित आश्वासन दिए :[1]

1. मैं कराची कांग्रेस से ऐसा आदेश देने को कहूंगा जो गोलमेज सम्मेलन में जाने वाले कांग्रेस के प्रतिनिधि मंडल के हाथ बांध दे।
2. आदेश में ऐसी कोई बात नहीं होगी जो स्वाधीनता के दर्जे के अनुकूल न हो और जिसकी लाहौर कांग्रेस घोषणा कर चुकी है।
3. मैं उन लोगों की माफी के लिए जो अभी पैक्ट से बाहर रह गए हैं, पूरी-पूरी कोशिश करूंगा और अपनी समूची क्षमता इसके लिए इस्तेमाल करूंगा।

बम्बई से महात्माजी दिल्ली को रवाना हुए और मैं भी उसी गाड़ी से उनके साथ गया। इस यात्रा में मुझे बम्बई मे हुई उनके साथ अपनी बातचीत को कुछ और आगे बढ़ाने का ही मौका नहीं मिला बल्कि यह भी देखने का अवसर मिला कि पैक्ट के बारे में लोगों की प्रतिक्रिया क्या है। हर जगह जो स्वागत और मान-सम्मान हुआ उससे पता चला कि उनकी लोकप्रियता नई ऊंचाई को छू गई है। यह 1921 के रिकार्ड से भी आगे बढ़ गई है। दिल्ली पहुंचते ही उन्हें खबर मिली कि सरकार ने लाहौर षड्यंत्र के सरदार भगत सिंह और उनके दो साथियों को फासी पर चढ़ाने का फैसला कर लिया है। महात्माजी पर जोर डाला गया कि इन युवकों के प्राण बचाने का प्रयत्न करें और यह स्वीकार करना चाहिए कि उन्होने इसके लिए अधिक से अधिक कोशिश भी की। इस अवसर पर मैंने उन्हें यह भी सुझाव दिया कि यदि आवश्यक हो तो वह इसी आधार पर वाइसराय से समझौता तोड़ दें क्योकि यह फांसी देना यद्यपि दिल्ली पैक्ट के विपरीत भले ही न हो पर उसकी भावना के प्रतिकूल अवश्य है। मुझे इस सिलसिले में सिन फीएन पार्टी और ब्रिटिश सरकार के बीच इसी तरह से युद्ध-विराम की एक घटना याद आ गई जिसमें पार्टी ने कड़ा रुख अपनाया तो ब्रिटिश सरकार को झुकना पड़ा और एक ऐसे आयरिश राजनीतिक कैदी की रिहाई हो गई जिसे सूली पर चढ़ाने का आदेश हो चुका था। लेकिन महात्माजी क्रांतिकारी कैदियों से किसी प्रकार का भी नाता जोड़ना नहीं चाहते थे, इस कारण वह इतना आगे बढ़ने को तैयार नहीं थे। इस बात से बहुत अन्तर पड़ गया था क्योंकि वाइसराय ने समझ लिया कि इस आधार पर महात्माजी पैक्ट को नहीं तोड़ेंगे। खैर इस समय लार्ड इर्विन ने महात्माजी को बताया कि मुझे तीनों बंदियों की फांसी की सजा को रद्द करने के बारे में बहुत लोगों के हस्ताक्षरों सहित अर्जी मिली है। फिलहाल मैं इस फांसी की सजा को स्थगित किए दे रहा हूं और फिर इस मामले

1. मुझे महात्माजी से [illegible] पता चला कि उन्होंने अपनी मर्जी से ही पुलिस की ज्यादतियों की जाच की मांगों को वापस ले लिया है।

पर गम्भीरता से विचार करूंगा लेकिन इससे अधिक मुझ पर इस समय और दबाव न डाला जाए। महात्माजी ने और हरेक ने इस रवैये से यही अनुमान लगाया कि फांसी अततोगत्वा नहीं दी जाएगी और इससे सारे देश में खुशी की लहर दौड गई और खास कर बगाल में। बगाल में भी कुछ क्रांतिकारी कैदियों को फांसी दी जाने वाली थी।

इसके दस दिन बाद कराची में कांग्रेस अधिवेशन होने वाला था। आमतौर से सभी को यह आशा बध गई थी कि फांसी नहीं दी जाएगी। लेकिन जब 25 मार्च को हमें कलकत्ता से कराची जाते हुए यह समाचार मिला कि पिछली रात फांसी दे दी गई तो हमारे दुख और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पजाब में बडी दर्दनाक खबरें फैली हुई थीं कि किस प्रकार उनके शवों को ठिकाने लगा दिया गया। आज इतने दिनों के बाद उस शोक और वेदना का अन्दाजा लगाना कठिन है जिसमें सारा देश उस समय डूब गया था। कारण कुछ भी रहा हो किन्तु भगतसिंह उस समय युवकों में नई जागृति का प्रतीक बन गए थे। लोगों का इससे दरकार नहीं था कि वह हत्या के उस अभियोग के दोषी थे या नहीं, जो उन पर लगाया गया था। उनके लिए इतना जानना काफी था कि वह पजाबी नौजवान भारत सभा (युवा आन्दोलन) के जनक थे और उनके एक साथी जतिनदास शहीद की मौत मरे थे और उन्होंने तथा उनके साथियों ने मुकदमा चलते समय बडी निर्भीकता का परिचय दिया था। हरेक यह अनुभव कर रहा था कि कांग्रेस अधिवेशन एक शोक-सतप्त वातावरण में हो रहा है। कांग्रेस अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल ने आदेश दे दिया था कि अधिवेशन के पहले दिन जो हर्षोल्लास हुआ करता है वह कुछ न किया जाए। फिर भी जब महात्माजी कराची के पास गाडी से उतरे तो उनके विरुद्ध प्रदर्शन किया गया और कई नौजवानों ने उनका काले फूल और काली मालाओं से 'स्वागत' किया। नवयुवकों के बहुत बड वर्ग में उस समय यह धारणा थी कि महात्माजी ने भगत सिह और उनके साथियों के उद्देश्यों के साथ धोखा किया है।

अ भा कांग्रेस समिति की बैठक 26 मार्च को होने वाली थी और खुला अधिवेशन 29 मार्च को। क्योंकि 23 मार्च को ही फांसियां दी गई थीं इस कारण पैक्ट के समर्थकों में बडी घबराहट थी और वे कांग्रेस में खुली फूट की आशका कर रह थे। लेकिन कांग्रेस पार्टी की अधिकृत मशीनरी ने बडी खूबी और सावधानी से काम लिया और सभी प्रांतों से पैक्ट के समर्थकों को ही बडी सख्या में प्रतिनिधि चुनकर भेजा गया था। वामपक्ष ने जिसमें मैं भी था पहले यह निश्चय किया था कि कराची जाकर सारी स्थिति का अध्ययन किया जाए और महात्माजी ने बम्बई में मुझे अपने भावी रवैये के बारे में जो कुछ कहा था उस पर सावधानी से विचार करके फिर अंतिम निर्णय किया जाए। कराची में यह स्पष्ट हो गया कि चुने हुए प्रतिनिधियों से हमें अधिक समर्थन नहीं मिलेगा और उन्हीं को ही मत देने का अधिकार है। हा, आम जनता में और खास कर युवकों में हमें अधिक समर्थन प्राप्त था। एक और बात पर भी विचार करना आवश्यक था। यदि हम

संगत और ईमानदार हैं तो हमारे लिए इतना ही काफी नहीं कि पैक्ट का विरोध करें और अपने घरों को चलते बनें। हमें सरकार को नोटिस देना और आन्दोलन को फिर से शुरू करना होगा। यदि हमने ऐसा किया तो हमें कितना समर्थन मिलेगा? इसमें तनिक भी संदेह नहीं था कि यदि हमने ऐसा किया तो जन और धन दोनों की दृष्टि से हमें निराशा ही हाथ लगेगी। इसलिए इस बात की कोई सम्भावना नहीं थी कि यदि हमने लडाई जारी रखी तो जितना महात्माजी ने हासिल किया था उससे हम कुछ ज्यादा हासिल कर पायेंगे। फिर संस्था में विभाजन पैदा करने से लाभ क्या होगा। यदि हम हार जाते हैं और हारना निश्चित ही है तो हमारा विरोध बेकार रहेगा। यदि हम पैक्ट को नामंज़ूर कर देने में सफल होते हैं जोकि उन हालात में सम्भव नहीं था, लेकिन बाद में और प्रचंड आंदोलन नहीं कर सके तो हमारे विरोध से कोई लाभ नहीं पहुंचेगा। और बडी बात यह थी कि सरदार भगत सिंह और उनके साथियों की फांसी की घटना को भी ख्याल में रखना था। देश की स्थिति के बारे में सरकार को काफी अच्छी जानकारी थी। वह समझती थी कि कांग्रेस अधिवेशन से पहले फांसी देने से पैक्ट विरोधी पार्टी काफी मजबूत हो जाएगी। यदि सरकार कांग्रेस में फूट डालने पर आमादा है तब तो फूट को बचाने के लिए ही कुछ करना होगा। संकट के समय कभी-कभी पार्टी को अपने नेता का साथ देना होता है भले ही वह बहुत भारी गलती क्यों न कर रहा हो। अब सरकार और राष्ट्रवादी नेताओं में समझौते का यह पहला अवसर आया था। यदि पार्टी के सदस्यों ने अपने नेताओं की बात को नहीं माना जबकि वे कोई समझौता कर बैठे हों, तो उससे नेताओं की ही प्रतिष्ठा नहीं जाती बल्कि सारी पार्टी की भी प्रतिष्ठा को धक्का लगता है। भविष्य में सरकार यह कह सकेगी कि नेताओं से बातचीत करने का कोई लाभ नहीं क्योंकि उनके अनुयायियों द्वारा उनका साथ न देने की सम्भावना रहती है। इन सब बातों को अच्छी तरह तोलने के बाद हमने यह निश्चय किया कि ऐसा वक्तव्य दे दिया जाए कि कांग्रेस का वामपक्ष गांधी-इर्विन पैक्ट को स्वीकार न करे लेकिन वर्तमान स्थिति में वे लोग पार्टी में फूट पैदा नहीं करेंगे। कांग्रेस की विषय समिति के सामने मैंने यह वक्तव्य दिया। इससे पैक्ट के समर्थकों को बडी खुशी हुई पर हमारे अधिक उत्साही समर्थकों को इससे निराशा हुई।

सरदार वल्लभ भाई पटेल ने कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता की। अपने प्रारम्भिक भाषण में उन्होंने स्वाधीनता संबंधी लाहौर प्रस्ताव को त्याग दिया और भारत के लिए औपनिवेशिक दर्जे की मांग रखी। उनके भाषण का अधिकांश किसानों की शिकायतों और सामाजिक और आर्थिक सुधारों के बारे में था जिसे उन्होंने देश की उन्नति के लिए आवश्यक बताया। कांग्रेस ने जो अन्य प्रस्ताव स्वीकार किए उनमें से एक में सरदार भगत सिंह और उनके साथियों के साहस और बलिदान की प्रशंसा की गई लेकिन सभी प्रकार के हिंसात्मक कार्यों की निंदा की गई। यह ठीक 1925 के बंगाल प्रांतीय सम्मेलन के गोपी नाथ साहा संबंधी प्रस्ताव की तरह का ही था जिसको महात्मा गांधी ने बेहद नापसद

किया था। बात यह थी कि कराची में परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि यह प्रस्ताव उन लोगों को भी गले के नीचे उतारना पड़ा जो सामान्य स्थितियों में इससे कोसों दूर रहते। जहाँ तक महात्माजी का संबंध था, उन्हें अपनी अंतरात्मा को कुछ लचीला बनाना पड़ा। लेकिन इतना ही काफी नहीं था। इस नाटक को पूरा करने के लिए सरदार भगत सिंह के पिता सरदार किशन सिंह को भी मंच पर लाया गया और कांग्रेस नेताओं के समर्थन में उनसे भाषण कराया गया।

पार्टी तंत्र की चालें बहुत बढ़िया रहीं। जो अन्य प्रस्ताव कांग्रेस ने स्वीकार किए वे इन बारे में थे :

1. गांधी-इर्विन पैक्ट की पुष्टि।
2. गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने वाले कांग्रेसी प्रतिनिधि मंडल को आदेश।
3. भारतवासियों के मौलिक अधिकार जिनकी प्राप्ति के लिए कांग्रेस प्रयत्नशील रहेगी।

कांग्रेस के प्रतिनिधि मंडल को जो आदेश दिया गया वह उस आश्वासन के अनुरूप था जो महात्माजी ने मुझे बम्बई में दिया था। मौलिक अधिकारों संबंधी प्रस्ताव का लक्ष्य कांग्रेस के भीतर के समाजवादी तत्वों को खुश करना था। प्रतिनिधि मंडल में कौन लोग हों, इसके चयन का अधिकार कांग्रेस कार्य समिति को दे दिया गया था। अधिवेशन के अंत में आगामी वर्ष के लिए कार्य समिति चुनी गई और जैसा कि लाहौर कांग्रेस में हुआ था इस समिति में भी ऐसे ही व्यक्तियों को लिया गया जो आंख मूंद कर महात्माजी के पीछे चलने को तैयार थे। कांग्रेस अधिवेशन के दिनों में महात्माजी प्रातःकाल सार्वजनिक रूप से प्रार्थना किया करते थे जिनमें असाधारण भीड़ इकट्ठी हुआ करती थी। जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए इससे बढ़कर और कौन-सा अच्छा ढंग हो सकता था।

कांग्रेस अधिवेशन के साथ-साथ कराची में अ. भा. नौजवान भारत सभा का अधिवेशन भी हुआ और इसकी अध्यक्षता मुझ से कराई गई। इस समय पंजाब और सिंध के युवकों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही थी कि वे कांग्रेस से नाता तोड़ कर अलग से अपना संगठन बनाया करते थे। मैंने इस दृष्टिकोण का प्रबल विरोध किया और कांग्रेस का बहिष्कार करने की बजाय उस पर कब्जा करने का अनुरोध किया। गांधी-इर्विन पैक्ट के बारे में मैंने यह आलोचना की:

1. पैक्ट बहुत से छोटे-छोटे और अनावश्यक विषयों के विस्तार में गया है और उसमें स्वराज्य के मुख्य मुद्दों को छोड़ दिया गया है।
2. आगामी गोलमेज सम्मेलन किसी प्रकार से गोलमेज सम्मेलन नहीं है क्योंकि इसके निर्णय अंतिम नहीं होंगे और ब्रिटिश संसद उन पर फिर नए सिरे से

विचार करेगी। सही गोलमेज सम्मेलन में, जैसा कि दक्षिण अफ्रीका और आयरिश संबंधी गोलमेज सम्मेलनों में हुआ, इस तरह के सम्मेलन के निर्णय अंतिम और दोनों पक्षों पर बाध्यकारी हुआ करते हैं। अत: इस सम्मेलन को गोलमेज सम्मेलन नाम देना भारत के मूर्ख राजनीतिज्ञों को और मूर्ख बनाने की चाल थी।

3. गोलमेज सम्मेलन के लिए भारतीय प्रतिनिधियों का चुनाव भारत की जनता नहीं ब्रिटिश सरकार करेगी।

4. सम्मेलन में केवल संघर्षरत दोनों पक्षों के ही प्रतिनिधि नहीं रहेंगे बल्कि हर तरह के बहुत से ऐसे गोरे लोग भी होंगे जिन्होंने स्वराज्य की लड़ाई में कुछ नहीं किया और सम्मेलन में सिर्फ राष्ट्रवादियों के रास्ते में रोड़े ही अटकाएंगे।

5. राष्ट्रवादी ब्रिटिश भारत के और एकतंत्री राजा नवाबों के संघ का प्रस्ताव बेहूदा है। राजा नवाब या उनके नामजद व्यक्ति राष्ट्रवादी शक्तियों के खिलाफ केवल रुकावट का ही काम करेंगे।

6. 'सरक्षण' उन सब चीजों को छीन लेती है जो 'उत्तरदायित्व' हमें देता है। भारत के हित में सुरक्षा की बात करना महात्माजी की बहुत बड़ी गलती है। भारतीय केवल एक ही सरक्षण चाहते हैं और वह है 'स्वाधीनता'। वास्तविक सरक्षण अंग्रेज मागते हैं और वे सब भारत के हितों के विरुद्ध हैं। भारत की जनता को इन संरक्षणों को मानने के लिए यह कहकर राजी करना गलत है कि वे भारत के हित में हैं।

7. पैक्ट के अधीन जो माफी दी गई है यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि निम्नलिखित प्रकार के राजनीतिक कैदियों को उससे बाहर रखा गया है:

   (क) बिना मुकदमा चलाए कैद में रखे राजबदी और नजरबदी जिनकी सख्या केवल बंगाल में ही एक हजार से ऊपर है।

   (ख) क्रान्तिकारी अपराधों में सजा भुगतने वाले कैदी।

   (ग) जिन पर कथित क्रान्तिकारी अपराधों के लिए मुकदमें चल रहे हैं।

   (घ) जिन पर मेरठ षड्यंत्र केस चलाया जा रहा है।

   (ङ) श्रमिक हड़तालों और अन्य श्रमिक विवादों में सजा पाए कैदी।

   (च) वे गढ़वाली सिपाही जिन्होंने निहत्थे लोगों पर गोली चलाने से इंकार किया था और जिनका कोर्ट मार्शल हुआ तथा जो अब लम्बी-लम्बी सजाएं काट रहे हैं।

   (छ) सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सिलसिले में ही सजा पाए ऐसे कैदी जिन पर किसी प्रकार की हिंसा का अभियोग लगाया गया।

8. महात्माजी ने आरम्भ में ही अवज्ञा आन्दोलन के दौरान पुलिस के अत्याचारों की जांच कराने की जो मांग की थी उसे पैक्ट में छोड़ दिया गया है।

युवक कांग्रेस में इस आलोचना को आम सहमति प्राप्त हुई और दिल्ली पैक्ट की भर्त्सना करने का एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

दिल्ली पैक्ट जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, वरदान की बजाय अभिशाप सिद्ध हुआ। जिस प्रकार के समझौते की कोशिश की गई उसके लिए वह अनुकूल समय नहीं था। संघर्ष को कुछ और समय तक जारी रखा जाना चाहिए था एवं पैक्ट जिस ढंग से लिखा गया उसमें कोई ठोस बात थी ही नहीं। 1929 में जब से बातचीत चली थी कांग्रेस के नेता औपनिवेशिक दर्जा देने के आश्वासन पर बराबर जोर देते रहे थे। चूंकि यह आश्वासन नहीं मिला था इसलिए 1930 में संघर्ष छेड़ना पड़ा। 1930 के गोलमेज सम्मेलन से पहले जो शांति-वार्ता चली थी वह इसी वजह से टूट गयी थी। फिर इस प्रकार के आश्वासन के बिना लड़ाई क्यों बंद की गई, यह किसी की समझ में नहीं आ सका। इसका केवल एक ही कारण दिखाई देता है वह यह कि कांग्रेस की कार्य समिति में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं था जो महात्माजी को सही बात कह सकता। पं. मोतीलाल नेहरू की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु से कांग्रेस का आखिरी महान प्रतिभाशाली व्यक्ति भी उठ गया था। यह ठीक है कि उनमें वह भावात्मक अपील नहीं थी जो एक प्रथम श्रेणी के नेता में होनी चाहिए फिर भी पंडितजी साधारण जन के बीच नेता ही थे। वह अपने सम-सामयिक साथियों से बहुत ऊंचे और आगे थे और 1931 में कांग्रेस की कार्य समिति में अकेले वही व्यक्ति ऐसे थे जो हमेशा के लिए महात्माजी को प्रभावित कर सकते थे। इसलिए यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण बात थी कि दिल्ली वार्ता के समय वह मृत्यु शैया पर पड़े थे और यह एक प्रकार से राष्ट्रीय संकट ही कहा जाएगा कि मार्च 1931 के शुरू में ही उनका देहावसान हो गया।

पैक्ट असामयिक तो था ही बल्कि इसमें कई खामियां कूटनीतिक अदूरदर्शिता के कारण भी रह गई थीं। उदाहरण के लिए पुलिस के अत्याचारों की जांच के बारे में महात्माजी को बता दिया गया था कि यदि वह वार्ता टूटने के बिन्दु तक अपनी बात पर अड़े रहे तो वाइसराय झुक जाएंगे लेकिन उन्होंने तो वाइसराय की अपील पर खुद ही इस मांग को छोड़ दिया। यदि मार्च 1931 में भी सौदेबाजी और समझदारी को जारी रखा जाता तो भी सरकार से और बहुत कुछ हासिल किया जा सकता था क्योंकि वह उस समय समझौते के लिए वास्तव में उत्सुक थी। लेकिन ऐसे लोग जो अपने नए विचारों से बंधे हों राजनीतिक सौदेबाजी के लिए उपयुक्त नहीं होते। जहां तक महात्माजी का संबंध है वह कभी बहुत अड़ियल हो जाते हैं तो कभी उदार। और बड़ी बात यह है कि वह व्यक्तिगत अपील किए जाने पर बहुत कोमल हो जाते हैं। जिस व्यक्ति का मन और स्वभाव इस प्रकार

का हो उसके लिए अपने विरोधी को राजनीतिक सौदेबाजी में छका पाना कठिन होता है। दिल्ली की विराम संधि से सरकार को बड़ी मदद मिली। इससे उसे कांग्रेस की हर चाल और रणनीति की गहराई से जांच-परख करने का अवसर मिल गया और वह भविष्य में उससे निपटने के लिए अपनी मशीनरी को अच्छी तरह तैयार कर सकी। कांग्रेस के लिए तो पैक्ट हानिकर ही रहा। लोगों का उत्साह ठंडा पड़ने लगा और अहिंसक जन-आंदोलन के लिए धन और जन तभी मिलता है जबकि जनता में भरपूर उत्साह हो। सरकार के पास तो धन और जन की कोई कमी नहीं होती वह तो अपनी कार्रवाई चाहे जब शुरू कर सकती थी लेकिन कांग्रेस को तब तक फिर प्रतीक्षा करनी पड़ती जब तक फिर से जनता में जोश न भरा जाए। दिल्ली की विराम संधि के दौरान जबकि लंदन में गोलमेज सम्मेलन चल रहा था, सरकार कांग्रेस पर चोट करने की अपनी योजनाएं बना रही थी। उदाहरण के लिए अक्तूबर 1931 तक अगले साल में लागू करने के लिए अध्यादेश तैयार किए जा चुके थे। दिल्ली के राष्ट्रवादी मुसलमान नेता डा. एम. ए. अन्सारी के पास इस बारे में ऐसे सबूत थे जिनके बारे में जरा भी संदेह नहीं किया जा सकता था और उन्होंने इन्हें कांग्रेस अध्यक्ष सरदार पटेल के पास पहुंचा दिया था। सरकार के लिए यह समझना कठिन नहीं था कि भविष्य में क्या होने वाला है क्योंकि वह जानती थी कि लंदन में कांग्रेस को कुछ भी नहीं दिया जाएगा। लेकिन महात्माजी की ईमानदारी और सीधी सच्ची नीति में विश्वास होने के कारण कांग्रेस आगामी लड़ाई की कुछ तैयारी नहीं कर सकी। वास्तव में लंदन रवाना होने से पहले उन्होंने वाइसराय लार्ड इर्विन को आश्वासन दे दिया था कि मैं वहां जाकर समझौते के लिए अपनी तरफ से पूरी-पूरी कोशिश करूंगा और लंदन से लौटने से पहले उन्होंने प्रधान मंत्री श्री रैमजे मैकडोनल्ड को आश्वासन दिया था कि मैं अंतिम क्षण तक कोशिश करूंगा कि लड़ाई फिर से शुरू न हो और यदि यह असम्भव हुआ तो मैं कम से कम यह कोशिश करूंगा कि जहां तक सम्भव हो कटुता न पैदा होने पाए।[1] जिस दिन महात्माजी जहाज से बम्बई उतरे थे उससे एक दिन पहले उन्होंने रेडियो से बहुत ही समझौतावादी संदेश भेजा था जिसे तुरन्त सभी समाचार पत्रों ने प्रकाशित किया था। लेकिन इसका नए वाइसराय लार्ड विलिंगडन पर कोई असर नहीं पड़ा जिन्होंने अपनी सारी तैयारी पहले ही पूरी कर ली थी और उस थोड़े से अपमान का बदला लेने के लिये लड़ाई छेड़ने की ताक में थे जो कांग्रेस के साथ युद्ध-विराम करने के कारण सरकार को सहना पड़ा था।

पैक्ट के अपर्याप्त प्रावधानों के बावजूद यदि इसमें कथित अत्याचारों की जांच करने की व्यवस्था रहती तो भविष्य में इस तरह की काली करतूतों को रोकने के लिए एक स्वस्थ अंकुश अवश्य लग जाता। पिछले बारह महीनों में पुलिस और सेना ने पेशावर,

1 इस आश्वासन का निर्वाह करते हुए ही उन्होंने 1827 के रेगुलेशन 25 के अधीन 4 जनवरी, 1932 को अपनी गिरफ्तारी से पहले एक अपील जारी की थी जिसमें उन्होंने कहा था . "अपने मन से हिंसा के लेश को भी मिटा दो, हर अंग्रेज स्त्री-पुरुष और बच्चे को पूरा संरक्षण दो।"

गुजरात, सयुक्त प्रात और बगाल के मिदनापुर जिले मे काफी ज्यादतिया की थीं और इनके बारे में जनता ने निराकरण की माग की। गुजरात, सयुक्त प्रात और मिदनापुर में शाही पुलिस या सेना ने करबदी आदोलन को दबाने की कोशिश में ज्यादतिया की थीं और सयुक्त प्रात में स्त्रियो पर इस तरह के अशोभनीय आघात किए गए थे जिनका वर्णन करना कठिन है। इनके अलावा हाल की ही घटना थी, जिसकी याद लोगों के दिल में ताजा थी जबकि कलकत्ता में स्वाधीनता दिवस (26 जनवरी, 1931) को एक शातिपूर्ण जुलूस पर अग्रेज घुडसवार पुलिस ने बिना चेतावनी दिए लाठियों से प्रहार किया और लोगों को बुरी तरह पीटा। इस जुलूस का नेतृत्व मैं कर रहा था। उस समय मैं कलकत्ता का मेयर था। मैं और जुलूस में शामिल बहुत से व्यक्ति बुरी तरह घायल हुए जिनमें कलकत्ता नगरपालिका के शिक्षा अधिकारी श्री चट्टोपाध्याय और डिप्टी लाइसेंस आफिसर श्री घोषाल भी शामिल थे। जबकि जुलूस अत तक पूर्णत शात और अहिंसक रहा था, अगले दिन कलकत्ता के चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने मुझे दगा' करने के अपराध में छह महीने की सजा सुना दी। कलकत्ता अर्थात देश के प्रथम नगर के मेयर के साथ ऐसा सलूक हो यह एक ऐसी घटना थी जिसे भारत देश की जनता सहन नहीं कर सकती थी। उधर पुलिस यह सोचे बैठी थी कि वह चाहे जैसा बर्ताव कर सकती है क्योंकि उसे कभी भी जनता के सामने जवाब नहीं देना पडेगा।

पैक्ट के अधीन जो सीमित माफी दी गई उससे कुछ वर्गों मे बडी निराशा फैली और क्रातिकारी तथा मजदूर सघ के कार्यकर्ता, जिनमे मेरठ षड्यत्र केस के अभियुक्तों के मित्र और अनुयायी भी शामिल थे, महात्माजी से नाराज हो गए। यदि महात्माजी सब प्रकार के बदियो के लिए माफी करा लेते तो वह केवल राष्ट्रवादियों के ही नहीं क्रातिकारियो और मजदूर कार्यकर्ताओं के भी प्रतिनिधि माने जाते और उन पर हमेशा उनका प्रभाव रहता। यदि सरकार ने भी जेलो के दरवाजे सबसे लिए खोलने का साहस दिखाया होता तो उसकी यह उदारता सबके दिलों में घर कर गई होती और इससे उसको कोई हानि भी नहीं होती क्योंकि यदि रिहाई के बाद में कोई इसका दुरुपयोग करता तो उसे फिर से जेल भेजने के लिए सरकार के पास रेगुलेशन और आर्डिनेन्स आदि तो थे ही। चूकि महात्माजी ने अपना वास्ता केवल सत्याग्रहियों तक ही सीमित रखा था, इसलिए क्रातिकारियों ने जेल से लार्ड इर्विन को एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया था कि महात्माजी के साथ उनका जो समझौता हुआ है वह हम पर आवश्यक रूप से बधनकारी नहीं है

---

1 इस मौके पर मुझे लाल बाजार के सेन्ट्रल पुलिस स्टेशन में भूखे प्यासे बिना कपडे बदले 24 घंटे बद रखा गया था। चोटों पर लगाने के लिए जरा-सा टिंचर आयोडीन दिया गया था। इसके कम पडने पर जब और मागा गया तो नहीं मिला। अगले दिन मुझे खून से सने कपडों और हाथ को स्लिंग में डाले हुए मजिस्ट्रेट की अदालत में हाजिर होना पडा। मैंने मजिस्ट्रेट के सामने पुलिस के बर्ताव के बारे में बयान दिया जिसे बाकायदा दर्ज किया गया। जेल भेज जाने के बाद जब एक्स रे लिया गया तो पता चला कि दाए हाथ की दो उगलियों की हड्डी टूटी हुई है।

और यदि महामहिम भारतीय प्रश्न का वास्तविक हल चाहते हैं तो क्रांतिकारी पार्टी के साथ अलग से कोई समझौता करें। वाइसराय के पास यह पत्र एक प्रमुख भारतीय राजनीतिज्ञ के जरिए पहुंचाया गया।[1]

यह प्रतिवेदन पूरी तरह बेकार नहीं गया क्योंकि कुछ दिन बाद बंगाल के गवर्नर सर स्टेनले जैक्सन ने क्रांतिकारियों से कुछ समझौता करने का प्रयत्न किया था। उनके कहने पर श्री. जे. एम. सेनगुप्त उत्तरी बंगाल में बक्सा नजरबन्दी कैम्प में गए थे और कुछ क्रांतिकारी नेताओं से भेंट की थी। इसका परिणाम असंतोषजनक नहीं रहा। जिन बंदियों से भेंट की गई उन्होंने कहा कि बातचीत तो सीधी सरकार के साथ होनी चाहिए, किसी पुलिस अफसर के मार्फत नहीं। उन्होंने शर्तों सहित बातचीत की रूपरेखा भी बताई थी जिसे श्री जे. एम. सेनगुप्त ने जाकर गवर्नर को बताया भी था। इसके बाद सरकार ने कैदियों से कुछ बातें कैम्प के सुपरिन्टेन्डेन्ट की मार्फत, जो एक पुलिस अफसर था, कहलवाई थीं। लेकिन बंदियों ने आगे बात बढ़ाने से इंकार कर दिया चूंकि बातचीत सीधे उनसे नहीं की जा रही थी। चूंकि सरकार इसके लिए राजी नहीं हुई इसलिये बातचीत यहीं टूट गई।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है इसके बावजूद आम भोली-भाली जनता की निगाह में दिल्ली पैक्ट महात्माजी की विजय थी। धीरे-धीरे ही उनका यह मोह-भंग हुआ। बहुत से बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे थे जो यह विश्वास करते थे कि लिखित शर्तों के अलावा कुछ अलिखित शर्तें भी हैं जो बाद में पता चलेंगी और जो पैक्ट के विरोधी थे उनमें से बहुतों का यह मत था कि महात्माजी को दूसरे गोलमेज सम्मेलन के अंत तक भारत को पूरी-पूरी आजादी और अधिकार दिलवा देने चाहिए। कराची कांग्रेस के समय महात्मा गांधी की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा निश्चय ही उच्चतम शिखर पर थी। कुछ दिनों तक मैंने उनके साथ यात्रा की और अपनी आखों से देखा कि हर जगह उनके दर्शन और स्वागत के लिये कितनी भारी भीड़ आती थी। मुझे नहीं मालूम कि कहीं भी किसी भी नेता को इतना आदर और मान मिला होगा। वह लोगों की निगाह में केवल महात्मा ही नहीं थे एक राजनीतिक युद्ध के योद्धा भी थे। मेरे मन में बार-बार जो प्रश्न घुमड़ता रहा वह यह था कि गांधीजी जो इस असाधारण स्थिति में पहुंच गए हैं उसका वह कैसे उपयोग करेंगे। क्या वह एक विजय से दूसरी विजय प्राप्त करते चले आएंगे या यहां से ही उनका ह्रास आरम्भ हो जाएगा? मुझे पहला धक्का तब लगा जब 2 अप्रैल को इस घोषणा की खबर मिली कि कार्य समिति ने गोलमेज के लिए एकमेव उन्हीं को अकेला प्रतिनिधि बना कर भेजने का फैसला किया है और उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया है। इस निर्णय के पीछे क्या चीज थी यह अब तक मेरी समझ में नहीं आया। क्या यह महात्माजी का दंभ मात्र था कि वह भारत के लाखों-करोड़ों गूंगे लोगों के एकमात्र प्रतिनिधि बनकर

1 ये बातें मुझे मार्च 1931 में जेल से छूटने के बाद मालूम हुईं।

दुनिया को दिखाना चाहते हैं या इस फैसले के पीछे कुछ और प्रयोजन था। पहली बात को मानना सही होगा। खैर सही बात कुछ भी हो पर यह निर्णय अपने आप में बहुत ही गलत था। करीब 100 व्यक्तियों के जमघट में जिनमें हर तरह के ऐरे-गैरे, अज्ञात और स्वयंभू नेता थे, वह अकेली मूर्ति की तरह बैठकर बेहद घाटे में रहेंगे। और बड़ी बात यह थी कि प्रतिक्रियावादी मुसलमान नेताओं से लड़ने के लिए उन्हें सहारा देने को उनके पीछे कोई भी नहीं होगा। पर इस बारे में और हो ही क्या सकता था। महात्माजी के अंधभक्त उनकी टीका टिप्पणी कर ही नहीं सकते थे और जो ऐसे अनुयायी नहीं थे उनका उन पर कोई प्रभाव नहीं था भले ही वे कितने ही चरित्रवान, बुद्धिवान या अनुभवी क्यों न हों।

कराची कांग्रेस के बाद महात्माजी का पहला कदम बुद्धिमता का नहीं था पर दूसरा तो निश्चय ही एक भूल थी। व्यक्तिगत तौर पर और सार्वजनिक रूप से उन्होंने कहना शुरू कर दिया कि उनका गोलमेज सम्मेलन में जाना हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को पहले ही हल कर लेने की योग्यता पर निर्भर करता है। इस वक्तव्य के साथ ही उन्होंने यह भी कहना शुरू कर दिया कि यदि मुसलमानों ने नए संविधान में प्रतिनिधित्व और चुनाव आदि के बारे में संयुक्त रूप से कोई मांग रखी तो मैं उस मांग को मान लूंगा। उनके इन बयानों का बहुत ही घातक परिणाम हुआ। दिल्ली पैक्ट के समय प्रतिक्रियावादी मुसलमान कांग्रेस की शक्ति और सामर्थ्य से कुछ-कुछ डरे हुए थे और उनकी मानसिक स्थिति ऐसी थी कि कांग्रेस के साथ किसी उचित आधार पर समझौता हो सकता था। महात्माजी के पहले ही बयान से उनका यह रवैया बदल गया। उन्होंने समझ लिया कि उन्हीं के हाथ में कुंजी है क्योंकि यदि उन्होंने महात्माजी से किसी तरह का समझौता नहीं किया तो वे उनका गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना रोक सकते हैं। महात्माजी के दूसरे बयान से तो प्रतिक्रियावादी मुसलमानों ने बिलकुल ही यह समझ लिया कि यदि वे अपनी बात पर दृढ़ रहे और राष्ट्रवादी मुसलमानों को अपनी तरफ मिला लिया तो महात्माजी को उनकी सभी विषम मांगों को भी मानना पड़ेगा। इन वक्तव्यों के बाद गांधीजी 1 अप्रैल को दिल्ली में प्रतिक्रियावादी मुसलमानों से मिले और उनसे बातचीत की। उस समय मैं दिल्ली में ही था। इस बैठक के बाद उसी शाम मैं उनसे मिला। वह उस समय बड़े हताश थे क्योंकि मुसलमानों ने उनके सामने श्री जिन्ना द्वारा प्रस्तुत 14 सूत्री मांगें (इन मांगों को जिन्ना के 14 सूत्र कहा जाता है) रखी थी। और वह अनुभव कर रहे थे कि इस आधार पर समझौता होना संभव नहीं। इस पर मैंने कहा कि कांग्रेस को केवल राष्ट्रवादी हिन्दुओं और राष्ट्रवादी मुसलमानों के बीच समझौते की ही चिन्ता करनी चाहिए, इन दोनों का जो सम्मत हल हो उसे गोलमेज सम्मेलन के सामने रखना चाहिए। राष्ट्रविरोधी तत्त्व क्या सोचते या कहते हैं उसकी चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। इस पर गांधी जी ने मुझसे पूछा कि क्या आपको पृथक निर्वाचन के बारे में कोई आपत्ति है? क्योंकि यह कहा जा सकता है कि तीसरे

पक्ष के न रहने पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय मेल-मिलाप से रहेंगे और कार्य करेंगे। इसके उत्तर में मैंने कहा कि पृथक निर्वाचन राष्ट्रवाद के मौलिक सिद्धांत के ही विपरीत हैं और मुझे तो इस पर इतनी दृढ़ आस्था है कि पृथक निर्वाचन के आधार पर यदि स्वराज्य भी मिले तो वह लेने योग्य नहीं है। जब हम दोनों विचार-विमर्श कर रहे थे तो डा. अन्सारी और कुछ अन्य राष्ट्रवादी मुसलमान नेता जिनमें श्री शेरवानी भी थे, आ पहुंचे और उन्होंने भी चर्चा में हिस्सा लिया। उन लोगों ने कहा कि यदि किसी भी कारण से हर सम्प्रदाय के लिए अलग-अलग निर्वाचन की प्रतिक्रियावादियों की बात मान ली और हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों के लिए समान निर्वाचन की मांग छोड़ दी तो हम लोग प्रतिक्रियावादी मुसलमानों का और आपका (महात्माजी) भी विरोध करेंगे क्योंकि हम इस बात में विश्वास करते हैं कि पृथक निर्वाचन देश के लिए ही नहीं भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लिए भी घातक हैं। उस समय राष्ट्रवादी मुसलमानों के दृढ़ रवैये के कारण महात्माजी पृथक निर्वाचन को मानने से रुक गए और वह अपने-आप जिस उलझन में फंस गए थे उससे निकल नहीं सके।[1] फौरन ही उन्होंने वक्तव्य दिया कि मैं साम्प्रदायिक मुसलमानों की मांगों को नहीं मान सकता क्योंकि दूसरे मुसलमान उनके विरोधी हैं।

उस समय दिल्ली का वातावरण (अप्रैल 1931) जोड़-तोड़ और साजिशों से भरा था। यद्यपि लार्ड इर्विन ईमानदारी से समझौता करना चाहते थे लेकिन बहुत से अफसर इसके विरोधी थे। इन कट्टर लोगों को इस बात से और प्रोत्साहन मिला कि लार्ड इर्विन भारत से जाने वाले थे और उनकी जगह लार्ड विलिंग्डन आने वाले थे जो अपनी कठोरता के लिए विख्यात थे। जब हम दिल्ली में ही थे, हमें एक विश्वस्त सूत्र से यह जानकारी मिल गई थी कि गोलमेज सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार क्या चालें चलने वाली है। हमें बताया गया कि इस बात को पूरी कोशिश की जाएगी कि महात्माजी को शुरू से ही छोटी और कम महत्त्व की बातों में उलझाए रखा जाए ताकि भारतीय आपस में ही झगड़ते रहें और बड़े और महत्वपूर्ण मसलों पर एकजुट होकर ब्रिटिश सरकार का सामना न कर सकें। मैंने महात्माजी को यह जानकारी दे दी। उन्होंने मुझे जवाब दिया कि मेरी यह योजना है कि लंदन पहुचते ही मैं अधिकारियों से मिलूं और उनसे बड़े-बड़े मसलों के बारे में संतोषजनक उत्तर प्राप्त करू। यदि मुझे संतोष हुआ तभी मैं छोटे मसलों में जाऊंगा वरना इंग्लैंड में वहीं मेरा काम खत्म हो जाएगा। दुर्भाग्य से जब गांधीजी इंग्लैंड पहुंचे तो अल्पसख्यकों की समस्या ने ही सबसे अधिक महत्त्व धारण कर लिया और सब बातें एक तरफ कर दी गईं। वहां सब कुछ ठीक वैसे ही हुआ जैसे दिल्ली में अप्रैल में पहले ही बता दिया गया था।

18 अप्रैल को लार्ड इर्विन का कार्यकाल समाप्त हो गया। दिल्ली से प्रस्थान करने से पहले उन्होंने चेम्सफोर्ड क्लब में बहुत ही सद्भावनापूर्ण भाषण दिया। यद्यपि वह

1 एक तरफ इन तथ्यों को देखते हैं और दूसरी तरफ 1934 के प्रधानमंत्री के साम्प्रदायिक फैसले (कम्युनल अवार्ड) के बारे में उनके रवैये को देखते हैं तो हैरानी होती है।

कंजरवेटिव पार्टी के प्रमुख सदस्य थे लेकिन वह भारत के हितैषी सिद्ध हुए थे। लार्ड रिपन के बाद तब तक उन जैसा भारतवासियों का मित्र और कोई वाइसराय नहीं आया था। वह भारत के लिए कुछ अधिक नहीं कर सके इसका कारण यह था कि भारत और इंग्लैंड में उनके विरुद्ध प्रतिक्रियावादी शक्तियां बराबर काम कर रही थीं। लार्ड विलिंग्डन के भारत पहुचते ही सरकार का रुख कड़ा होने लगा। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अफसरों ने पैक्ट का परिपालन नहीं किया। गुजरात मे किसानों को अपनी जब्त जमीनें वापस लेने में कड़ी कार्रवाइयों का सामना करना पड रहा था और करांची कांग्रेस के बाद और लंदन जाने से पहले महात्माजी को अपना सारा समय उन्हीं की शिकायतों की ओर ध्यान देने में लगाना पड़ा। संयुक्त प्रांत में यद्यपि अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया गया था लेकिन किसानों का कहना था कि उन्हें लगान देने के लायक नहीं रखा गया था। महात्माजी ने तो यहां तक सलाह दी थी कि किसान आधा लगान दे दें लेकिन इसका पालन नहीं हो सका था। बंगाल की हालत तो सबसे खराब थी। पैक्ट के बावजूद बिना मुकदमा चलाए जेल मे डाल देने की घटनाएं रोज हो रही थीं और कारण दिया जा रहा था कि वहा क्रांतिकारी आंदोलन जारी है। करीब एक हजार ऐसे बंदियों में से जो बिना मुकदमा चलाए जेलों मे सड़ रहे थे, एक को भी रिहा नहीं किया गया। षड्यंत्र केस प्रांत में वैसे के वैसे ही चलाए जाते रहे। कभी-कभी अफसरों के अत्याचारों का बदला लेने के लिए आतंकवादी कार्य भी होते रहे। विराम संधि के बाद सरकारी रवैये में बंगाल में तो कतई कोई अंतर नहीं दिखाई देता था और सारे भारत में सरकार की तरफ से सद्भाव की कोई निशानी नहीं दिखाई दी।

जुलाई तक कांग्रेस के प्रधान कार्यालय में इस बात के स्पष्ट और पक्के सबूत पहुंच गए थे कि पैक्ट के प्रावधानों का कहीं भी पालन नहीं हुआ है। सरकार की तरफ से पैक्ट के उल्लंघन के आरोपों की पूरी फेहरिस्त शिमला में महात्माजी ने स्वयं भारत सरकार के गृह सचिव को दी। यह अफवाह भी बडे जोरों पर थी कि महात्माजी लदन जाने से इंकार कर देंगे। इससे लदन के अधिकारीगण चिंतित हो उठे। क्योंकि वे हर कीमत पर गांधीजी का वहां आना जरूरी मानते थे। वाइसराय पर दबाव डाला गया कि वह उनको (महात्माजी को) लंदन भेजने के लिए हर सम्भव कोशिश करें। अगस्त में महात्माजी ने नए वाइसराय के साथ लम्बी बातचीत की जिसके कारण तनाव काफी हद तक शांत हुआ। महात्मा गांधी पैक्ट के पालन न करने की शिकायतों की जांच कराने के लिए कोई मध्यस्थ चाहते थे लेकिन इसके लिए वाइसराय सहमत नहीं हुए। हां, उन्होंने महात्माजी द्वारा लगाए गए निश्चित आरोपों की जांच कराने की बात स्वीकार कर ली। खैर बिलकुल अंतिम क्षण में कांग्रेस नेता और वाइसराय में समझौता हो ही गया। महात्माजी एक विशेष रेलगाड़ी से एस. एस. राजपूताना नामक जहाज के छूटने के समय ही जैसे-तैसे बम्बई पहुचे। 11 सितम्बर 1931 को महात्माजी ने फ्रांस की धरती पर पैर रखा। अगले दिन वह लंदन पहुंच गए।

अध्याय 12

महात्मा गांधी यूरोप में (1931)

लंगोटी लगाए और खडाऊ पहने 11 सितम्बर, 1931 को गांधीजी मार्सेल्स में जहाज से उतरे और वहा की सर्दी से शरीर की रक्षा के लिए उनके पास बस एक शाल था। उनके कुछ थोड़े से भारतीय और विदेशी मित्र उनके स्वागत के लिए मौजूद थे और वही लोग उनके साथ लंदन भी गए। वहा पहुंचते ही उन्हें सीधे 'फ्रेंड्स हाउस' में एक स्वागत समारोह में ले जाया गया। वहा अपने स्वागत के उत्तर में उन्होंने मजाक में ब्रिटिश सरकार के बारे में कहा कि आप तब तक बजट संतुलन की आशा नहीं कर सकते जब तक कि पहले भारत और इंग्लैंड के संबंधों का संतुलन न कर लें।

मैं उन लोगों में से था जो पहले शका करते थे कि गांधीजी का लगोटी लगाकर यूरोप जाना ठीक नहीं होगा। अपनी पहले की यूरोप यात्राओं में भी वह इस प्रकार की वेशभूषा में नहीं गए थे। लेकिन उन्होंने इस बार अपनी हमेशा की वेशभूषा रख कर ठीक ही किया। जब एक संवाददाता ने उनसे उनकी पोशाक के बारे में पूछा तो उन्होंने मजाक में कहा, ''आप लोग प्लस फोर्स पहनते हैं और मैं माइनस फोर्स।'' फिर उन्होने गंभीरता से कहा : ''यदि मैं आपके देश में अंग्रेज की तरह काम करने और रहने आता तो मुझे अंग्रेजों जैसा लिबास पहनना चाहिए था और इस देश के ही सारे रिवाजों को मानना चाहिए था। लेकिन यहां मैं एक महान और विशेष मिशन लेकर आया हूं और मेरी यह लंगोटी, यदि आप इसे यही कहना चाहें, मेरे मालिकों यानी भारतवासियों का पहनावा है।'' आज उनके देशवासी इस बात का गर्व महसूस करते हैं कि गाधीजी अपने स्वामियों की ही वेशभूषा वहां भी पहने हुए हैं और बकिंघम महल की पार्टी में भी वह उसी वेशभूषा में गए।

लंदन में 12 सितम्बर और 1 दिसम्बर के बीच अपने प्रवास में महात्माजी ने गोलमेज सम्मेलन मे[1] 12 बार भाषण किया। दो बार सम्पूर्ण अधिवेशन के सामने 30 नवम्बर और 1 दिसम्बर को, 8 बार संघीय रचना समिति के सामने और दो बार अल्पसंख्यक समिति के सामने। उन्होंने संघीय रचना समिति के सामने अपने प्रथम भाषण में कहा, ''एक समय था जब मैं अपने आपको ब्रिटिश प्रजा कहने में गर्व करता था।

---

1 दूसरे गोलमेज सम्मेलन में 107 सदस्य थे। इनमें से 65 ब्रिटिश भारत के थे, 22 भारतीय रियासतों के, 20 ब्रिटिश पार्टियों के। सम्मेलन की अल्पसंख्यक समिति में 6 अंग्रेज, 13 मुसलमान, 10 हिन्दू, 2 परिगणित जातियों के, 2 मजदूर प्रतिनिधि, 2 सिख, 1 पारसी, 2 भारतीय ईसाई, 2 भारत में बसे अंग्रेज, 1 एग्लो-इंडियन और 3 स्त्रियां -- इस प्रकार कुल 44 सदस्य थे। मुसलमानों के, जो भारत की जनसख्या के चौथाई हैं, सबसे अधिक प्रतिनिधि थे। उनमें राष्ट्रवादी मुसलमान केवल एक था।

अब मैंने बहुत वर्षों से अपने को ब्रिटिश प्रजा कहना बंद कर दिया है और अब तो मैं प्रजा की अपेक्षा विद्रोही कहलाना पसंद करूंगा। लेकिन अब मेरी आकांक्षा थी और आज भी है कि मैं साम्राज्य का नहीं, बल्कि राष्ट्रमंडल का नागरिक बनूं। एक साझेदारी और यदि ईश्वर चाहे तो एक स्थायी साझेदारी हो। ऐसी साझेदारी न हो जिसमें एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर हावी रहे।" (इस भाषण से स्पष्ट हो गया था कि लाहौर कांग्रेस के स्वाधीनता प्रस्ताव के बावजूद महात्माजी ब्रिटेन से औपनिवेशिक दर्जे के आधार पर ही समझौते की कोशिश कर रहे थे।)

महात्माजी ने एस.एस. राजपूताना नामक जहाज पर पत्रकारों से जो भेंट की, उससे स्पष्ट हो गया था कि वह बहुत ही आशावादी थे। लेकिन संघीय रचना समिति की दूसरी बैठक के बाद ही, जो 17 सितम्बर को हुई थी, उनका आशावादी प्रेम टूटने लगा था। उन्हें अहसास होने लगा था कि गोलमेज सम्मेलन के सदस्य किस धातु के बने हैं। इसीलिए 17 सितम्बर को उन्होंने अपने भाषण के शुरू में ही कह दिया कि मैंने प्रतिनिधियों की सूची को अब ध्यान से देखने की कोशिश की है जो मैंने पहले नहीं की थी और इससे मुझे पहली दुखानुभूति यह हुई है कि हम लोगों को राष्ट्र ने चुनकर नहीं भेजा है जिसका प्रतिनिधित्व हमें यहां करना चाहिए था, बल्कि हमें चुना है सरकार ने। इससे और आगे यह है कि मैं देश को भिन्न-भिन्न पार्टियों और गुटों को अपने अनुभव से जानता हूं और मुझे सूची को देखने से मालूम हुआ है कि इसमें बहुत से उल्लेखनीय नाम नहीं हैं। इसलिए मुझे इस सम्मेलन के प्रतिनिधि-मंडल की रचना की अवास्तविकता के भाव से दुख पहुंचा है। अब महात्माजी ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की बातों को समझना शुरू किया। इसलिए उन्होंने उन्हीं को मात देने के इरादे से ब्रिटिश सरकार से कुछ ठोस प्रस्ताव पेश करने को कहा। इसके जवाब में सरकार ने अल्पसंख्यक समिति की बैठक बुलाकर गांधीजी को मात देने की कोशिश की, क्योंकि यह समिति ऐसा रणक्षेत्र था जिसमें भारतीय प्रतिनिधि आपस में खूब लड़ते रह सकते थे। इसी बैठक में कांग्रेस पर जो आक्षेप किए गए, उनका उत्तर देते हुए महात्माजी ने कहा कि "यद्यपि मौजूदा सरकार ने हम पर समानांतर सरकार स्थापित करने का अपमानजनक आरोप लगाया है, लेकिन मैं अपने ही ढंग से इस आरोप को सिद्ध करूंगा। यद्यपि हमने कोई समानांतर सरकार स्थापित नहीं की है[1], लेकिन हम लोग किसी-न-किसी दिन इस सरकार को हटाने की आकांक्षा रखते हैं और यथासमय इस विकास-क्रम में इस सरकार को भी अपने हाथ में लेना चाहते हैं।"

अल्पसंख्यक समिति के सामने महात्मा गांधी का पहला भाषण 8 अक्तूबर 1931 को हुआ था। उन्होंने 17 सितम्बर को जो आशंका प्रकट की थी, वह स्पष्ट होकर सामने

1 लेखक ने लाहौर कांग्रेस में 1929 में एक प्रस्ताव रखा था कि कांग्रेस का लक्ष्य एक समानांतर सरकार स्थापित करने का होना चाहिए। यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया ■ और महात्मा गांधी के सभी समर्थक इसके विरोध में थे।

आ गई; क्योंकि साम्प्रदायिक सवाल के फैसले के सारे प्रयत्न असफल हो गए थे। जब सारे सदस्य सरकार के ही चुने हुए हों तो ऐसा होने में आश्चर्य की कौन-सी बात हो सकती थी। मैंने और कुछ अन्य लोगों ने नवम्बर 1929 के नेताओं के घोषणा-पत्र के विरोध में जो घोषणा-पत्र जारी किया था, उसमें इस नतीजे का संकेत पहले ही दिया गया था। 8 अक्तूबर, 1931 को महात्माजी ने कहा, "मुझे बड़े दुख तथा अपमान के साथ यह घोषणा करनी पड रही है कि विभिन्न गुटों के प्रतिनिधियों में आपसी अनौपचारिक सलाह मशविरे और सीधी बातचीत के बाद मैं साम्प्रदायिक प्रश्न का कोई सहमत हल खोजने में पूर्णत: असफल रहा हूं .... ..। लेकिन यह कहना कि हम असफल रहे हैं और इसमें हमें शर्म आनी चाहिए, पूरी सच्चाई नहीं है। भारतीय प्रतिनिधिमडल में जिस प्रकार के व्यक्तियों को शामिल किया गया है, उसके कारण उसकी निष्फलता का बीज तो पड़ ही चुका था। हम प्राय: सभी उन पार्टियों या गुटों के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं हैं जिनका हम प्रतिनिधित्व यहां कर रहे हैं। हम यहां सरकार के नामजद व्यक्तियो की हैसियत से आए हैं। न ही वे लोग यहां मौजूद हैं जिनका एक सर्वसम्मत हल के लिए यहां होना अत्यंत आवश्यक था, और बात यह है कि अल्पसंख्यक समिति की बैठक करने का यह समय कदापि नहीं था। इस समय तो वास्तविकता का अहसास तक ही नहीं है कि आख़िर वह क्या चीज है जो हमें मिलाती है.. ... इसलिए मैं यह कहना चाहूंगा कि अल्पसंख्यक समिति को अगली सूचना तक के लिए तुरंत स्थगित कर देना चाहिए और संविधान के मूलभूत मुद्दों को जल्दी से जल्दी कुछ शक्ल देनी चाहिए .... यदि इस सम्मेलन की पूरी कोशिश के बाद भी कोई समझौता नहीं होता तो भी मैं यह सुझाव दूंगा कि अपेक्षित संविधान में एक ऐसी धारा जोड दी जाए, जिसमें एक न्यायिक अधिकरण नियुक्त किया जाएगा जो उस तरह के दावों की जांच करके सब अनिर्णित बातों पर अपना निर्णय देगा।" महात्माजी के इस भाषण को पढ़कर कोई भी यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि क्या ही अच्छा होता, यदि महात्माजी अपने साथ राष्ट्रवादी मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों के दल को साथ लेकर आते जो सरकार के चुने हुए पिट्ठुओं की चालों को निरस्त कर सकते। यह भी अफसोस की बात है कि कराची कांग्रेस के बाद दिल्ली में महात्माजी को जो चेतावनी दे दी गई थी, उसके बावजूद उन्होंने यह नहीं समझा कि अल्पसख्यक समिति का मुख्य काम ही भारतीय सदस्यों में उलझनें पैदा करना और मुख्य राजनीतिक उद्देश्यों को पलीता लगाना है। न्यायिक अधिकरण की नियुक्ति का सुझाव भी महात्माजी की एक और भारी भूल थी, क्योंकि इसकी नियुक्ति भी निश्चय ही ब्रिटिश सरकार ही करती और उससे भी उसी तरह के फैसले की पूरी संभावना थी, जैसाकि प्रधान मत्री ने साम्प्रदायिक अवार्ड के रूप में दिया। यदि उस समय महात्मा गाधी की बात ब्रिटिश सरकार मान लेती और कोई न्यायिक अधिकरण नियुक्त कर देती, तो आज महात्माजी की स्थिति भला क्या होती?

13 नवम्बर, 1931 को जब अल्पसंख्यक समिति की अगली बैठक हुई तो उससे पहले एक और दिलचस्प घटना हो चुकी थी। अल्पसंख्यक समिति यानी अल्पसंख्यकों के तथाकथित प्रतिनिधियों ने आपस में ही साम्प्रदायिक प्रश्न के हल के लिए एक पैक्ट कर लिया था जिसमें उन लोगों ने संविधान से मिलनेवाले सम्भावित लाभों का बहुत बड़ा हिस्सा अपने लिए रख लिया था। यह पैक्ट ब्रिटिश सरकार की पूरी सहमति से हुआ था और भारत से गए सम्मेलन में भाग लेने वाले ब्रिटिश सदस्यों ने इसे कराने में प्रमुख भाग लिया था। हां, सिख इस पैक्ट में शामिल नहीं थे। इस पैक्ट में शामिल होने से पहले दलित वर्ग के नामजद प्रतिनिधि डा. अम्बेडकर महात्माजी से एक समझौता यह करना चाहते थे कि सभी हिन्दुओं के लिए समान निर्वाचन के आधार पर विधान मंडलों में दलित जातियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जाएं। लेकिन उस समय महात्माजी इस तरह के समझौते के बारे में कहां सोचने वाले थे। डा. अम्बेडकर पैक्ट में शामिल हो गए, तो परिगणित जातियों के लिए केवल स्थान सुरक्षित रखने का ही नहीं, पृथक निर्वाचन का भी आश्वासन दिया गया। इस बारे में जरा भी संदेह नहीं कि यदि महात्माजी उस समय डा. अम्बेडकर के साथ समझौता कर लेते तो उसकी शर्तें सितम्बर 1932 के पूना पैक्ट की शर्तों से कहीं अधिक अच्छी होतीं जो उनके ऐतिहासिक अनशन के बाद किया गया।

13 नवम्बर, 1931 को अल्पसंख्यक समिति की बैठक में समिति के अध्यक्ष श्री रैमजे मैकडोनल्ड ने अल्पसंख्यक पैक्ट के बारे में यह दावा किया कि यह भारत के 11.5 करोड़ से भी अधिक लोगों को मान्य है। समिति की पहली बैठक में महात्माजी ने जो आपत्ति की थी, उसका भी उन्होंने जवाब दिया कि साम्प्रदायिक सवाल के हल न हो सकने के कारण संविधान निर्माण के काम में रुकावट आ रही है। अपने भाषण में महात्माजी ने इन दोनों दावों का जोरदार खंडन किया और कहा कि कांग्रेस देश के और न केवल ब्रिटिश भारत के, बल्कि समूचे भारत के 85 प्रतिशत लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। अपने उसी भाषण में महात्माजी ने एक महत्वपूर्ण बात कही : "मैं जो पहले कह चुका हूं, उसे फिर दोहराना चाहूंगा कि कांग्रेस हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों के लिए जो भी मान्य हल होगा, उसे स्वीकार कर लेगी। लेकिन वह और किसी अल्पसंख्यकों के लिए न तो विशेष आरक्षण और न विशेष निर्वाचन को स्वीकार करेगी।[1]" महात्माजी ने साम्प्रदायिक प्रश्न के बारे में अंतिम फैसला करने के लिए सरकार द्वारा न्यायिक अधिकरण नियुक्त करने पर फिर जोर दिया।

23 अक्तूबर, 1931 को महात्माजी ने संघीय रचना समिति में सर्वोच्च न्यायालय के बारे में कांग्रेस के दृष्टिकोण को उचित जोर देकर प्रस्तुत किया। उन्होंने इस बात पर

---

1 महात्माजी के इस वचन का ध्यान रखते हुए सितम्बर 1932 में पूना पैक्ट को उनकी स्वीकृति इस प्रकाश में देखी जाए, क्योंकि इसमें परिगणित जातियों के लिए सीटों का आरक्षण स्वीकार किया गया था।

जोर दिया कि संघीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार बहुत व्यापक होना चाहिये। केवल ऐसा न हो जो कि यह सिर्फ संघीय कानूनों के प्रशासन में विवाद उठे, उन्हीं पर विचार करे। उन्होने दो सर्वोच्च न्यायालय स्थापित करने का भी विरोध किया—एक केवल संघीय कानूनों के मुकदमे सुनने के लिए और दूसरा उन मामलों के लिए जो सघीय प्रशासन या संघीय सरकार से ताल्लुक न रखते हो। 17 नवम्बर, 1931 को महात्माजी ने कांग्रेस की इस मांग को रखा कि सेना और विदेशी मामलों पर देश का पूरा नियंत्रण होना चाहिए। उन्होंने कहा कि वर्तमान सेना चाहे भारतीय हो या ब्रिटिश वह भारत को अधीन करने वाली सेना ही है। "मैं पूरे जोर के साथ कहूगा कि यदि यह सेना हमारे नियंत्रण में नहीं आती तो इसको इससे पहले ही भग कर देना चाहिए, जब हम उन घोर बाधाओं के होते हुए भी, जो हमे विदेशी हुकूमत से विरासत में मिली हैं, भारत सरकार को चलाने का बोझ अपने कंधों पर लें।

"यदि ब्रिटेन के लोग यह समझते हैं कि ऐसा होने मे एक सदी लग जाएगी तो कोई बात नहीं, कांग्रेस पूरी सदी तक कांटों पर चलती रहेगी और उसे इस भयानक अग्नि-परीक्षा से गुजरना ही चाहिए और यदि आवश्यक हो और भगवान की ऐसी ही इच्छा हो तो गोलियों की बौछार मे भी गुजरना चाहिए।"

19 नवम्बर, 1931 को सघीय रचना समिति के सामने महात्मा गांधी ने पहले गोलमेज सम्मेलन द्वारा व्यापार वाणिज्य संबंध के संरक्षण संबंधी स्वीकृत प्रस्ताव का विरोध किया कि यह भारतीय लोगों के हितों की दृष्टि से हानिकारक था। वह इस बात से सहमत थे कि विदेशियो के विरुद्ध जातीय आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। उन्होने इस बात से भी सहमति प्रकट की कि जो वर्तमान हित नैतिक और उचित तरीके से प्राप्त किए गए हैं और सामान्यतः जो राष्ट्र के सर्वोच्च हितों को नुकसान नहीं पहुंचाते, उनमें हम इसी प्रकार के हितों पर लागू कानून के तहत, जो कार्रवाई हो सकेगी, उसके सिवाय और कोई दखल नहीं देंगे। लेकिन उन्होने यह स्पष्ट कर दिया कि भावी राष्ट्रवादी सरकार देश के भूखे-नंगे करोड़ों दरिद्रों के हित में अमीरों के हाथ से कुछ-न-कुछ लेना आवश्यक समझेगी। जब आवश्यक होगा, वर्तमान हितो की न्यायिक जांच-परख करायी जाएगी। लेकिन जातीय सवाल इसमे कतई नहीं उठाया जाएगा। उन्होंने यूरोपवासियों के भारत में फौजदारी अपराधों के बारे में मुकदमा चलाए जाने के वर्तमान अधिकारों[1] का विरोध किया। गोल मेज सम्मेलन में 25 नवम्बर को अपने अगले भाषण में उन्होने इस बात पर जोर दिया कि भारत की भावी राष्ट्रवादी सरकार जो देनदारियां संभालेगी, उनकी लेखा परीक्षा और जांच-पडताल की जा सकेगी।[2] उन्होने मुद्रा विनिमय

1 उदाहरण के लिए यूरोपियों पर मुकदमा केवल यूरोपीय जज या ज्यूरी ही चला सकती थी।

2 इस सबंध में उन्होंने उस सार्वजनिक ऋण संबंधी जाच समिति का उल्लेख किया, जिसे 1931 मे कराची कांग्रेस ने नियुक्त किया था।

की दर को 1 शिलिंग 6 पेंस नियत किए जाने का विरोध किया, जबकि भारत की जनता ने 1 शिलिंग 4 पेंस की मांग की थी। उन्होंने आगे कहा कि "मैं चाहूंगा कि यदि वास्तव में भारत को केन्द्र में जिम्मेदारी सभालनी है तो भारतीय वित्त व्यवस्था पर उसका पूरा नियंत्रण होना चाहिए। मेरे विचार में जब तक हमारे खजाने पर ही हमारा अबाध और पूरा-पूरा अधिकार नहीं होगा, तब तक केन्द्र में हम जिम्मेदारी उठाने को तैयार नहीं होंगे और न ही यह जिम्मेदारी किसी काम की होगी।" उसी दिन दूसरे भाषण में उन्होंने कहा कि "काफी गंभीरतापूर्वक विचार के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि प्रांतों की स्वायत्तता और केन्द्र में जिम्मेदारी साथ-साथ दी जानी चाहिए। केन्द्र पर एक विदेशी सत्ता का शासन और हुकूमत हो और साथ ही संपूर्ण स्वायत्तता (प्रांतों में)—ये दोनों चीजें परस्पर विरोधी हैं।" केन्द्र में जिम्मेदारी के बारे में उन्होंने कहा "जैसा कि आप जानते हैं, मैं केन्द्र में ऐसा उत्तरदायित्व चाहता हूं कि सेना और वित्त का नियंत्रण मेरे हाथ में हो। मैं जानता हूं कि मुझे यह सब अभी और यहीं नहीं मिलने वाला है और मैं यह भी जानता हूं कि आज एक भी अंग्रेज ऐसा नहीं है, जो इसके लिए तैयार हो। इसलिए मैं जानता हूं कि मुझे वापस जाकर अपने राष्ट्र को उत्थान के रास्ते पर चलने के लिए न्यौता देना है।"

30 नवम्बर का गोलमेज सम्मेलन के वृहद अधिवेशन में महात्मा गांधी का पहला भाषण एक अमूल्य निधि है। यद्यपि उसको पढ़ने से दुख होता है। यह उस स्थिति का परिचायक है, जब उनका भ्रम पूरी तरह दूर हो चुका था। उन्होंने इन शब्दों से अपना भाषण शुरू किया - "इस सभा में अन्य लोग किसी एक वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। केवल कांग्रेस ही यह दावा कर सकती है कि वह सारे भारत का और वहां के सभी हितों का प्रतिनिधित्व करती है और फिर भी मैं यहां देख रहा हूं कि कांग्रेस को भी एक पार्टी माना गया है मैं बहुत चाहता हूं, मैं ब्रिटेन के सभी सार्वजनिक नेताओं और ब्रिटिश मंत्रियों को यह भरोसा दिला सकता हूं कि कांग्रेस इस दायित्व को उठाने में पूरी तरह सक्षम है लेकिन आपने कांग्रेस को आमंत्रित तो किया है, पर आप कांग्रेस पर विश्वास नहीं करते। आपने भले ही कांग्रेस को बुलाया है, पर आप उसके इस दावे को नहीं मानते कि वह सारे भारत का प्रतिनिधित्व करती है।" साम्प्रदायिक प्रश्न का जिक्र करते हुए उन्होंने यह कटु सत्य कहा कि "जब तक फूट डालने वाला विदेशी शासन मौजूद है तब तक वह एक सम्प्रदाय को दूसरे से और एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग-अलग रखेगा और इन सम्प्रदायों में कभी भी मिलकर रहने लायक मित्रता नहीं हो पाएगी।" राष्ट्रीय मांग के बारे में उन्होंने कहा : "इसे आप चाहे जो नाम दीजिए, गुलाब का कोई भी नाम रख दीजिए, वह सुगंध तो देगा ही लेकिन यह गुलाब स्वाधीनता का ही होना चाहिए। मैं ऐसा ही गुलाब चाहता हूं, नकली पुष्प नहीं।" फिर अपनी स्वाधीनता की मांग को मुखरित करते हुए उन्होंने कहा, "मैं अंग्रेजों का साझेदार बनना चाहता हूं।

लेकिन मैं भी ठीक उतनी ही आजादी चाहता हूं जितनी आपके लोगों को है और मैं यह साझेदारी सिर्फ हिन्दुस्तान के लिए चाहता हूं सिर्फ आपसी फायदे के लिए नहीं।" फिर यह समझकर कि सारी अपील बेकार है, उन्होंने गुस्से में कहा: "क्या आप उस लिखे को नहीं पढ़ सकते जो ये आतंकवादी अपने खून से लिख रहे हैं?" और उन्होंने फिर कहा, "मैं बिना आशा के भी आशा करता हूं कि अपनी तरफ से अपने देश के लिए सम्मानजनक समझौता करने का भरसक प्रयत्न करूंगा...... यह मेरे लिए खुशी या संतोष का विषय नहीं होगा कि वे फिर से युद्ध करें और मैं उनका नायक बनूं। लेकिन यदि फिर से अग्नि-परीक्षा से गुजरना हमारे भाग्य में लिखा है तो मैं उसके लिए अत्यधिक उत्साह और इस संतोष के साथ उसकी तैयारी करूंगा कि मैं वही कर रहा हूं जो मैं उचित समझता हूं और देश भी वही कर रहा है जो वह ठीक समझता है।"

गोलमेज सम्मेलन के वृहद अधिवेशन की अंतिम बैठक में 1 दिसम्बर, 1931 को प्रधानमंत्री श्री रैमजे मैकडोनल्ड ने निम्नलिखित घोषणा की :

"वर्ष (1931) के शुरू में मैंने तत्कालीन सरकार की नीति की घोषणा की थी और मुझे वर्तमान सरकार ने भी आपको और भारत को निश्चित आश्वासन देने का अधिकार दिया है कि उसकी नीति वही रहेगी। मैं यहां उस घोषणा के कुछ खास वाक्यों को दोहराऊंगा :

"हिज मैजेस्टी की सरकार का यह विचार है कि भारत की सरकार की जिम्मेदारी केन्द्र और प्रांतीय विधान मंडलों पर ऐसे प्रावधानों के साथ रहे जो अंतरिम अवधि में कुछ दायित्वों को निभाने की गारंटी देने के लिए और कुछ विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए आवश्यक हो और कुछ ऐसी गारंटियों के साथ जो अल्पसंख्यकों द्वारा अपने राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक हों। इन कानूनी संरक्षणों की व्यवस्था करते समय जो संधिकाल की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक होंगे, हिज मैजेस्टी की सरकार का यह पहला जिम्मा होगा कि आरक्षित शक्तियां इस ढंग से निर्धारित की जाएं, और अमल में लाई जाएं, जिससे कि भारत नए विधान के द्वारा अपनी सरकार की पूरी जिम्मेदारी उठाए और प्रगति के मार्ग में कोई अड़चन न आने पाए। केन्द्रीय सरकार के बारे में उसने साफ बता दिया था कि परिभाषित शर्तों के अन्तर्गत हिज मैजेस्टी की पिछली सरकार कार्यपालिका का विधायिका के प्रति उत्तरदायी होने के सिद्धांत को मानने के लिए तैयार थी, बशर्ते दोनों अखिल भारतीय संघीय आधार पर निर्मित हों।

"उत्तरदायित्व का सिद्धांत इस शर्त पर आश्रित होना था कि वर्तमान परिस्थितियों में रक्षा और विदेशी मामले गवर्नर जनरल के अधीन सुरक्षित रहने चाहिए और वित्त का जहां तक सवाल है, उस पर इस तरह की शर्तें लागू रहनी चाहिए जिनसे भारत सचिव के अधिकार के अन्तर्गत दायित्वों का निर्वाह सुनिश्चित हो जाए और वित्तीय स्थायित्व और भारत का ऋण अबाध रूप से कायम रहे। अंत में हमारा यह भी मत था कि गवर्नर

जनरल को इस तरह की आवश्यक शक्तियां अवश्य प्राप्त रहें जिनसे वह अल्पसंख्यकों के वैधानिक अधिकारों को मनवाए जाने और राज्य में अवाध शांति कायम रखने की अपनी जिम्मेदारियों को पूरा कर सके।"

प्रधानमंत्री के लिए धन्यवाद का प्रस्ताव रखते हुए महात्मा गांधी ने कहा कि पूरी-पूरी संभावना है कि हम लोगों के रास्ते अलग-अलग हो गए हैं, पर मैं आशा करता हूं कि यदि संघर्ष अनिवार्य होगा तो इसे इस ढंग से संचालित किया जाएगा कि दोनों ओर से कोई कटुता न आने पाए। तीन दिन के बाद महात्माजी ने प्रधानमंत्री से विदा ली और लंदन से भारत के लिए रवाना हो गए। लंदन से प्रस्थान करने से पहले उन्होंने प्रेस को भेंट में कहा कि तुरन्त देशव्यापी अवज्ञा आंदोलन फिर से आरम्भ करने का सवाल ही नहीं उठता। लेकिन मैं ऐसी उम्मीद अवश्य करता हूं कि अन्याय और अत्याचारों की कार्रवाइयों के विरोध स्वरूप स्थानीय रूप से सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया जाएगा। उदाहरण के लिए बंगाल, संयुक्त प्रांत और सीमा प्रांत में लागू अध्यादेशों के खिलाफ।

इंग्लैंड में महात्माजी तीन महीने ठहरे और इस अवधि में वह वहां बहुत ही व्यस्त रहे। उनके नित्य की दिनचर्या को देखने से पता चलता है कि उन्होंने अपने आप पर बहुत ही बोझ डाला और कभी-कभी तो वह दो घंटे से अधिक नहीं सो पाते थे। वहां वह सब तरह के लोगों से मिलते रहे—संसद सदस्य, राजनीतिज्ञ, पत्रकार, मिशनरी, सामाजिक कार्यकर्ता, महिलाएं, साहित्यकार, कलाकार, विद्यार्थी न जाने कौन-कौन उनसे मिलने आते थे। सप्ताहांत में वह कैम्ब्रिज, आक्सफोर्ड और लंकाशायर की यात्रा करके भारत के बारे में रुचि और सहानुभूति पैदा करने का यत्न करते रहे। लेकिन ऐसा लगता है कि उनके कामों में समन्वय और लक्ष्यबद्धता नहीं थी। गोलमेज सम्मेलन के भारतीय प्रतिनिधियों को शिकायत रही कि जब वे उनसे मिलकर बातचीत करना चाहते थे तो उनका मिलना कठिन होता था। गोलमेज सम्मेलन के भारतीय उदारदलीय प्रतिनिधियों को इस बात की शिकायत रही कि वह (महात्माजी) अकेले ही सामना करने की बजाय सब साम्प्रदायिकता विरोधी शक्तियों को इकट्ठा करके संयुक्त नेशनलिस्ट पार्टी के नेता बन सकते थे।[1] इस तरह की आलोचनाओं का चाहे कुछ सार हो या न हो, इसमें जरा भी संदेह नहीं कि महात्माजी की इंग्लैण्ड यात्रा बहुत गलत ढंग से आयोजित की गई, बल्कि यह भी कहना कठिन है कि इसमें योजना नाम की कोई चीज थी भी। उनके दल में कोई भी अच्छा सलाहकार नहीं था। आखिरी क्षण तक वह अनिश्चय की स्थिति में रहे कि लंदन सम्मेलन में वह जाएंगे या नहीं। इसके कारण वह कोई योजना ही नहीं बना सके। फिर लंदन देर से पहुंचने के कारण उन्हें काफी नुकसान रहा। इसके विपरीत सरकार ने गोलमेज सम्मेलन के लिए काफी अच्छा प्रबंध किया और उनकी सारी योजनाएं बहुत

1 यह मत डाक्टर अनन्तम वा एम. स्वामी का था जिसे उन्होंने अप्रैल 1932 के 'इण्डियन रिव्यू' में प्रकाशित किया था।

ध्यान से बनाई गई थी। यह तो उन्हें लंदन जाकर ही अनुभव हुआ कि सरकार द्वारा चुने गए सदस्यों के साथ बैठने का क्या मतलब होता है और कांग्रेस वहां उपस्थित कई पार्टियों में से एक पार्टी थी और वह उसके अकेले प्रतिनिधि। आश्चर्य की बात तो यह है कि महात्मा गांधी जैसे चतुर राजनीतिज्ञ को यह अनुभूति बहुत देर से हुई यद्यपि भारत में ही उन्हें कुछ लोगों ने इस बारे में आगाह कर दिया था।

लेकिन लंदन में महात्मा गांधी की असफलता के कारण इससे कहीं गहरे थे। यदि महात्मा गांधी को गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना ही था तो 1930 में ही लेना चाहिए था। जिन शर्तों पर वे 1931 मे राजी हुए, वह 1930 में ही मिल सकती थी। औपनिवेशिक दर्जे के बारे में उन्होंने 1929 में और 1930 में आश्वासन मांगे थे। वह उन्हें 1931 में भी नहीं मिले और जहां तक गांधी-इर्विन पैक्ट में अन्य रियायतों का प्रश्न है, उनके बारे में लार्ड इर्विन के सहमत हो जाने की पूरी-पूरी संभावना थी। सन् 1930 में कांग्रेस को आसानी से सम्मेलन की आधी सीटें प्राप्त हो सकती थीं। 1931 में अकेले और मित्रों के साथ न जाने से महात्माजी को एक और घाटा रहा कि 1930 में कांग्रेस के भाग न लेने के कारण सम्मेलन की नींव साम्प्रदायिक व्यक्तियों के कारण साम्प्रदायिकता के आधार पर पड़ चुकी थी और ऐसी नींव पर खड़े नए सम्मेलन में उन्हें भाग लेना था। 1930 में इंग्लैण्ड में लेबर पार्टी के मन्त्रिमंडल और दिल्ली में लार्ड इर्विन के रहते कांग्रेस गोलमेज सम्मेलन को कुछ और ही मोड़ दे सकती थी। लेकिन 1931 मे सारी स्थिति ही बदल गई थी। लेबर पार्टी के मंत्रिमडल की जगह ऐसा मन्त्रिमंडल आ गया था जो एक तरह से कंजरवेटिव पार्टी का मंत्रिमडल ही था। लार्ड इर्विन की जगह लार्ड विलिंग्डन आ गए थे और इंडिया आफिस में कैप्टेन वैजवुड बेन का स्थान सर सैमुअल होर ने ले लिया था। आशा की अन्तिम किरण भी तब समाप्त हो गई, जब अक्तूबर मे आम चुनाव हुए और कंजरवेटिव पार्टी भारी बहुमत से सत्ता में आ गई।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बाद भी जब महात्माजी इंग्लैण्ड गए ही, तो उन्हे वहा केवल सम्मेलन के काम पर ही पूरी तरह ध्यान देना चाहिए था। ताकि वह सरकारी कुटिलताओं का अच्छी तरह मुकाबला कर सके। शायद श्री सी.एफ. एंड्रूज जैसे भारत-हितैषी अंग्रेजों के प्रभाव के कारण उन्होंने दुर्भाग्य से यह समझ लिया कि अंग्रेजो में भारत के प्रति सद्भावना पैदा करना इस समय आवश्यक है। न तो वह इस उद्देश्य से इंग्लैण्ड गए थे और न इतने थोड़े समय में और अपनी सीमित शक्ति के साथ यह कर पाना संभव था। महात्माजी वहां जिन लोगों से मिले, यदि उनकी सूची देखी जाए तो किसी को भी ऐसा ही महसूस होगा कि जिस उद्देश्य से वह इग्लैंड गए थे, उसको देखते हुए अधिकांश मेल-मुलाकातें यदि निरर्थक नहीं, तो भी अनावश्यक जरूर थीं। यदि वह आम प्रचार की यात्रा पर आते तो इस प्रकार का कार्यक्रम सचमुच बहुत सहायक और उचित होता।

महात्माजी की असफलता का एक और गहरा कारण था। इंग्लैण्ड में रहते हुए उन्हें एक साथ दो कर्तव्य निभाने थे—एक राजनीतिक नेता का और दूसरा उपदेशक का। कभी-कभी तो उन्होंने ऐसा परिचय दिया कि वह राजनीतिक नेता के रूप में अपने शत्रु से वार्ता करने के लिए नहीं आए हैं, बल्कि अहिंसा और विश्व शान्ति के एक नए धर्म का पाठ पढ़ाने के लिए एक उपदेशक बनकर आए हैं। अपने इस दूसरे रोल के कारण वह ऐसे बहुत से लोगों के साथ समय नष्ट करते रहे जिनका उनके राजनीतिक मिशन को आगे बढ़ाने में कोई उपयोग नहीं हो सकता था, चूंकि इनके साथ उनकी पार्टी का कोई सलाहकार नहीं था, इस कारण इसकी पूर्ति भी उनके कुछ अंग्रेज प्रशंसकों ने की। इंग्लैण्ड की धरती पर पैर रखने से लेकर वहां से विदा होने तक वह उन्हीं लोगों से घिरे रहे। अपनी निष्पक्षता और विश्वप्रेम का परिचय देने के लिए उन्होंने एक अंग्रेज महिला का अतिथि रहना स्वीकार किया। महात्माजी के इस व्यवहार के विपरीत आयरिश सिन फेन के प्रतिनिधि मंडल ने 1921 में लंदन में दूसरी तरह का ही व्यवहार किया। वे लोग अपने ही लोगों के बीच रहे और अंग्रेजों के साथ किसी प्रकार का सामाजिक संबंध नहीं रखा। यद्यपि उन्हें भी उनकी (अंग्रेजों) ओर खींचने का यत्न किया गया। इस तरह के अलगाव और उदासीनता ने महात्माजी के मैत्री प्रदर्शन की अपेक्षा ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को कहीं अधिक प्रभावित किया था। लेकिन जगतगुरु होने के कारण महात्माजी की तो नैतिकता ही और ढंग की थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जब 1930 में महात्माजी जेल में थे तो गोलमेज सम्मेलन पर उनका प्रभाव अधिक पड़ा था। सम्मेलन में भारतीय लिबरल राजनीतिज्ञों ने उनके प्रभाव का लाभ उठाया। लेकिन जब वह स्वयं अकेले उपस्थित हुए तो उन्होंने अपने नाम से जुड़ी बहुत सी चमक-दमक और आभा खो दी। भौतिक दृष्टि से भी उन्हें एक नुकसान था, क्योंकि वह अकेले थे और उनके विरोध में 107 लोग थे। यदि वह सरकार के कांग्रेस के प्रतिनिधिमंडल को 15-16 स्थान देने के प्रस्ताव को मान लेते तो उनकी स्थिति कहीं मजबूत होती। उनके साथी प्रतिक्रियावादियों के सशक्त गुट के साथ दो-दो हाथ करने में उनकी बहुत मदद कर सकते थे। फिर बड़ी बात यह थी कि महात्माजी सौदेबाजी के खेल के लिए बने ही नहीं थे। अतः उनकी वही स्थिति हुई जो वारसा संधि के समय अमरीका के प्रेसीडेंट विल्सन की हुई थी। अमरीका के प्रोफेसर प्रेसीडेंट जिस तरह वेल्स निवासी धाघ श्री लायड जार्ज की तुलना में कहीं नहीं ठहरते थे उसी तरह भारत के इस संत-राजनीतिज्ञ और दक्ष रैम्जे मैकडोनल्ड का भला क्या मुकाबला। ब्रिटिश सरकार ने महात्माजी का सारा प्रबन्ध बड़ी चतुराई से किया था। इंग्लैण्ड में उनका बड़ा मैत्रीपूर्ण स्वागत हुआ था और वहां से वापिस लौटने से पहले उन्होंने सार्वजनिक रूप से इसका आभार माना। लंदन में इधर-उधर जाने के लिए उन्हें विशेष सुविधाएं दी गईं। उनकी शारीरिक सुरक्षा के नाम पर स्काटलैण्ड यार्ड के दो जवान हर समय उनके अंग-

पास रहते थे। इसके कारण अधिकारियों को उनके दिन भर के कामों, मेल-मुलाकातों आदि के बारे में रत्ती-रत्ती पता लगता रहता था। किसी तरह की उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। मेरी समझ में यह नहीं आया कि महात्माजी ने स्काटलेण्ड यार्ड (ब्रिटिश गुप्तचर विभाग) के लोगों को अपना रक्षक भला क्यों स्वीकार किया। यदि रक्षक आवश्यक ही थे तो लंदन में उनके असंख्य प्रशंसक और अनुयायी आसानी से यह काम कर सकते थे।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कंजरवेटिव पार्टी के जीत कर सत्ता में आ जाने से समझौते की आशा की अंतिम किरण भी अदृश्य हो गई थी। भारत की स्थिति और भारतीय नेताओं के बारे में लेबर पार्टी की अपेक्षा उनकी परख और पकड़ बिलकुल भिन्न थी। महात्माजी की सज्जनता, स्पष्टवादिता, विनम्रता, विरोधियों के प्रति अत्यधिक उदारता ने केवल जानबुल को अप्रभावित ही नहीं रखा, बल्कि यह उनकी कमजोरी समझी गई। अपने ताश के सारे पत्ते एक बार में ही खोलकर मेज पर रख देना भारत और भारतवासियों के लिए ठीक था। लेकिन अंग्रेज राजनीतिज्ञों के बीच उनकी प्रतिष्ठा को इससे ठेस ही पहुंची। वित्त और कानून जैसे पेचीदा सवालों के बारे में अपने अज्ञान को स्वीकार करने की उनकी उदारता से ब्रिटेन की जनता पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि वह अपने नेताओं को वास्तविक से अधिक बुद्धिमान समझने के आदी थे। गोलमेज सम्मेलन में बार-बार अपना पूरा हार्दिक सहयोग देने के प्रस्ताव से उन्होंने समझ लिया कि बस गांधीजी का हौसला टूट चुका है। भला इससे इग्लैण्ड के घुटे हुए राजनीतिज्ञ पर क्या प्रभाव पड़ सकता था। "मैं यहां तब तक ठहरूंगा जब तक मेरी जरूरत होगी, क्योंकि मैं सविनय अवज्ञा आन्दोलन दुबारा शुरू नहीं करना चाहता। दिल्ली में जो युद्ध विराम हुआ है, मैं उसे स्थायी समझौते में बदलना चाहता हूं। लेकिन ईश्वर के वास्ते मुझ 62 वर्ष के कृशकाय बूढ़े को एक मौका तो दीजिए। उसके लिए और जिस संगठन का वह प्रतिनिधित्व करता है, कहीं कोने में जगह तो दीजिए।[1]" यह शब्द महात्माजी के थे। यदि इसके विपरीत महात्माजी डिक्टेटर स्तालिन या फ्यूहरर हिटलर या मुसोलिनी की भाषा बोलते तो जानबुल (इंग्लैण्ड) बड़ी अच्छी तरह समझ लेता और आदर से सिर झुकाता। जो कुछ हुआ, उसे देखकर कंजरवेटिव राजनीतिज्ञों ने सोचा कि क्या यह लंगोटी वाला पतला-दुबला आदमी इतना सबल है कि ब्रिटिश साम्राज्य को इसके आगे झुक जाना चाहिए। भारत की हुकूमत की बागडोर इस समय एक ऐसे आदमी के हाथ में थी जिसे चर्च में पादरी होना चाहिए था। इसके कारण हमें इतनी परेशानी उठानी पड़ी। यदि दिल्ली में हमारा कोई तगड़ा व्यक्ति होता और यहा इंडिया आफिस में भी वैसा ही कोई व्यक्ति होता तो सब कुछ ठीक हो जाता। बहुत कुछ इन्हीं शब्दों में अक्तूबर, 1931 के आम चुनावों के बाद भारत की स्थिति का उल्लेख किया गया और चर्च के अधिकारियों,

1. गोलमेज सम्मेलन के बृहद अधिवेशन में 30 नवम्बर, 1931 को महात्माजी का भाषण।

प्रोफेसरों और कुछ ऐसे ही लोगों में, जो प्रोपेगंडा किया गया, वह सब बेकार रहा। राजनीतिक सौदेबाजी का राज यह होता है कि आप वास्तव में जितने सशक्त हैं, आपको ऊपर से उससे अधिक सशक्त दिखना चाहिए। भारतीय राजनीतिज्ञों को यदि अपने विरोधी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से सफलता से टक्कर लेनी है तो उन्हें बहुत-सी ऐसी बातें सीखनी होंगी जो उन्हें नहीं आती और बहुत-सी भूलनी होंगी जो उन्हें आती हैं।

गोलमेज सम्मेलन में हुए महात्माजी के भाषणों और व्याख्यानों को यदि कोई पढ़े तो उसे कदम-कदम पर दुख ही होगा। शुरू से ही महात्माजी को अन्य कार्यों के मुकाबले कांग्रेस की हैसियत के बारे में काफी बोलना और बार-बार उसे दुहराना पड़ा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस की पूरी तरह उपेक्षा करने के लिए पहले से ही साजिश की जा चुकी थी। सम्मेलन में महात्माजी ने यह बात कही थी कि भिन्न-भिन्न समितियों ने जो रिपोर्टें दी हैं, उनमें तथाकथित बहुसंख्यकों के विचारों को प्रमुखता दी गई है, जबकि उनकी विमल टिप्पणी को बहुत महत्वहीन कर दिया गया, मानो यह अकेले व्यक्ति का विचार हो। लंदन पहुंचने के कुछ सप्ताह बाद महात्माजी को यह अवश्य महसूस हुआ कि स्थिति वास्तव में बड़ी निराशाजनक है। यदि उनमें थोड़ी भी राजनीतिक कूटनीतिज्ञता होती तो उन्हें सम्मेलन से जल्दी से जल्दी बाहर आने के लिए सुविधाजनक स्थिति ढूंढ लेनी चाहिए थी और फिर अमरीका और यूरोप का सघन दौरा करना चाहिए था। ताकि भारत के उद्देश्य और सम्मेलन की वास्तविकता को वहां के लोगों को अच्छी तरह समझाया जा सकता। सम्मेलन के अंत तक उसमें भाग लेते रहने से उन्होंने व्यर्थ में ही एक ऐसी संस्था को प्रतिष्ठा प्रदान कर दी जिसे विश्व जनमत के सामने नंगा किया जाना चाहिए था।

महात्माजी ने इंग्लैंड से चलकर कुछ दिन पेरिस में बिताए। वहां भी उनके कुछ ऐसे प्रशंसक और मित्र थे जो स्वाधीनता के लिए भारत की अपेक्षा संसार के लिए उनके अहिंसा के संदेश में अधिक रुचि रखते थे। पेरिस में उनके प्रवास का काफी सदुपयोग हुआ लेकिन दुर्भाग्य से वहां के राजनीतिज्ञों से या आधुनिक राजनीतिक जगत में जिन लोगों का प्रभाव माना जाता है उनसे सम्पर्क करने की कोई कोशिश नहीं की गई। न ही उन्होंने भारत के मसले को अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक मसले के रूप में उठाने का कोई यत्न किया। पेरिस से वह जेनेवा गए। वहां भी उनके कुछ मित्र थे पर वे भी उनके दर्शन में अधिक रुचि रखते थे न कि उनकी राजनीति में। यद्यपि वह जेनेवा में ठहरे लेकिन उन्हें लीग आफ नेशन्स के महत्वपूर्ण माने जाने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में लाने की जरा भी कोशिश नहीं की गई। बस वह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के कार्यालय में एक बार गए। हां, स्विट्जरलैण्ड में उनके प्रवास का सबसे अच्छा उपयोग हुआ, भारत और भारत की संस्कृति के परम मित्र और महान विचारक महापुरुष रोमां रोलां के साथ बिताए समय के कारण। अपनी सीमाओं के बाहर इस फ्रांसीसी विद्वान से बढ़कर आज भारत का कोई

सच्चा मित्र नहीं है। अतः इस महान आत्मा से मिलकर और उनके साथ कुछ समय बिता कर उन्होंने भारत के लिए एक बहुत बड़ी सार्वजनिक सेवा की। स्विट्जरलैण्ड के बाद महात्माजी इटली गए। इटली की सरकार और जनता ने गांधीजी का हार्दिक स्वागत किया और इटली के राज्याध्यक्ष मुसोलिनी ने उन्हें बुलाकर उनसे भेंट की। यह निश्चय ही एक ऐतिहासिक भेंट थी। इटली के डिक्टेटर ने महात्माजी के प्रयत्नों के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएं प्रकट कीं। यूरोप महाद्वीप की अपनी यात्रा में बस यही एक अवसर ऐसा था जिसमें महात्माजी एक ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आए जिसका आधुनिक यूरोप की राजनीति में वास्तविक महत्व है। फासिस्टों के प्रति महात्माजी के इस व्यवहार की जिसमें उनका फासिस्ट लड़कों (द बलिला) के प्रदर्शन में भाग लेना भी शामिल था, फासिस्ट विरोधी दलों ने कटु आलोचना की। लेकिन इसमें जरा भी संदेह नहीं कि भारत की दृष्टि से इटली की यात्रा करके उन्होंने बहुत बड़ी जनसेवा की। बस अफसोस इसी बात का है कि वह वहां अधिक देर नहीं ठहरे और न अधिक सम्पर्क कायम किए।

महात्माजी की यूरोप यात्रा की यदि समीक्षा की जाए तो यह कहना होगा कि अफसोस की बात यही रही कि उन्होंने इंग्लैण्ड में बहुत अधिक और यूरोप में बहुत कम समय व्यतीत किया। यूरोप महाद्वीप पर उन्होंने राजनीतिज्ञों, उद्योगपतियों और अन्य ऐसे लोगों से मिलने में काफी समय खर्च नहीं किया जिनका आधुनिक राजनीति में बोलबाला है। महाद्वीप में ऐसे बहुत से देश थे जो उत्सुकता से उनके आगमन की आशा कर रहे थे और वहां उनका सच्चे हृदय से स्वागत होता। यदि वह चाहते तो बिना कठिनाई के वह यूरोप के महत्वपूर्ण व्यक्तियों और संगठनों से संपर्क कर सकते थे जिसका भारत को बहुत लाभ होता। लेकिन ऐसा लगता है कि इसमें उनकी अधिक रुचि नहीं थी। भारत के बाहर उन्हें राजनीतिज्ञ के अलावा एक और भूमिका अदा करनी थी और एक ही व्यक्ति के लिए दो भूमिकाएं अदा करना हमेशा आसान नहीं होता।

अध्याय 13

संघर्ष फिर छिड़ा (1932)

महात्माजी का सबसे नीचे के दर्जे में यात्रा करने का नियम था। इसी के अनुसार वह एस.एस. पिलस्ना नामक जहाज के डेक यात्री की हैसियत से 28 दिसम्बर, 1931 को बम्बई आकर उतरे। बम्बई कांग्रेस समिति ने उनकी शाही आवभगत करने के लिए बड़े शानदार प्रबंध कर रखे थे। अच्छा हुआ कि महात्माजी को लंदन सम्मेलन में भारत के लिए कुछ भी हासिल करने में जो असफलता मिली उसका कांग्रेस में प्रोपेगैंडा के कारण कोई निराशाजनक प्रभाव नहीं पड़ा। जिस प्यार और सहृदयता के साथ महात्माजी का स्वागत किया गया उससे तो हरेक को यही लगता मानो महात्माजी अपनी मुट्ठी में स्वराज लेकर लौटे हों। उसी शाम को दो लाख जनसमुदाय के सामने आजाद मैदान में उन्होंने भाषण किया। लाउड स्पीकरों की सहायता से भारी भीड़ उनका भाषण सुन सकी। खैर, सभाओं और जलसों के बाद महात्माजी अपने काम में लग गए। देश के भिन्न-भिन्न भागों से जो रिपोर्ट मिली थी उन्हें गांधीजी के सामने बाकायदा रखा गया। जल्दी ही यह बात स्पष्ट हो गई कि अब स्थिति उस समय की अपेक्षा कहीं बदली हुई थी जब वह अगस्त में बम्बई से इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुए थे। ऐसा लगता था कि मानो सरकार इस बात के इंतजार में थी कि कब महात्माजी बम्बई से प्रस्थान करें और वह अपना बर्बर दमन शुरू करे। चूंकि तब दिल्ली पैक्ट के दोनों ही कर्ता भारत में नहीं थे इसलिए सरकार इस दस्तावेज को एक रद्दी के टुकड़े की तरह उपेक्षा कर सकती थी।

आइए, संक्षेप में 1931 की उन घटनाओं का फिर से स्मरण करें जिनके कारण वर्ष के अंत में ऐसा संकट पैदा हो गया कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को दुबारा शुरू करने को मजबूर होना पड़ा। कराची कांग्रेस के बाद युवक और मजदूर वर्गों ने दिल्ली पैक्ट की निंदा करना जारी रखा था। संयुक्त प्रान्त की नौजवान भारत सभा के प्रान्तीय सम्मेलन ने जो मई में मथुरा में हुआ था और जिसका सभापतित्व मैंने ही किया था, इस पैक्ट को अस्वीकार करने का प्रस्ताव पास किया था। इसी प्रकार मेरी अध्यक्षता में कलकत्ता में जुलाई में अ.भा. ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था और उसमें भी इसी प्रकार का प्रस्ताव पास किया गया। दक्षिणपंथी मजदूर संघ (ट्रेड यूनियन) इस बीच अलग हो गया लेकिन सबने कांग्रेस में भाग लिया था।

शुरू से ही अधिकार या परिचयपत्र के सवाल पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। 1929 में नागपुर में जो ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था उसमें उन ट्रेड यूनियनों

में फूट पड़ गई थी जो सामान्यतः कम्युनिस्ट समझे जाते थे। श्री एम.एन. राय को जो पहले अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन (कम्युनिस्ट इटरनेशनल) में भारत के प्रतिनिधि थे, इस संस्था से निकाल दिया गया था। इस घटना के बाद मेरठ षड्यंत्र केस के बंदियों में और बम्बई में उनके अनुयायियों में भी फूट पड़ गई। एक गुट अधिकृत कम्युनिस्ट पार्टी के साथ चलने वाला कहा जाता था दूसरा श्री एम.एन. राय के साथ था। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन में, जिस पर पहले दोनों गुटों का मिला-जुला नियंत्रण था, यह फूट सामने आई और ट्रेड यूनियन कांग्रेस की परिचय समिति ने यह रिपोर्ट दी कि चूंकि एम.एन. राय गुट का यूनियन पर अधिकार है अतः उसे ही ट्रेड यूनियन कांग्रेस में प्रतिनिधित्व करने का हक है। इसे दूसरे गुट ने नहीं माना और उन्होंने वैधानिक रुकावटें डालनी शुरू कीं और अंत मे अध्यक्ष के विरुद्ध हो अविश्वास प्रस्ताव पेश कर दिया। यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका। इस पर राय-विरोधी गुट बहुत शोर मचा कर और उपद्रव कर बाहर चला गया। फिर उन लोगों ने अलग से एक 'रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस'[1] स्थापित कर ली। इस गुट के बाहर हो जाने पर भी ट्रेड यूनियन कांग्रेस अपना कार्य करती रही। इसने किसी भी अंतर्राष्ट्रीय संगठन से अपना नाता न जोड़ने का लेकिन भारतीय कामगारों के हकों के लिए बिना बाहरी सहायता के ही सतत संघर्ष करते रहने का फैसला किया। नागपुर टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन के अध्यक्ष श्री रूईकर अगले साल के लिए अध्यक्ष और कलकत्ता के श्री एस. मुकुन्दलाल मंत्री चुने गए। ट्रेड यूनियन अर्थात मजदूर आन्दोलन के नेता आपसी फूट होने के बावजूद, दक्षिणपंथियों को छोड़कर अन्य सब दिल्ली पैक्ट के खिलाफ थे। पैक्ट से मजदूरों या कामगारों को कोई फायदा नहीं था, उसमें इस तरह का कोई खंड या धारा नहीं रखी गई थी। पैक्ट में न तो विचाराधीन कैदियों के लिए और न ही उद्योगों की हड़तालों के लिए जिन मजदूर कार्यकर्ताओं की सजाएं हुई थीं उनकी माफी की कोई व्यवस्था थी। हां, दो दक्षिणपंथी नेताओं, श्री वी.वी. गिरि और श्री शिव राव को सरकार ने गोलमेज सम्मेलन के लिए अवश्य नामजद कर दिया था।

ट्रेड यूनियन के नेता तो दिल्ली पैक्ट का बस मौखिक विरोध ही कर रहे थे, लेकिन बंगाल के क्रांतिकारी सरकार की दमन-नीति से तंग थे और उनके इस विक्षोभ ने बंगाल में गम्भीर संकट पैदा कर दिया था। अप्रैल 1930 में चटगांव के शस्त्रागार पर हमला निश्चय ही बड़ी आक्रामक कारवाई थी लेकिन फिर भी यह इस प्रकार की अकेली कार्रवाई ही थी। अगस्त 1930 को पूर्वी बंगाल के मुख्य नगर ढाका में पुलिस की गुप्तचर शाखा के प्रधान श्री लोमैन को गम्भीर रूप से घायल कर दिया गया था। लेकिन उससे पहले ढाका और मैमन सिंह जिले में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए थे जिसमें पुलिस का रवैया बहुत आपत्तिजनक रहा था। इससे भी बढ़कर बात यह थी कि ढाका पुलिस ने विदेशी

1 शुरू से रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने खास काम नहीं किया। कभी-कभी इसका कुछ काम बम्बई, कलकत्ता के शहरों में ही दिखाई दिया है।

कपड़े और शराब की दुकानों पर शांतिपूर्ण पिकेटिंग करने वाले तथा दूसरे अहिंसक कार्य करने वाले सत्याग्रहियों के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार किया था। 1930 के अंत में बंगाल के जेल विभाग के इन्स्पेक्टर जनरल ले. कर्नल सिम्पसन की कलकत्ता के सरकारी सचिवालय में उनके कार्यालय में ही हत्या कर दी गई थी। लेकिन उससे पहले ही बंगाल की जेल में राजनीतिक कैदियों के साथ अकथनीय दुर्व्यवहार किए गए थे और इस बारे में जो भी शिकायतें की गईं और सुधार के लिए जो अपीलें की गईं उनका कोई असर नहीं हुआ था। 1931 में मिदनापुर के मजिस्ट्रेट मि. पेडी और उनके बाद आने वाले दो मजिस्ट्रेटों की हत्या उन अमानुषिक अत्याचारों का परिणाम थी जो जेल में अहिंसक करबंदी आंदोलन को दबाने के लिए सरकारी सेना और पुलिस आदि ने जनता पर किए। कलकत्ता की जनता ने निष्पक्ष और अधिकांश नरम (माडरेट) लोगों की एक समिति जिले में सरकार के कुछ अत्याचारों की जांच करने और उन पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त की। समिति की रिपोर्ट विधिवत प्रकाशित हुई और सरकार के पास भेजी गई। फिर भी शिकायतों को दूर करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया। तभी हताशा और गुस्से में आकर लोगों ने बदला लेने के लिए आतंकवाद का सहारा लिया।

आतंकवाद की इन कार्रवाइयों से सरकार का रुख और कठोर हो गया और उसने और अधिक दमनकारी घूट जनता को पिलाया। इन सारी खेदजनक परिस्थिति को समाप्त करने का मार्च 1932 में दिल्ली पैक्ट के समय स्वर्णिम अवसर आया। लेकिन सरकार ने एक नया अध्याय शुरू करने के बजाय उन्हीं काली करतूतों की नकल की जो वह आयरलैंड में आजमा चुकी थी। जून और अक्तूबर 1931 के बीच तीन घटनाएँ लगातार चटगांव, कलकत्ता से 70 मील दूर हिजली नजरबंदी कैम्प और ढाका में हुईं। चटगांव में एक भारतीय पुलिस अफसर को मार डाला गया। अगले दिन सुबह से ही गुंडों और बदमाशों को खुला छोड़ दिया गया और उन्होंने दिन-दहाड़े सारे शहर में खूब लूटमार की तथा पुलिस खड़ी देखती रही। इसके पीछे चटगांव के लोगों को अच्छा सबक सिखाने की भावना थी। कलकत्ता की जनता ने इस घटना की जांच के लिए अपनी तरफ से एक जांच समिति नियुक्त की जो इस नतीजे पर पहुंची कि कुछ स्थानीय अधिकारियों का व्यवहार आपत्तिजनक था। स्व. श्री जे.एम. सेनगुप्त ने कलकत्ता में एक आमसभा में यह आरोप लगाया। डिवीजन के कमिश्नर की रिपोर्ट पर कुछ अफसरों के खिलाफ काफी समय के बाद कुछ कार्रवाई की गई। हिजली कैम्प में नजरबंदियों और सशस्त्र गार्डों के बीच किसी बात पर कुछ गलतफहमी हो गई थी। इसके बाद अचानक एक रात को सशस्त्र गार्डों ने नजरबंदियों की बैरकों पर अंधाधुंध गोली चलानी शुरू कर दी और नजरबंदियों को राइफलों के कुंदों से खूब मारा। फायरिंग में दो नजरबंदी सन्तोष मित्र और तारकेश्वर सेन मारे गए और 20 गम्भीर रूप से घायल हुए। सरकार ने एक हाईकोर्ट जज समेत एक समिति नियुक्त की जिसने घटना की खुली जांच की। इस जांच के बाद समिति ने यह परिणाम निकाला कि गोली चलाना सरासर अनुचित और अन्यायपूर्ण था। ढाका में

जिला मजिस्ट्रेट की हत्या करने का असफल प्रयत्न किया गया। उसी रात पुलिस की चार टुकड़ियों को चार दिशाओं में भेजा गया जहां उन्होंने इज्जतदार नागरिकों के घरों में घुस-घुसकर उन्हें मारा-पीटा, फर्नीचर आदि तोड दिया और जो कीमती चीज हाथ लगी उसे लूटकर ले गए। साथ ही उन्होंने अधाधुंध गिरफ्तारियां कीं। कलकत्ता की जनता ने फिर एक जांच समिति वहां भेजी,[1] जिसने पूरी जांच पड़ताल करके उन सब कार्रवाइयों की पुष्टि की।

नवम्बर में सरकार ने एक और अध्यादेश जारी किया जिसके द्वारा चटगाव जिले में एक प्रकार का प्रच्छन्न मार्शल ला लागू कर दिया गया। इस अध्यादेश के अधीन लोगों पर उसी तरह के कष्ट और सजाएं थोप दी गईं जैसी कि मार्शल ला के अधीन अपेक्षित है। कर्फ्यू लगा दिया गया, लोगों को पहचान पत्र लेकर निकलना पड़ता था, युवकों के साइकिल पर निकलने पर पाबंदी लगा दी गई, जिन लोगों पर राजनीतिक कार्य करने का संदेह था उन्हे हफ्तों तक घर से न निकलने के आदेश दिये गये, जिन गांवों में क्रांतिकारियों के आने-जाने का शक था उन पर सामूहिक जुर्माने किए गए। सैनिक गांव-गाव में मार्च करते हुए गए और लोगों को उनकी मर्जी के खिलाफ सैनिकों का स्वागत करने पर मजबूर किया गया। इस तरह के बहुत से आदेश मिदनापुर और ढाका जिलों में भी जारी किए गए। दमन की यह दुहरी खुराक लोगों के गले के नीचे उतारी जा रही थी लेकिन उन अफसरों के खिलाफ कोई कदम नहीं उठाया गया जो चटगाव, हिजली और ढाका की घटनाओं के लिए जिम्मेदार थे, न ही पीडितों को किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति या राहत दी गई। इस उथल-पुथल और क्षोभ को इस बात ने और बढ़ाया कि विराम-संधि के दिनों में भी कुछ क्रांतिकारी कैदियों को फांसी की सजा सुनाई गई और फांसी दे भी दी गई। इस तरह सरकारी दमन चक्र, क्रातिकारी आतंकवाद और फिर अधिक दमन और अधिक आतंकवाद का चक्र[2] चलता रहा। एक और पेचीदगी तब पैदा हुई जब कलकत्ता नगर निगम ने एक क्रांतिकारी बदी दिनेश सिह गुप्ता को फासी दिए जाने पर शोक का प्रस्ताव[3] पास किया। इस उथल-पुथल के बीच बगाल कांग्रेस की स्थिति बडी दुविधापूर्ण थी। सिद्धांत रूप से तो सरकार और जनता के बीच शांति थी लेकिन दोनो ओर से ही हमले हो रहे थे और संबंध बिगडते जा रहे थे। इसी स्थिति पर विचार करने के लिए दिसम्बर में बरहामपुर में बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। सम्मेलन ने प्रस्ताव स्वीकार किया कि सरकार ने व्यावहारिक रूप से दिल्ली पैक्ट का उल्लंघन किया है और कांग्रेस को चाहिए कि वह सरकार को पहले बाकायदा

1 मैं भी इस समिति का सदस्य था लेकिन जब मैं ढाका के पास पहुचा तो पुलिस अफसर मुझे जबरदस्ती उठाकर जिले की सीमा से बाहर ले गए। पर ज्यों ही मुझे छोडा गया मैं फिर ढाका की ओर चल दिया। फिर मुझे जेल में डाल दिया गया। बाद में मुझे छोड दिया गया और उसके बाद मैंने जांच का काम किया।

2 दिसम्बर 1931 में दो स्कूली छात्राओं शांति और सुनीति ने मिल कर मैजिस्ट्रेट को गोली से उडा दिया।

3 सरकार और सब अंग्रेजों ने इस प्रस्ताव को बहुत नापसद किया।

नोटिस देकर सविनय अवज्ञा आदोलन को फिर से शुरू कर दे और ब्रिटिश माल के बहिष्कार पर जोर दिया जाए। ऐसी आशा की गई थी कि अवज्ञा आदोलन के दुबारा शुरू होने से युवको की शक्ति उधर लग जाएगी और इससे प्रात मे आतकवाद का जो दौर चला हुआ है उसे रोकने में मदद मिलेगी।

लेकिन मुसीबत अकेले बगाल मे ही नहीं थी। महात्मा गाधी की अनुपस्थिति में उ प सीमा प्रात और सयुक्त प्रात में भी सकट उठ खडा हुआ था। सरकार को यह शिकायत थी कि खान अब्दुल गफ्फार खा का लालकुर्ती दल[1] सरकार विरोधी कार्रवाइयों में लगा हुआ है जबकि सच्चाई यह थी कि वे लोग पूरी तरह अहिंसा का पालन कर रहे थे। इस शिकायत के बारे में सरकार ने काग्रस के मुख्य कार्यालय को कोई नोटिस नहीं भेजा। अचानक लालकुर्ती दल सगठन को गैर कानूनी करार देने का आर्डिनेंस जारी कर दिया गया। इसके साथ ही खान अब्दुल गफ्फार खा अर्थात फ्रटियर गाधी, उनके भाई और अन्य नेताओं को पकड लिया गया और दूर-दराज की जेलों में डाल दिया गया। लालकुर्ती दल के कई सौ स्वयसेवक तो फौरन ही गिरफ्तार कर लिए गए और चद महीनों में गिरफ्तारियों की सख्या हजारो में पहुच गई। इसके बाद दूर-दूर तक गाव-गाव मे सैनिक भेजकर लोगों को आतकित करके लालकुर्ती दल को खत्म करने की कोशिश की गई।

सयुक्त प्रात में कुछ दिनों पहले से भारी आर्थिक सकट चल रहा था। नवम्बर 1930 में प्रसिद्ध समाजवादी लेखक और एक पूर्णत निष्पक्ष पर्यवेक्षक श्री एच एन ब्रेल्सफोर्ड ने कलकत्ता मे मुझे बताया था कि सयुक्त प्रात मे हालात ऐसे थे कि कभी भी किसान क्रातिकारी हो सकते थे। करीब इसी समय काग्रेस ने इस प्रात मे लगानबदी आदोलन शुरू कर दिया। जब दिल्ली पैक्ट के बाद शाति हो गई और लगानबदी आदोलन स्थगित कर दिया गया तो भी किसानो की स्थिति मे कोई अतर नहीं पडा। वे वैसे ही रहे जैसे 1930 मे थे और लगान अदा करने की स्थिति में नहीं थे। मई मे महात्माजी ने इस मामले में पडकर फैसला कराने की कोशिश की और उनको 50 प्रतिशत लगान अदा करने की सलाह दी। लेकिन वे तो उतना भी नहीं दे सकते थे। इसके बाद सरकार ने लगान में कुछ माफी दे दी और कहा कि बस इतना ही काफी है। लेकिन किसानों का मत कुछ और ही था और उनकी तरफ से प्रान्तीय काग्रेस समिति ने सरकार के साथ बातचीत करने की कोशिश की। नवम्बर में मामला सकट की स्थिति में पहुच गया। सरकार ने माग की कि वार्ता होने तक किसानों को लगान अदा कर देना चाहिए। उधर किसानों की माग थी कि वार्ता होने तक लगान की वसूली रोक दी जाय। इस अवस्था में प्रान्तीय काग्रेस समिति ने काग्रेस अध्यक्ष सरदार पटेल और महात्मा गाधी से सलाह मागी। महात्माजी

1 इस सगठन का यह नाम इस कारण था कि इनकी वर्दी लाल रग की होती थी। ये लोग काग्रस के स्वयसेवक थे और इनका कम्युनिस्ट पार्टी से कोई वास्ता नहीं था।

इस समय यूरोप में थे। महात्माजी ने मामले को कांग्रेस समिति पर छोड़ दिया कि वह जैसा ठीक समझे, फैसला करें। इस पर संयुक्त प्रान्त की किसान लीग ने मामला अपने हाथ में लिया और कांग्रेस समिति को सूचित कर दिया कि यदि उसने लगानबंदी आंदोलन दुबारा नहीं शुरू किया तो किसान लीग खुद यह आंदोलन चलाएगी। प्रांतीय कांग्रेस समिति ने जब यह देखा कि जनता पर उसका प्रभाव खत्म होने की आशंका है तो उसने लगानबंदी आंदोलन शुरू करने का फैसला किया। तुरंत ही आंदोलन शुरू हो गया और उधर सरकार ने इसे दबाने के लिए एक ऑर्डिनेन्स जारी किया। इस ऑर्डिनेंस के अधीन बहुत-सी गिरफ्तारियां की गईं और जब मध्य दिसम्बर के करीब पं. जवाहरलाल नेहरू और श्री शेरवानी महात्माजी को लंदन से वापसी पर स्वागत की तैयारियां करने के लिए इलाहाबाद से बम्बई जा रहे थे तो उन्हें रेलगाड़ी में ही गिरफ्तार कर लिया गया।

जैसा कि इस अध्याय के शुरू मे ही कहा जा चुका है कि 28 दिसम्बर 1931 को बम्बई नगर भारत के प्रिय नेता के स्वागत की पूरी तैयारी में था। किसी भी राजा या विजयी जनरल का इतना शानदार स्वागत कभी नहीं हुआ होगा। इस समय डा. अम्बेडकर के कुछ अनुयायियों ने और थोडे से स्थानीय कम्युनिस्टो ने विरोध प्रदर्शन करने की कोशिश की लेकिन वह इतना छोटा था कि उसके होने से यह बात और उभरकर सामने आई कि महात्माजी का जन साधारण पर कितना प्रभाव है। अगले ही दिन कांग्रेस कार्य समिति की बैठक हुई और उसमें महात्माजी को वाइसराय से भेंट [1] करने के लिए पत्र लिखने का अधिकार दिया। तदनुसार उन्होंने यह तार वाइसराय को दिया :

"मैं कल यहां जहाज से उतरने पर सीमा प्रांत और संयुक्त प्रांत के अध्यादेशों (ऑर्डिनेन्स), सीमा प्रांत में गोली चलने और दोनों अध्यादेशों के अधीन अपने योग्य साथियों की गिरफ्तारी और बंगाल ऑर्डिनेन्स की खबरों के लिए तैयार नहीं था। मैं नहीं कह सकता कि मैं इन्हें मैत्री संबंधों की समाप्ति का सकेत समझूं या आप अभी भी इस बात की अपेक्षा करते हैं कि मैं आपसे मिलकर मार्गदर्शन प्राप्त करूं कि कांग्रेस को सलाह देने के बारे में मुझे क्या रास्ता अख्तियार करना चाहिए।"

वाइसराय ने 31 दिसम्बर को इसका लम्बा उत्तर भेजा और अंत में कहा : "हिज एक्सीलेंसी यह बताने पर बाध्य है कि वह आपके साथ ऐसे किसी भी कदम के बारे में बातचीत करने को तैयार नहीं होंगे जो हिज मैजेस्टी की सरकार की पूरी-पूरी अनुमति के साथ भारत सरकार ने बंगाल, संयुक्त प्रात और पश्चिमी सीमा प्रात में उठाए हैं।"

इस तार के पाते ही अगले दिन कांग्रेस कार्यसमिति की 1 जनवरी, 1932 को बैठक हुई और उसमें यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया :

1 मुझे भी कार्यसमिति की इस बैठक मे आमंत्रित किया गया था। मैंने यह विचार प्रकट किया कि इन हालात में महात्माजी के लिए भेंट करने के लिए लिखना अपमानजनक होगा। लेकिन अन्य सब लोग ऐसा नहीं सोचते थे।

"......यह समिति प्रधान मंत्री की घोषणा को पूर्णतः असंतोषजनक और अपर्याप्त समझती है और कांग्रेस की मांगों की शर्तों के अनुसार यह विचार व्यक्त करती है कि राष्ट्र के हित में जो संरक्षण प्रत्यक्षतः आवश्यक हो उसके साथ रक्षा, विदेशी मामलों और वित्त सहित सारे विषयों पर नियंत्रण के साथ पूर्ण स्वाधीनता से कम किसी चीज को भी कांग्रेस संतोषजनक नहीं मानेगी। समिति ने देखा है कि गोलमेज सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को, जैसा कि उसे राष्ट्र की ओर से बोलने का अधिकार है, वैसा मानने को तैयार नहीं थी। साथ ही समिति यह भी अफसोस के साथ स्वीकार करती है कि उक्त सम्मेलन में साम्प्रदायिक सद्भाव प्राप्त नहीं हो सका। अतः समिति राष्ट्र को इस बात के लिए आमंत्रित करती है कि वह कांग्रेस को समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता को प्रदर्शित करने के लिए सतत प्रयत्न करे और ऐसा वातावरण बनाने का यत्न करे जिसमें विशुद्ध राष्ट्रीय आधार पर बनाया गया संविधान राष्ट्र में शामिल सभी सम्प्रदायों को स्वीकार्य हो। साथ ही समिति सरकार के साथ इन शर्तों पर सहयोग करने को भी तैयार है कि वाइसराय महात्माजी को वृहस्पतिवार को भेजे गए अपने तार पर फिर से विचार करें, आर्डिनेन्सों (अध्यादेशों) और हाल के अपने कामों के लिए उचित राहत दें, पूर्ण स्वतंत्रता के कांग्रेस के दावे को कार्यान्वित करने के लिए जो भी बातचीत और परामर्श हो उसके लिए कांग्रेस को पूरी छूट रहे और जब तक स्वतंत्रता न मिले तब तक देश का शासन लोकप्रिय प्रतिनिधियों के जरिये चलाया जाय।

"सरकार की ओर से ऊपर के अनुच्छेद की शर्तों के अनुसार संतोषजनक प्रतिक्रिया न होने की अवस्था में कार्य समिति इसे सरकार की ओर से इसका संकेत मान लेगी कि उसने दिल्ली पैक्ट को शून्य कर दिया है।

"कोई संतोषजनक प्रतिक्रिया न होने की अवस्था में समिति राष्ट्र का आह्वान करती है कि वह सविनय अवज्ञा फिर से शुरू कर दे।"

उसी दिन महात्माजी ने वाइसराय को लम्बा उत्तर भेजा जिसमें उनसे उनके निर्णय पर दुबारा विचार करने और विचार विमर्श के बारे में बिना कोई शर्त लगाए भेंट की मंजूरी देने को कहा था। उन्होंने पत्र के साथ कार्य समिति के प्रस्ताव की प्रति भी नत्थी की थी और यह भी जोड़ दिया था. "यदि हिज एक्सेलेंसी मुझसे मिलना ठीक समझते हैं तो इस प्रस्ताव पर अमल हमारी बातचीत होने तक रोक दिया जायगा, इस आशा से कि बातचीत का नतीजा ऐसा होगा कि इसे हमेशा के लिए ही छोड़ दिया जाएगा।"

2 जनवरी, 1932 को वाइसराय ने महात्माजी को सूचित किया कि सविनय अवज्ञा को धमकी के रहते भेंट का प्रश्न ही नहीं उठता। महात्माजी ने यह उत्तर दिया : "..... ईमानदारी से अपने विचार की अभिव्यक्ति को धमकी की संज्ञा देना निश्चय ही गलत है। क्या मैं सरकार को याद दिला सकता हूं कि दिल्ली वार्ता उस समय शुरू की गई और चलायी जाती रही जब सविनय अवज्ञा जारी थी और जब यह पैक्ट हो भी गया

तब भी उसे समाप्त नहीं किया गया था। हिज एक्सीलेंसी और उनकी सरकार ने मेरे लंदन रवाना होने से पहले स्वीकार भी कर लिया था। ...... साथ ही मैं सरकार को यकीन दिलाना चाहता हूं कि कांग्रेस की ओर से इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की जाएगी कि सारा संघर्ष बिना किसी कटुता के और कड़े अहिंसक रूप में ही चलाया जाए .....।''

बस यहीं आकर सारी बातचीत खत्म हो गई। 4 जनवरी को भारत सरकार ने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उसने अपने रवैये और आचरण को उचित ठहराया था। साथ ही देश भर में स्थानीय अधिकारियों को तुरंत कांग्रेस संगठनों पर वार करने के भी आदेश जारी कर दिए गए। भारत सरकार ने विराम संधि की अवधि में बड़े ध्यान से जो अध्यादेश तैयार किये थे उन पर तत्काल अमल शुरू कर दिया। जिन-जिन कांग्रेस नेताओं को गिरफ्तार किया जाना था उनकी सूचियां पहले ही बना ली गई थीं। सविनय अवज्ञा आंदोलन आरम्भ करने का समय देने से पहले ही धुआंधार गिरफ्तारियां कर ली गई। एक सप्ताह के भीतर ही ऐसा हर व्यक्ति जिसका कांग्रेस से कुछ भी लेना-देना था, जेल में ठूंस दिया गया। फिर भी आंदोलन की शक्ल और ताकत बढ़ने लगी यद्यपि केन्द्र या मुख्यालय से कोई आदेश नहीं दिया जा सका था। सरकारी आंकड़ों के अनुसार जनवरी में 14,800 और फरवरी में 17,800 गिरफ्तारियां की गई थीं। जल्दी ही सरकार ने महसूस किया कि यदि वह इस तेजी से गिरफ्तारियां करती रही तो कैदियों की इतनी भारी सेना को संभालना मुश्किल होगा। मार्च में सरकार ने अपनी चालें बदल दीं और गिरफ्तार करने की बजाए कांग्रेसजनों और उनके प्रदर्शनों के खिलाफ ताकत को इस्तेमाल किया जाने लगा। अध्यादेशों के अधीन भारत भर में स्थानीय अधिकारियों ने अन्य कदमों के अलावा ये कदम तो अवश्य ही उठाए। सभाओं और जुलूसों पर पाबंदी के आदेश जारी किए गए, कांग्रेस संगठन गैर कानूनी करार दे दिए गए और कांग्रेस के कार्यालयों को कब्जे में ले लिया गया। कांग्रेस के कोष को जब्त कर लिया गया। लोगों को हुक्म जारी किए गए कि वे किसी तरह कांग्रेस की मदद न करें, न कांग्रेस स्वयंसेवकों को शरण दें वर्ना सजा दी जाएगी, जमीन और जायदाद को लगान न देने पर जब्त कर लिया गया, राष्ट्रीय साहित्य पर प्रतिबंध लगा दिया गया, राष्ट्रवादी समाचार पत्रों को बंद कर दिया गया, दुकानदारों को हुक्म दिया गया कि वे कांग्रेस की अपील पर दुकानें बंद न करें। कांग्रेस के प्रदर्शनों और जुलूसों को तितर-बितर करने के लिए लाठी चार्ज और फायरिंग भी की गई।

इन सब पाबंदियों और प्रतिबंधों के होते हुए भी अवज्ञा आंदोलन पूरे जोर से चला। कांग्रेस की ओर से किए जाने वाले कुछ काम इस प्रकार होते थे· सरकारी प्रतिबंध के बावजूद सभाएं और सम्मेलन करना, पुलिस के आदेशों के खिलाफ जुलूस निकालना, विदेशी शराब और कपड़े की दुकानों पर पिकेटिंग करना, ब्रिटिश माल, बैंकों, बीमा कम्पनियां इत्यादि पर पिकेटिंग करना, अनधिकृत रूप से बुलेटिन और समाचार पत्र आदि

प्रकाशित करना, सार्वजनिक रूप से राष्ट्रीय झंडे को फहराना और सरकारी इमारतों पर इसे फहराना, नमक बनाना, सरकार द्वारा जब्त इमारतों पर फिर से कब्जे की कोशिश करना, लगान और अन्य कर न देना। इन कार्यक्रमों के अलावा कार्य समिति और कांग्रेस अध्यक्ष के आदेश से साल के पहले छह महीनों में कई विशेष अभियान भी देश भर में चलाए गए। 6 से 13 अप्रैल तक, 1919 के जलियांवाला बाग के हत्याकांड की स्मृति में राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया। इसके बाद पुलिस की बेहद कड़ी पाबंदियों के बावजूद दिल्ली में 24 अप्रैल को कांग्रेस का 47वां अधिवेशन किया गया। दिल्ली कांग्रेस के बाद सारे देश में पुलिस की पाबंदियों के बावजूद प्रांतीय, जिला और तहसील स्तर के राजनैतिक सम्मेलन किए गए। 15 मई को पेशावर के नरसंहार दिवस पर हमले की कोशिश की गई। स्वदेशी आंदोलन[1] को प्रोत्साहन देने के लिए 25 मई को अ.भा. स्वदेशी दिवस मनाया गया और राजनैतिक बंदियों के साथ सहानुभूति प्रकट करने के लिए 4 जुलाई को अ.भा. बंदी दिवस मनाया गया। 6 अप्रैल को राष्ट्रीय सप्ताह समारोह के सिलसिले में इलाहाबाद में कांग्रेस की ओर से जो जुलूस निकाला जा रहा था और जिसका नेतृत्व पं. मोतीलाल नेहरू की वृद्धा विधवा कर रही थीं उसे पुलिस ने जबरन तितर-बितर करने की कोशिश की। पुलिस की मार से जो गम्भीर रूप से घायल हुए उनमें श्रीमती मोतीलाल नेहरू भी थीं। इस घटना से देश भर में रोष और घृणा की लहर दौड़ गई।[2] दिल्ली कांग्रेस की योजना बहुत सोच-विचार कर बनाई गई थी। यद्यपि इसके मनोनीत अध्यक्ष पं. मदनमोहन मालवीय को दिल्ली जाते हुए रास्ते में ही पकड़ लिया गया था, पर पुलिस कांग्रेस में भाग लेने के लिए आने वाले प्रतिनिधियों को नहीं रोक सकी, जो भारी संख्या में आये थे। चूंकि कांग्रेस अधिवेशन पर सरकार ने पाबंदी लगा दी थी अतः और कोई बेहतर प्रबंध न हो सकने की अवस्था में यह अधिवेशन दिल्ली के चांदनी चौक में घंटाघर के पास हुआ और अहमदाबाद के रणछोड़ दास अमृतलाल इसके अध्यक्ष बने। यह अधिवेशन बहुत थोड़ी देर का था और विषय समिति ने जो प्रस्ताव स्वीकार किये थे उन्हें पहले ही छपवा लिया गया था और उस समय जनता में बांट दिया गया। कांग्रेस ने स्वतंत्रता-संबंधी प्रस्ताव को फिर दुहराया, असहयोग आंदोलन को फिर शुरू करने के कार्य समिति के निर्णय की पुष्टि की और महात्मा गांधी के नेतृत्व में फिर से अपना विश्वास प्रकट किया। जल्दी ही पुलिस वहां पहुंच गई, सभा को जबरन तितर-बितर कर दिया और बहुत से लोगों को गिरफ्तार कर लिया।

पहले चार महीनों के कांग्रेस आंदोलन की समीक्षा करते हुए पं. मदन मोहन मालवीय ने अपने एक सार्वजनिक वक्तव्य में 2 मई, 1932 को कहा :

---

1. कांग्रेस पर प्रतिबंध लगने के बाद कानून की परिधि में रहते हुए 'स्वदेशी कांग्रेस' लीग गठित की गई।
2. जिन चिकित्साधिकारी ने श्रीमती नेहरू का उपचार किया, उन्होंने कहा कि "उन्हें लाठी जैसी कोई चीज लगने से चोट आई है। उन्हें कंधे आदि पर चोटें आईं और सिर पर एक गहरी चोट आई जिससे काफी रक्त बहा।"

"पिछली 20 अप्रैल तक के चार महीनों में समाचार पत्रों में प्रकाशित समाचारों के अनुसार 66,646 व्यक्तियों को जिनमें 5,325 स्त्रियां और बहुत से बच्चे भी थे गिरफ्तार किया गया, जेल में डाला गया और अपमानित किया गया। इस संख्या में देश के दूर-दराज के गांवों में हुई गिरफ्तारियों को शामिल करना सम्भव नहीं, इसलिए कांग्रेस का अपना अनुमान है कि इस तारीख तक 80,000 से अधिक लोग गिरफ्तार किए जा चुके हैं। जेलें भर गई हैं और आम कैदियों को उनकी सजा पूरे होने से पहले ही रिहा किया जा रहा है ताकि राजनीतिक कैदियों के लिए स्थान खाली हो सके। इस संख्या में अंतिम दस दिनों में जो गिरफ्तारियां हुई वे शामिल नहीं हैं जिनमें दिल्ली कांग्रेस के प्रतिनिधि भी शामिल हैं। समाचार पत्रों की खबरों के अनुसार कम से कम 29 मामलों में गोली चलाई गई जिससे काफी जानें गई हैं। 325 स्थानों पर निहत्थी भीड़ पर लाठी प्रहार किए गए हैं। 633 मामले घरों की तलाशी के हैं और 102 सम्पत्ति को छीने लेने के हैं। आंदोलन के सिलसिले में जिन लोगों को सजाएं दी गई हैं उन पर भारी-भारी जुर्माने ठोंकने की आम नीति अपनाई गई है और जुर्माना वसूल करने के लिए जुर्मानों की राशि से कहीं अधिक मूल्य की सम्पत्ति को कुर्क किया गया और बेचा गया है। समाचार पत्रों पर इतने प्रतिबंध लगाए गए हैं जितने पहले कभी नहीं लगाए गए थे। 163 मामले ऐसे बताए गए हैं जिनमें जब्ती, जमानत मांगकर और फिर उन्हें बंद करके, चेतावनी, तलाशी, सम्पादकों, मुद्रकों और प्रेस मालिकों की गिरफ्तारी आदि के द्वारा समाचार पत्रों और निजी पत्रों पर अंकुश लगाया गया है। असंख्य सभाओं और अहिंसक स्त्री-पुरुषों के जुलूसों आदि को लाठी चार्ज और कभी-कभी गोलियां चलाकर तितर-बितर किया गया। (इंडियन रिकार्डर, कलकत्ता, पृष्ठ 71)

इस रिपोर्ट के साथ ही यह भी याद रखना होगा कि इस आलोच्य अवधि में कराची की जेल और सीमा प्रांत की हरिपुर जेल में बंदियों को कोड़े भी लगाए गए। बंगाल की राजशाही जेल में राजनीतिक कैदियों के साथ बेहद अपमानजनक व्यवहार किया गया जैसे कि डांड-बेड़ी लगाना, रात में भी हथकड़ी लगाना, टाट के कपड़े पहनने को देना इत्यादि। बंगाल की सूरी जेल में तो स्त्री कैदियों के साथ इतना बुरा व्यवहार किया गया कि उन्होंने इसके विरोध में हड़ताल कर दी।[1]

खैर, कुल मिलाकर 1932 में कांग्रेस की गतिविधियां 1930 के मुकाबले कम नहीं कही जा सकती फिर भी हर कांग्रेस-जन एक अन्तर अवश्य अनुभव कर रहा था। 1930 में कांग्रेस का रवैया आक्रामक था और सरकार बचाव कर रही थी। लेकिन 1932 में स्थिति बिल्कुल उल्टी थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत-सी खामियों के बावजूद

1 अन्य बहुत सी जेलों में भी इसी तरह की घटनाएं हुईं। राजामुंदरी जेल में लाहौर षड्यंत्र केस के एक कैदी को कोड़े लगाए गए। तबलारी जेल में राजनीतिक कैदियों पर वार्डनों ने लाठियों से हमला बोल दिया। अजमेर के पास देवली नजरबंदी कैम्प में बंगाल के राजबंदियों पर रक्षकों (गार्ड) ने हमला करके उन्हें बहुत मार पीटा और घायल कर दिया। इन सभी जगहों पर बंदियों के खिलाफ आरोप रहता था हुक्म न मानने का।

दिल्ली पैक्ट को इग्लैंड और भारत के कट्टर लोगो ने सर्वशक्तिमान ब्रिटिश साम्राज्य की पराजय या अपमान समझा था। वे लोग अपनी हार से बेचैन थे और बदला लेने की ताक में थे। 1932 के आम चुनावों में कजरवेटिव पार्टी को भारी बहुमत मिला था और इससे इन लोगों के हौसले बढ गए थे। और बडी बात यह थी कि महात्मा गाधी के रवैये और इग्लैंड में उनके वक्तव्यों से यह धारणा बन गई थी कि वह फिर से सघर्ष करने के लिए अनिच्छुक हैं या तैयार नहीं हैं। यह तो सभी मानेगे कि महात्माजी ईमानदारी से शाति की नीति पर चल रहे थे, वह सघर्ष के लिए तैयार नहीं थे यही उनकी ईमानदारी का सबूत समझा जाना चाहिए। सच तो यह है कि महात्माजी अपने शातिपूर्ण इरादों के साथ इतने आगे बढ गए कि वह 'सदा सन्नद्ध' रहने के सिद्धात को ही भूल बैठे। वास्तव मे वह लडाई में दो कारणों से घसीट लिए गए। एक था वाइसराय का न झुकने वाला रवैया और दूसरा जनता का बढता हुआ जोशखरोश। इस सबध में यह महत्त्वपूर्ण बात है कि महात्मा गाधी की अनुपस्थिति में भारत की सरकार ने जो आक्रामक कदम उठाए थे उन सबके लिए ब्रिटिश सरकार का पूरा-पूरा अनुमोदन उसे प्राप्त था। सरकार की नीति के अलावा दो और कारण भी थे जिन्होंने महात्माजी को दुबारा सघर्ष छेडने पर मजबूर किया। आम जनता की मन स्थिति और वामपक्ष का प्रभाव। जहा तक पहली बात का प्रश्न है किसी भी बडे प्रात में जनता सरकार के रवैये से खुश नहीं थी। जिन लोगों ने इस आशा से महात्माजी की ही बात मान ली थी कि गोलमेज सम्मेलन से कुछ न कुछ ठोस चीज प्राप्त होगी उनका भी भ्रम दूर हो चुका था। फिर वामपक्ष के काग्रेसजनो, युवा लीग वालों[1] और वामपक्षी मजदूर दलो ने जो निरतर प्रचार जारी रखा उसका भी असर पडना स्वाभाविक था। महात्माजी जब इग्लैंड मे थे तो वह यदा-कदा यह सोचते रहे थे कि एक और सघर्ष अपरिहार्य है लेकिन दुख की बात यह है कि काग्रेस ने इसके लिए कुछ भी तैयारी नहीं की और न पहले से कोई योजनाए आदि बनाई थीं। 1932 का आदोलन 1930 के आदोलन की नकल ही था और सरकार ने इस तरह के आदोलन से निपटने के प्रभावी उपाय निकाल लिए थे। यदि 1932 मे काग्रेस सफलता प्राप्त करना चाहती थी तो उसे कुछ नए ढग और चालें चाहिए थीं ताकि सरकार कुछ न कर पाती।

यह बात आमतौर से किसी के समझ में नहीं आती कि जब उन्हीं तरकीबो और चालों से काग्रेस 1930 में सफल रही थी तो 1932 में वह निष्फल क्यो रही। इसकी वजह यह है कि 1930 में काग्रेस के तौर-तरीके नए थे और सरकार उनसे निपटने के लिए तैयार नहीं थी। इसमे सदेह नहीं कि 1921 और 1922 में भी काग्रेस ने यही चालें चली थीं लेकिन उस समय आदोलन के अचानक रुक जाने से काग्रेस अपने सारे राज नहीं खोल पाई थी। फिर एक बात और भी थी कि उस बात का आठ वर्ष बीत चुके

1 22 दिसम्बर, 1931 को महाराष्ट्र युवक सम्मेलन पूना में हुआ जिसका सभापति मैं स्वय था। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास करके काग्रेस कार्य समिति से सविनय अवज्ञा आदोलन को दुबारा शुरू करने का अनुरोध किया था।

थे और जिन कर्मचारियों ने उस आंदोलन का सामना किया था वे अब सरकार की नौकरी में नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि 1930 का आंदोलन एक तरह से नया ही था और सरकार को पहले तो इसे समझने और फिर उसका मुकाबला करने के लिए अपनी रणनीति तय करने में कुछ समय लगा। दिल्ली विराम संधि (दिल्ली पैक्ट) ने सरकार को यह सब करने के लिए काफी समय दे दिया और जब 1 जनवरी, 1932 को कांग्रेस कार्य समिति ने फिर सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने का निश्चय किया तो उस समय सरकार पूरी तरह से और बड़ी क्रूरता के साथ चोट करने को कमर कसे बैठी थी। फिर वह केवल उन्हीं लोगों पर चोट करके ही चुप नही बैठ गई जो खुले में काम कर रहे थे बल्कि आदोलन के पीछे के मस्तिष्क और उसे पैसा देने वालों को भी उसने इस बार नहीं बख्शा।[1]

साल के पहले आठ महीनों में संघर्ष पूरे जोशखरोश के साथ चलता रहा और उसमें कोई कमी नहीं आई। सरकार का यह एलान गलत साबित हुआ कि कांग्रेस जल्दी ही मुंह की खाएगी। कांग्रेस अभी भी जिंदा थी और टक्कर दे रही थी और ऐसा कोई लक्षण नहीं था कि वह शीघ्र मर जाएगी। मार्च के महीने में कांग्रेस के आंदोलन में इस कारण जोर आ गया कि मुस्लिम मौलवियों और विद्वानों के अ.भा. संगठन जमायत-उल-उलेमा ने, जिसके नेता मुफ्ती किफायतुल्ला थे, असहयोग की घोषणा कर दी, शीघ्र ही इन नेताओं को पकड़ कर जेलों में डाल दिया गया। जमायत के इस निर्णय ने राष्ट्रवादी मुसलमानों की स्थिति को, जो सदा कांग्रेस का अभिन्न अग रहे थे और सीमा प्रांत के मुसलमानों की स्थिति को, जो सरकार के अपार दमन के शिकार थे, सुदृढ कर दिया। फिर भी परिस्थितियां कांग्रेस के खिलाफ थीं। बम्बई में, जो 1930 के आंदोलन का गढ़ रहा था, मई के महीने में हिन्दू-मुस्लिम दंगे शुरू हो गए और करीब छह सप्ताह तक जारी रहे। इन दंगों से कांग्रेस आंदोलन को ऐसा धक्का लगा कि वह फिर उठ नहीं पाया। गुजरात के किसानों को इतना सताया तथा परेशान किया जा चुका था और वे इतने गरीब हो चुके थे कि अब इस संघर्ष को उस बहादुरी से जारी नहीं रख सकते थे जिस पर वे 1930 में गर्व कर सके थे। सयुक्त प्रांत मे कुछ महीने बाद सरकारी दमन के कारण लगानबंदी आंदोलन और आगे नहीं बढ़ पा रहा था। बंगाल में सविनय अवज्ञा आंदोलन से भी गम्भीर घटना थी क्रांतिकारियों का आतंकवादी आदोलन। लेकिन आतंकवाद सरकार की आंख में भले ही कांटा हो, इससे जनता को भी कष्ठ उठाने पड रहे थे। चूंकि चटगांव, मिदनापुर और ढाका के जिले प्राय: मार्शल ला के अधीन लाए जा चुके थे और निरपराध गांव वालों पर अज्ञात लोगों की करतूतों के कारण भारी-भारी जुर्माने किए गए थे, भारत सरकार के गृह सदस्य मिस्टर (और अब सर) एच. जो हेग ने इंडियन लेजिस्लेटिव

1 इस तरह जो लोग जेल में डाले गए उनमें बम्बई के एडवोकेट जनरल श्री भूलाभाई देसाई और कलकत्ता के प्रमुख एडवोकेट और प्रमुख कांग्रेसजन तथा कलकत्ता नगरपालिका के वरिष्ठ एल्डर मैन श्री शरत चन्द्र भी थे।

असेम्बली में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया था कि सभाओं आदि को भंग करने के लिए बंगाल में 17 बार, संयुक्त प्रांत में सात बार और बिहार-उड़ीसा में तीन बार, मद्रास प्रेसीडेंसी और सीमा प्रांत में एक-एक बार गोली चलानी पड़ी। बम्बई प्रेसीडेंसी में गोलियों से मरने वालों की संख्या 34 और घायलों की संख्या 91 थी। इन परिस्थितियों में जबकि कांग्रेस अपने जीवन-मरण के संघर्ष में जुटी हुई थी, एक ऐसी अनपेक्षित घटना घटी जिसने देश के अवज्ञा आन्दोलन को पूरी तरह एक कोने में धकेल दिया। यह घटना थी 20 सितम्बर, 1932 को महात्मा गांधी का अनशन।

11 मार्च को महात्माजी ने सर सैमुअल होर को लिखा कि जैसा मैंने लंदन में गोलमेज सम्मेलन में 13 नवम्बर, 1931 को कहा था कि यदि परिगणित जातियों को पृथक निर्वाचन देकर मुख्य हिन्दू समाज से अलग किया गया तो मैं अपने प्राण देकर भी उसे रोकूंगा और उस वचन को निभाने के लिए मैं आमरण अनशन करूंगा। 13 अप्रैल को सर सैमुअल होर ने बिना किसी वचनबद्धता के उत्तर दिया कि सरकार इस सवाल पर पूरी तरह विचार करके ही निर्णय करेगी। इसके बाद 17 अगस्त को प्रधानमंत्री श्री रैमजे मैकडोनल्ड के कम्युनल अवार्ड[1] की घोषणा की गई। इस अवार्ड में प्रांतीय विधायिकाओं में कुछ स्थान परिगणित जातियों के लिए सुरक्षित किए गए थे जिन्हें पृथक निर्वाचन द्वारा भरा जाना था। इसके अलावा परिगणित जातियों के सदस्यों के लिए एक और व्यवस्था की गई थी कि हिन्दुओं के लिए जो आम सीटें होंगी वे उन पर भी खड़े हो सकेंगे और उनके नाम अन्य हिन्दुओं के समान एक ही मतदाता सूची में दर्ज किए जाएंगे। अवार्ड में यह भी व्यवस्था की गई थी कि यदि हिज मैजेस्टी की सरकार को यह संतोष हो गया कि सम्बद्ध सम्प्रदाय गवर्नर के एक या अधिक प्रान्तों के या सारे ब्रिटिश भारत के बारे में नए भारत सरकार विधेयक (गवर्नमेंट आफ इंडिया बिल) के कानून बन जाने से पहले किसी व्यावहारिक वैकल्पिक योजना पर सहमत हो जाएंगे तो वह (ब्रिटिश सरकार) पार्लियामेंट को यह सिफारिश करने को तैयार होगी कि इस विकल्प को इस समय के प्रावधानों की जगह रख लिया जाए। 18 अगस्त को महात्मा गांधी ने प्रधानमंत्री को एक पत्र लिखा जिसमें उन्हें सूचना दी गई कि मैंने जो सर सैमुअल होर को 11 मार्च को लिखा था उसके अनुसार 20 सितम्बर की दोपहर से आमरण अनशन शुरू करने का निश्चय किया है। यदि इसके दौरान ब्रिटिश सरकार अपनी ही ओर से या फिर जनमत के दबाव से अपने निर्णय को बदल देगी या परिगणित जातियों के लिए पृथक निर्वाचन की अपनी योजना को वापस ले लेगी, तो यह अनशन समाप्त हो जाएगा। परिगणित जातियों के प्रतिनिधियों को समान मताधिकार के आधार पर सामान्य मतदाओं द्वारा चुना जाना चाहिए भले ही यह कितना ही व्यापक हो। महात्माजी ने इस बात को भी साफ

1 क्योंकि 1931 के दूसरे गोलमेज सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार के समक्ष सदस्य विभिन्न जातियों के लिए प्रतिनिधित्व, निर्वाचन आदि प्रश्नों पर समझौता नहीं हो सके थे इसलिए नए संविधान में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने इस बारे में सरकार के निर्णय की घोषणा की। इस निर्णय को कम्युनल अवार्ड कहा जाता है।

की कि सारा पत्र-व्यवहार तुरंत और पूरा का पूरा प्रकाशित किया जाए। प्रधानमंत्री ने 8 सितम्बर को इसका उत्तर दिया जिसमें महात्माजी के निर्णय पर अफसोस जाहिर किया गया था लेकिन इस बात की पुष्टि की गई थी कि अवार्ड के प्रावधानों को उसी में उल्लिखित शर्तों के सिवा और किसी भी हालत में बदला नहीं जाएगा। महात्माजी को यह उत्तर अगले ही दिन मिल गया और उन्होंने फौरन इसका उत्तर दिया कि मुझे पहले बताए गए अपने निर्णय पर ही अनिच्छापूर्वक कायम रहना पड़ रहा है।

उस चिन्ता और घबराहट का शब्दों में वर्णन करना कठिन है जो 13 सितम्बर को महात्माजी के अनशन की खबर छपते ही सारे देश में इस सिरे से उस सिरे तक व्याप्त हो गई थी। महात्माजी से अनशन का इरादा छोड़ देने की बहुतों ने अपील की लेकिन उनका कोई असर नहीं हुआ। सरकार ने उन्हें कुछ शर्तों पर रिहा करने का प्रस्ताव किया लेकिन उन्होंने सशर्त रिहाई को अस्वीकार कर दिया। इस पर सरकार ने उन्हें पूना की जेल में ही शांति से रहने देने का फैसला किया और उन पर पत्र-व्यवहार करने और मुलाकातों आदि की कोई पाबंदी नहीं रखी। पं. मदनमोहन मालवीय की अपील पर 19 सितम्बर को बम्बई में हिन्दू नेताओं की एक बैठक हुई जिसमें यह विचार हुआ कि महात्माजी का जीवन कैसे बचाया जाए। पहली बैठक के बाद ये हिन्दू नेता पूना चले गए ताकि महात्माजी से निरंतर संपर्क रह सके। लम्बे विचार-विमर्श के बाद 14 सितम्बर को हिन्दू नेताओं में एक समझौता हुआ जिसमें व्यावहारिक रूप से परिगणित जातियों के लिए पृथक निर्वाचन को खत्म कर दिया गया। इस समझौते को आगे पूना समझौता या पूना पैक्ट कहा जाता है। 25 सितम्बर को हिन्दू नेताओं के सम्मेलन ने और हिन्दू महासभा ने भी इसकी पुष्टि कर दी और भारत सरकार तथा प्रधानमंत्री को भी इसकी तार से सूचना दे दी गई। 26 सितम्बर को ब्रिटेन की सरकार ने घोषणा कर दी कि वह पार्लियामेंट से पूना समझौते को अपनी मंजूरी देने के लिए सिफारिश करने को तैयार है। इस पर सारे देश ने राहत की सांस ली और देश भर ने ईश्वर की कृपा समझी कि महात्माजी के प्राण बच गए।

पूना पैक्ट में परिगणित जातियों के सदस्यों के लिए विधायिकाओं में हिन्दुओं के सभी वर्गों के लिए समान निर्वाचन व्यवस्था के आधार पर कुछ सीटें सुरक्षित रखने की व्यवस्था थी। पर एक शर्त भी रखी गई थी। किसी चुनाव क्षेत्र की जो सामान्य मतदाता सूची होगी उसमें दर्ज परिगणित जातियों के सदस्यों का एक निर्वाचक मंडल (इलेक्टोरल कालेज) होगा जो प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के अपने ही वर्ग के चार सदस्यों को एकमत होकर चुनेगा। डा. अम्बेडकर ने (जिन्हें सरकार ने गोलमेज सम्मेलन के लिए नामजद किया था) शुरू में दस वर्ष के लिए प्राथमिक चुनाव का प्रावधान करने पर जोर दिया था यद्यपि साइमन कमीशन के सामने और पहले गोलमेज सम्मेलन मे उन्होंने परिगणित जातियों के लिए सीटों के आरक्षण की मांग सभी हिन्दुओं के लिए संयुक्त निर्वाचन के

आधार पर की थी। इसके विपरीत परिगणित जातियों के एक प्रमुख नेता श्री एम. सी. राजा ने शुरू से ही संयुक्त निर्वाचन के आधार पर अपनी जाति के लिए सीटों के आरक्षण की मांग रखी थी और इसे कभी बदला नहीं था। इसी आधार पर साल के शुरू में उन्होंने हिन्दू महासभा के प्रधान डा. मुंजे के साथ एक पैक्ट किया था। इस पैक्ट को, जिसे राजा-मुंजे पैक्ट कहा जाता है, डा. अम्बेडकर और उनके अनुयायियों ने विरोध किया था। इस कारण ब्रिटिश सरकार ने भी इसे नहीं स्वीकार किया था।

जब तक महात्माजी का अनशन चलता रहा, देश में युक्तियुक्त के चिंतन के लिए स्थान नहीं था। बस सबको एक ही चिंता थी कि महात्माजी के प्राण कैसे बचें। जब उन्होंने अपना अनशन तोड दिया तो लोगों ने पूना समझौते पर गंभीरता से सोचना शुरू किया और तब मालूम हुआ कि साम्प्रदायिक अवार्ड ने जहां 71 सीटें परिगणित जातियों को दी थीं वहां पूना समझौते के अधीन उन्हें 148 सीटें दी गईं। ये अधिक सीटें उन्हें शेष हिन्दू समाज की कीमत पर दी गईं। बंगाल जैसे प्रान्त में जहां पहले ही हिन्दुओं के साथ अन्याय हुआ था इस पैक्ट को हिन्दुओं के साथ और अधिक अन्याय समझा गया, खास कर इस कारण कि वहां परिगणित जातियों की समस्या थी ही नहीं। फिर यह भी महसूस किया गया कि पूना समझौते के अधीन ही पृथक निर्वाचन को पूरी तरह कहां समाप्त किया गया था। लोगों ने गम्भीरता से यह प्रश्न करना शुरू किया कि क्या इतनी-सी बात के लिए महात्माजी को अपने प्राणों की बाजी लगाना उचित था जबकि समूचा साम्प्रदायिक अवार्ड ही शुरू से आखिर तक एक आपत्तिजनक वस्तु थी।

खैर, पूना समझौते का स्थायी महत्व चाहे जो रहा हो लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि महात्मा गांधी के अनशन का हिन्दू सम्प्रदाय की आत्मा को जगाने में तूफानी परिणाम रहा। यह एक अभूतपूर्व दृश्य था कि किस प्रकार एक व्यक्ति के साथ सारे देश का हृदय स्पंदन जुड गया था, हिन्दू समाज के सभी वर्ग इतने सक्रिय हो उठे थे जैसे वे पहले कभी नहीं हुए थे। इस ऐतिहासिक व्रत का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अस्पृश्यता निवारण के आन्दोलन को इससे बहुत बल मिला। अनशन के दौरान केवल महात्माजी के व्यक्तित्व के लिए ही नहीं सारे परिगणित वर्गों के लिए इतनी अधिक सहानुभूति पैदा हुई कि यदि अ. भा. अस्पृश्यता विरोधी लीग स्थापित कर इस अपार शक्ति के उपयोग के लिए स्थायी कार्यक्षेत्र न बनाया गया होता तो यह एक भारी भूल होती।

महात्मा गांधी के अनशन का उनके अपने देशवासियों पर निस्संदेह विस्मयकारी प्रभाव पडा था पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह विशुद्ध वरदान नहीं सिद्ध हुआ। इसने संसार के सामने परिगणित जातियों की समस्या को बहुत बढा-चढाकर विज्ञापित करने का काम किया। अभी तक संसार जानता था कि भारत की एक ही समस्या है और वह है राजनीतिक समस्या यानी इंग्लैंड के खिलाफ उसकी शिकायतें। अब तो राष्ट्रवादी आन्दोलन के नेता ने खुद संसार के सामने एलान कर दिया था कि एक और भी ऐसी समस्या

है—उनका आन्तरिक मसला, जिसके लिए वह अपने जीवन की बाजी लगाने को तैयार थे और ब्रिटिश प्रचारवादी इस अवसर का लाभ उठाने से पीछे नहीं रहे। सितम्बर 1932 में सारे यूरोप में यह ढिंढोरा पीटा गया कि महात्माजी इस कारण अनशन कर रहे हैं कि वह अछूतों को कुछ रियायतें देने के खिलाफ हैं।[1] इसके बाद से यूरोप के लोगों को निरंतर यह कहानियां सुनाई जाती रही हैं कि भारत में एक नहीं अनेक मतभेद और आपसी झगड़े हैं। सिर्फ हिन्दू-मुसलमान का ही झगड़ा नहीं है बल्कि हिन्दू भी हमेशा आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं और ब्रिटेन का ही ताकतवर हाथ है जो वहां शांति और व्यवस्था कायम रखने में सक्षम है।

अनशन का एक और दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव पड़ा जो अन्य बातों से अधिक गम्भीर था। इससे ऐसे समय राजनीतिक आन्दोलन को एक तरफ धकेल दिया गया जबकि इसी पर पूरा और हर संभव ध्यान देने की आवश्यकता थी। यदि महात्माजी अपने अनशन की समाप्ति पर अछूतोद्धार का कार्य अपने ऐसे मित्रों को सौंप देते जो आन्दोलन में शामिल नहीं थे तो भी अनशन का प्रभाव इतना बेकार नहीं होता। पर जब नेता ने स्वयं जेल के भीतर से ही अछूतोद्धार का काम करना शुरू कर दिया तो उसके अनुयायी भला और क्या करते। महात्माजी ने हमेशा यह कहा था कि सत्याग्रह के बंदियों को अपने आप को मृतवत समझना चाहिए और इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए कि जेल के बाहर क्या हो रहा है। लेकिन इस बार वह अपने इस उसूल पर कायम नहीं रहे। स्थिति तब तो और भी बिगड़ गई जब उनसे इस तरह से सवाल पूछे गए कि सामाजिक कार्य किए जाएं या राजनीतिक कार्य। उन्होंने जो उत्तर दिए वे उलझन में डालने वाले थे या फिर उन्होंने ऐसे प्रश्नों का उत्तर ही नहीं दिया। इससे लोगों ने निष्कर्ष निकाला कि महात्माजी राजनीतिक कार्य की बजाय सामाजिक कार्य को वरीयता देते हैं। इस प्रकार के नेतृत्व से महात्माजी के वही अनुयायी उनके साथ रहे जो या तो उनके अंध भक्त थे या फिर बार-बार जेल जाने और कष्ट उठाने से तंग आ चुके थे और राजनीतिक संघर्ष से हटने के लिए कोई सुविधाजनक बहाने की तलाश में थे।

महात्माजी के रवैये की सफाई में एक और युक्ति दी जाती है। वह यह कि वह समझ गए थे कि आन्दोलन तो आखिर असफल होना ही है इसलिए वह इस आन्दोलन में से एक और आन्दोलन खड़ा करना चाहते थे। जिसका उनके देशवासियों को लाभ हो। यह युक्ति मानी नहीं जा सकती क्योंकि नवम्बर 1932 में ही उन्होंने लंदन में अपना यह संकल्प प्रकट कर दिया था कि परिगणित जातियों के लिए विशेष निर्वाचन को वह अपनी जान देकर भी रोकने की कोशिश करेंगे। अतः यही सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को इस प्रकार एक तरफ हटा देना महात्माजी के उस

1 बहुत से देशों में मैंने ऐसे लोगों के मुंह से यह बात सुनी जो आमतौर से भारत के मामलों में रुचि रखते हैं। पहले तो मैंने इसके महत्व को नहीं समझा लेकिन बाद में मुझे पता चला कि सितम्बर 1932 में यह बात सारे यूरोप भर में फैलाई गई थी।

व्यक्तिवाद का परिणाम था जो अक्सर उन्हें सताया करता है और वह निर्वैयक्तिक वास्तविकताओं के प्रति आंख मूंद लेते हैं और किसी की न सुनते हैं। गोलमेज सम्मेलन के समय से वह परिगणित जातियों की समस्याओं के बारे में इतनी गहराई से सोचने लगे थे कि फिलहाल और सब समस्याएं पीछे पड़ गई थीं। सही बात चाहे जो रही हो इसमें कोई शक नहीं कि उनके अनशन से अवज्ञा आन्दोलन गौण स्थिति में आ गया और धन, जन और जनता के उत्साह को ऐसे समय अस्पृश्यता निवारण की तरफ फेर दिया गया जबकि सरकार के मुकाबले कांग्रेस की स्थिति कमजोर पड़ गई थी। इसका वही प्रभाव हुआ जो घमासान युद्ध के बीच किसी सेनापति के अपने सैनिकों को आसपास के प्यासे नागरिकों के लिए पानी की नहर खोदने का आदेश दे देने पर हो सकता है।

26 सितम्बर को महात्माजी की अपील पर सारे देश में कुएं और मंदिरों के द्वार अछूतों और हरिजनों के लिए खोले जाने लगे। वास्तव में इस दिशा में इतनी तेजी से प्रगति हुई कि एक बार को तो ऐसा लगा कि छुआछूत का दानव हमेशा के लिए खत्म कर दिया जाएगा। फिर भी एक स्थान ऐसा था जहां इसका विरोध हुआ। दक्षिण भारत में गुरुवयूर के मन्दिर के ट्रस्टी जमोरिन ने मन्दिर में परम्परा और कानून संबंधी कठिनाइयों के आधार पर अछूतों के प्रवेश की अनुमति नहीं दी। इस पर एक प्रसिद्ध और सम्मानित कांग्रेसी श्री केलप्पन ने मन्दिर में हरिजनों के प्रवेश की अनुमति न देने के विरोध में अनशन आरम्भ कर दिया। जब उनकी दशा बहुत बिगड़ गई तो महात्माजी से इस मामले में हस्तक्षेप करने और उनके प्राण बचाने का अनुरोध किया गया। महात्माजी के निवेदन करने पर कि वह स्वयं इस लड़ाई को जारी रखेंगे श्री केलप्पन ने अपना व्रत तोड़ दिया। इसी समय ऐसा पता चला कि बहुत से स्थानों पर मन्दिर के अधिकारी और ट्रस्टी आदि हरिजनों के लिए मंदिर खोलने के रास्ते में कई प्रकार की कानूनी बाधाएं खड़ी कर रहे हैं। इसलिए इन कठिनाइयों को हमेशा के लिए दूर करने की दृष्टि से मद्रास लेजिस्लेटिव कौंसिल और इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली में उपयुक्त बिल लाना अभीष्ट समझा गया। मद्रास कौंसिल के लिए जो बिल तैयार किया गया था उसे वाइसराय ने अपनी अनुमति प्रदान नहीं की। इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली में पेश करने के लिए जो बिल तैयार किया गया था उसे वाइसराय ने 23 जनवरी, 1933 को अपनी अनुमति तो दे दी लेकिन यह स्पष्ट कर दिया कि सरकार बिल के पक्ष या विपक्ष में अपने को नहीं बांधती और वह इस सवाल पर जनता को अपना मत पूरी तरह अभिव्यक्त करने की छूट देगी। भारत सरकार से विशेष प्रार्थना की गई कि वह मन्दिर प्रवेश बिल को शीघ्र पास कराने के लिए सुविधाएं दे पर वाइसराय ने इस तरह की कोई सुविधा देने से साफ इन्कार कर दिया और सरकार की देर लगाने वाली नीति की वजह से वह बिल अभी तक ऐसे ही लटका हुआ है। अछूतों के मंदिर प्रवेश की मांग को और बल देने के लिए 25 दिसम्बर, 1932 को गुरुवयूर मन्दिर के दर्शनार्थियों का एक जनमत संग्रह कराया गया। यद्यपि गुरुवयूर सामाजिक दृष्टि से एक पिछड़ा स्थान माना जाता है फिर भी 20,163 मतों में से 73

प्रतिशत ने मन्दिर प्रवेश के हक में, 13 प्रतिशत ने इसके विरोध में अपना मत दिया और 10 प्रतिशत तटस्थ रहे।

महात्माजी ने 26 सितम्बर को हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों को निपटाने के लिए जो अपील की थी उसका एक और लाभदायक परिणाम निकला। इलाहाबाद में एक एकता सम्मेलन किया गया जिसमें पं. मदनमोहन मालवीय और मौलाना शौकत अली ने प्रमुख रूप से भाग लिया। यह सम्मेलन 1 नवम्बर को कांग्रेस के एक भूतपूर्व अध्यक्ष श्री विजयराव चारियर की अध्यक्षता में हुआ और इसमें हिन्दुओं तथा मुसलमानों के प्रतिनिधियों ने भारी संख्या में भाग लिया। इस सम्मेलन का वातावरण बड़ा सौहार्द्रपूर्ण था। हिन्दू-मुस्लिम समझौते के लिए बातचीत में काफी प्रगति भी हुई। लेकिन आखिर में दो बाधाएं उठ खड़ी हुईं। एक ओर तो साम्प्रदायिक मुसलमानों ने एकता के प्रयत्नों को धिक्कारा और दूसरी तरफ बंगाल की समस्या का कोई हल नहीं निकला क्योंकि यूरोपीय लोग उन सीटों में से एक भी छोड़ने को तैयार नहीं थे जो उन्हें साम्प्रदायिक अवार्ड में दी गई थीं और मुसलमान कुल सीटों में से 51 प्रतिशत से कम सीटें लेने को तैयार नहीं थे। यद्यपि सम्मेलन के अंत में सफलता हाथ नहीं लगी फिर भी इसका नैतिक मूल्य अवश्य रहा और यह वातावरण को बेहतर करने में काफी सहायक रहा।

अब हम 1932 में सरकार के कार्यों की समीक्षा करेंगे। कांग्रेस के विरुद्ध कठोर से कठोर कार्रवाई करते हुए वाइसराय ने बराबर इस बात पर जोर दिया कि सरकार संविधान बनाने के काम को आगे बढ़ाती रहे। जनवरी के मध्य के लगभग सरकार ने एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त की जिसके जरिए कांग्रेस को छोड़कर अन्य सभी पार्टियों के नेताओं से सरकार का वाइसराय के माध्यम से निकट सम्बन्ध रखा जाना था। खास कर मताधिकार, संघीय वित्त और भारतीय रियासतों संबंधी जांच समिति की सिफारिशों को ब्रिटिश सरकार के विचारार्थ भेजे जाने से पहले प्रारम्भिक विचार-विमर्श के बारे में साम्प्रदायिक अवार्ड के जारी होने की वजह से मुसलमान सदस्यों के आग्रह पर इस परामर्शदात्री समिति की बैठकें दो बार स्थगित की गईं। 27 जून को सरकार ने इस बात की घोषणा की कि उसने प्रान्तीय स्वायत्तता और संघीय व्यवस्था एक ही बिल द्वारा प्रदान करने का निश्चय किया है और अब गोलमेज सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन नहीं होगा। इस पर भारतीय उदारवादी (लिबरल) नेताओं ने गोलमेज सम्मेलन का इरादा छोड देने के खिलाफ फौरन ही भारी विरोध प्रकट किया और इसके बाद परामर्शदात्री समिति से सर्वश्री शास्त्री, जयकर, जोशी और सर तेजबहादुर सप्रू ने त्यागपत्र दे दिया। इससे सरकार कुछ नरम पड़ी और 7 जुलाई को सर सैमुअल होर ने सेंट्रल एशियन सोसायटी में भाषण करते हुए स्पष्ट किया कि प्रक्रिया में परिवर्तन का अर्थ नीति में परिवर्तन नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि जब संयुक्त संसदीय समिति सरकार के प्रस्तावों पर विचार करने बैठेगी तो भारतीयों को केवल साक्ष्य देने के लिए नहीं, वरन् समिति के विचार-विमर्श में भाग

लेने के लिए बुलाया जाएगा। उदारवादी नेताओं को भारत मंत्री की यह सलाह ठीक नहीं लगी और उन्हें इससे सन्तोष नहीं हुआ और वे इसका विरोध ही करते रहे। 5 सितम्बर को वाइसराय ने इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली में एक नई घोषणा यह की कि परामर्शदात्री समिति अपेक्षित योगदान नहीं कर पाएगी, अतः यह निश्चय किया गया है कि आगे और विचार-विमर्श लंदन में किया जाए। अतः ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों की एक छोटी-सी समिति नवम्बर के मध्य में लंदन में बैठेगी। बैठक की कार्यवाही एक निश्चित विषय-सूची के अनुसार होगी और कोई सार्वजनिक बैठक नहीं होगी। इससे उदारवादी नेताओं को संतोष हुआ और अब उनकी लंदन यात्रा फिर पक्की हो गई थी। तीसरे गोलमेज सम्मेलन ने 17 नवम्बर को अपना काम शुरू किया और 24 दिसम्बर को समाप्त कर दिया। अंतिम अधिवेशन जनता के लिए खुला था। इस सम्मेलन में लेबर पार्टी ने भाग नहीं लिया। उसका कहना था कि सरकार सुलह-समझौते की अपनी नीति से फिर गई है। पार्टी यह भी चाहती थी कि भारतीय सदस्य भी सम्मेलन में शामिल न हों पर उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। अधिवेशन के अंत में सर सैमुअल होर ने सम्मेलन के निष्कर्षों का खुलासा किया। सरकार ने जो फैसले किए, जिनका उन्होंने उल्लेख किया, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

1. जहां तक ब्रिटिश भारत का प्रश्न है संघीय विधायिका में मुसलमानों के 33-1/3 प्रतिशत प्रतिनिधि रहेंगे।
2. संघ कब से अस्तित्व में आएगा इसके बारे में कोई निश्चित तारीख बताना सम्भव नहीं है।
3. सिंध और उड़ीसा अलग प्रान्त बनाए जाएंगे।
4. सेना बजट पर वोट का अधिकार नहीं होगा।
5. भारतीय सेना के प्रयोग और किसी देश से युद्ध में भारतीय सेनाओं को भारत से बाहर तैनात किया जाता हो तो संघीय सरकार और संघीय विधायिका का निर्णय प्राप्त किया जाएगा लेकिन भारतीय सेनाओं को भारत की रक्षा के लिए भारत से बाहर नियुक्त किए जाने के बारे में सम्राट को पूरा अधिकार होगा।

अंत में सर तेजबहादुर सप्रू की सहयोग की अपील के उत्तर में सर सैमुअल होर ने कहा कि मैं गोलमेज सम्मेलन की संयुक्त प्रवर समिति (ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी) की बैठक में खाली कुर्सियों के सामने नहीं बोलना चाहता था।

इस वर्ष के दौरान बंगाल प्रान्त में क्रांतिकारी आन्दोलन काफी सक्रिय रहा। वाइसराय की ओर से जारी अध्यादेशों के अलावा वाइसराय ने बंगाल की सरकार को और अधिक विशेष अधिकार दे दिए थे। वाइसराय के अध्यादेश, जिनकी संख्या चार थी, 4 जनवरी, 1932 को जारी किए गए थे। इन अध्यादेशों की समाप्ति से पहले 30 जून, 1932 को

एक समग्र आर्डिनेंस भारत सरकार की ओर से जारी किया गया जिसका नाम था स्पेशल पावर्स आर्डिनेंस, 1932 (विशेषाधिकार अध्यादेश, 1932)। इसके अतिरिक्त नवम्बर 1932 में बंगाल इमरजेंसी पावर्स आर्डिनेंस पहले ही जारी किया जा चुका था जिसने बंगाल सरकार को आतंकवादी आन्दोलन को दबाने के लिए प्रायः वैसे ही अधिकार दे दिए थे जैसे कि मार्शल ला के अधीन अधिकारियों को दिए जाते हैं। यह आर्डिनेंस 29 मई, 1932 को आगे के लिए बहाल कर दिया गया था। बंगाल सरकार को और अधिक अधिकार देने के लिए भारत सरकार ने 20 जुलाई को एक और आर्डिनेंस, बंगाल इमरजेंसी पावर्स (सेकिंड अमेंडमेंट) आर्डिनेन्स, 1932 जारी किया। 1 सितम्बर को बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल ने बंगाल क्रिमिनल ला अमेंडमेंट ऐक्ट, 1932 पास कर दिया जिसने कार्यपालिका को और अधिक अधिकार दे दिए। इसका सबसे महत्वपूर्ण प्रावधान यह था कि हत्या की कोशिश की सजा फांसी कर दी गई थी। 6 सितम्बर को एक और ऐक्ट पास किया गया जिसका नाम था बंगाल सप्रेशन आफ टेररिस्ट आउटरेजेज ऐक्ट, 1932 अर्थात बंगाल में आतंकवादी कार्रवाइयों को रोकने वाला कानून। इस कानून में कार्यपालिका को इमारतों पर कब्जा करने, नागरिकों को आतंकवादियों का दमन करने में सरकार की मदद करने के लिए आदेश देने और आदेश न मानने पर उन्हें सजा देने, ग्रामीणों पर सामूहिक जुर्माने करने आदि के अधिकार दे दिए गए थे। बंगाल कौंसिल में इस कानून के पास हो जाने से सरकार को स्थायी तौर पर अधिकार मिल गए थे और अब उसे आर्डिनेंसों की आवश्यकता नहीं रह गई थी। साल भर आतंकवादी कार्रवाइयां यदा-कदा होती रहीं। इन सबमें महत्वपूर्ण थी मिदनापुर के जिला मजिस्ट्रेट श्री डगलस और कोमिल्ला के अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक श्री एलीसन की हत्या। सरकार की तरफ से कठोर से कठोर कदम उठाए गए। बहुत से जिलों में जहां उत्पात हुए या होने का अंदेशा था, सैनिक तैनात कर दिए गए थे। चटगांव, मिदनापुर और चौबीस परगना जिलों में लोगों पर भारी सामूहिक जुर्माने किए गए थे। इतना ही नहीं, अंडमान द्वीप समूह में क्रांतिकारियों के लिए निर्धारित जिन जेलों को बंद कर दिया गया था उन्हें जनता के विरोध के बावजूद फिर खोल दिया गया और कैदियों को वहां भेजा गया।

इस साल दो महत्वपूर्ण श्रम सम्मेलन हुए। इंडियन ट्रेड यूनियन फेडरेशन (ट्रेड यूनियन कांग्रेस का भूतपूर्व दक्षिण पंथ) का पहला अधिवेशन मद्रास में 15 जुलाई को हुआ जिसके अध्यक्ष श्री वी. वी. गिरि थे। इसमें जो प्रस्ताव स्वीकार किए गए उनमें से एक भारत के भावी संविधान में श्रमिकों की स्थिति के बारे में था। आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन भी मद्रास में ही 12 सितम्बर को हुआ और इसके सभापति श्री जे.एन. मित्र थे। ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने साम्प्रदायिक अवार्ड और ओटावा पैक्ट की निन्दा की और इन्हें श्रमिकों के हितों का विरोधी बताया। इसने एक ऐसा प्रस्ताव भी पास किया जिसमें कहा गया कि माटुंगा (बम्बई के निकट), खड़गपुर (कलकत्ता से 70 मील), लिलुआ (कलकत्ता के पास), लखनऊ (संयुक्त प्रान्त) और अन्य स्थानों पर

कभी-कभी जो हड़तालें होती रही हैं उनको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि सब रेलों के कर्मचारी आम हड़ताल के लिए कृत संकल्प हैं और इसको अनिश्चित समय तक टालने की जिम्मेदारी श्री जमनादास मेहता, श्री वी.वी. गिरि और श्री एन.एम. जोशी (दक्षिण पंथी) जैसे नेताओं पर है जो इस समय रेलवेमैन फेडरेशन की नीति के संचालक हैं। साल के दौरान ट्रेड यूनियन फेडरेशन और ट्रेड यूनियन कांग्रेस के बीच समझौता कराने की कोशिशें भी की गईं लेकिन वे सब निष्फल रहीं। यद्यपि मई में रेल कर्मचारियों के मत संग्रह में आम हड़ताल के पक्ष में मत पड़े लेकिन फिर भी हड़ताल नहीं की गई। फिर भी जहां-तहां जब तब बहुत से स्थानों पर हड़तालें होती रहीं। अक्तूबर में मद्रास के पास पेरम्बूर की रेल वर्कशाप में हड़ताल हो गई और कई महीनों तक चली।

भारत की साम्प्रदायिक स्थिति कुल मिलाकर काफी सन्तोषजनक रही थी, केवल बम्बई ही इसका अपवाद थी जहां मई में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए थे। कुछ देशी रियासतों में अवश्य गड़बड़ हुई। इससे पहले साल कश्मीर में उपद्रव हुए जहां किसान लोग (जो अधिकांश मुसलमान हैं) वहां के हिन्दू महाराजा के खिलाफ विद्रोह कर उठे। यद्यपि किसानों की शिकायतें मुख्यतः आर्थिक थीं पर ब्रिटिश भारत में उनके मुसलमान समर्थकों और खुद किसानों ने भी कई बार अपने साथी हिन्दू प्रजा पर हमला करके उन्हें साम्प्रदायिक रूप दे दिया था। ब्रिटिश भारत की सेनाओं की सहायता से विद्रोह तो दबा दिया गया लेकिन महाराजा को इस सहायता की कीमत चुकानी पड़ी, वह थी ब्रिटिश सरकार की इन शर्तों को मानना कि रियासत में अंग्रेज अफसर नियुक्त करने होंगे। अपनी प्रजा को खुश करने के लिए उन्हें भी कुछ रियायतें देनी पड़ीं जैसे कि लगान में कुछ छूट, प्राथमिक शिक्षा का विस्तार, राज्य की नौकरियों में सभी सम्प्रदायों को हिस्सा और विधान सभा सहित कुछ वैधानिक सुधारों का श्रीगणेश। कश्मीर असेम्बली (विधान सभा) के लिए पहले चुनाव सितम्बर 1934 में हुए।[1] मई, 1937 को अलवर रियासत में कश्मीर की तरह का ही झगड़ा शुरू हो गया। अन्तर यही था कि वहां झगड़ा साम्प्रदायिक अधिक और आर्थिक कम था। विद्रोही मुसलमान प्रजा को दबाने के लिए ब्रिटिश भारत से फौज बुलानी पड़ी थी। महाराजा ने सहायता का तो स्वागत किया पर जब अंग्रेज सरकार ने अपनी शर्तें थोपनी चाहीं तो महाराजा ने उन्हें मानने से इन्कार कर दिया। महाराजा और ब्रिटिश सरकार में विवाद कुछ समय तक चलता रहा पर आखिर में उन्हें राज्य छोड़कर बाहर चले जाने का आदेश दिया गया और यह आदेश आज तक लागू है।

इस साल की एक आश्चर्यजनक घटना थी नवम्बर 1932 में हुए बर्मा के चुनावों के नतीजे। चुनावों में वहां की जनता को यह तय करना था कि बर्मा भारत के साथ रहना चाहता है या नहीं, इससे पिछले साल बर्मा में उतना भीषण किसान विद्रोह हुआ था जितना

1 [illegible] कि महाराजा के [illegible] 1932 [illegible] तक हल हो गए। लेकिन किसानों के [illegible] 1933 में महाराजा को राज्य छोड़ने का हुक्म दिया गया।

भारत में 1857 के बाद कभी देखने में नहीं आया। यह विद्रोह एक साल से भी अधिक चलता रहा। 1932 में स्थिति शान्त हो गई और वहा आम चुनाव कराने के आदेश दे दिए गए। इस आधार पर कि मतदाता सूचियां 1931 की बनी हुई हैं जबकि बहुत से जिलों में विद्रोह चल रहा था और पृथकता विरोधी पार्टी की चुनावों में कोई रुचि नहीं थी, पृथकता विरोधी नेताओं ने नई मतदाता सूचियां बनाने की मांग की। सरकार ने इस मांग को ठुकरा दिया और पुरानी मतदाता सूचियों के आधार पर ही चुनाव कराए गए। इसके बावजूद पृथकता विरोधी स्पष्ट बहुमत में आए। जब दिसम्बर में नव-निर्वाचित कौंसिल की बैठक हुई तो लम्बी बहस के बाद निम्नलिखित प्रस्ताव बिना विभाजन के स्वीकार किया गया :

1. 12 जनवरी, 1932 के बर्मा गोलमेज सम्मेलन मे प्रधानमंत्री के वक्तव्य में पृथक बर्मा के जिस विधान के आधार पर बर्मा को पृथक करने का प्रस्ताव है यह कौंसिल उसका विरोधी करती है।

2. यह कौंसिल भारत के साथ बर्मा के बिना शर्त और स्थायी संघ का जोरदार विरोध करती है।

3. यह कौंसिल बर्मा के भारत से पृथक होने का तब तक विरोध करती रहेगी जब तक बर्मा को कुछ शर्तों पर (जैसा कि संशोधन में स्पष्ट किया गया है) सविधान नहीं मिल जाता है।

विकल्प के रूप में कौंसिल यह प्रस्ताव करती है कि बर्मा कुछ शर्तों के साथ जिनमें पृथक होने का अधिकार भी शामिल होगा, भारतीय सघ में शामिल हो जाए।

4. यह कौंसिल मांग करती है कि निश्चित आधार पर अलग इकाई के रूप में अथवा पृथक हो सकने की शर्त सहित निर्धारित शर्तों पर भारतीय संघ की इकाई के रूप में बर्मा का भावी सविधान बनाने के लिए जल्दी ही सम्मेलन बुलाया जाए। (खंड 3 और 4 प्रस्ताव में शामिल संशोधन थे।)

कुछ भी हो, सरकार ने प्रस्ताव को भारत के साथ संघ में बिना शर्त शामिल होने का मत नहीं माना और कहा कि सशर्त सघ सभव नहीं है। सरकार की वर्तमान नीति बर्मा को भारत से अलग करने की है और उसी नीति के अनुसार नवम्बर-दिसम्बर 1932 के गोलमेज सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन में बर्मा को अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए आमंत्रित नहीं किया गया।

नवम्बर के अंत में इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली के सामने एक बहुत महत्वपूर्ण विषय विचारार्थ उपस्थित हुआ। वह था ओटावा समझौता। यह समझौता कनाडा में ओटावा में अगस्त 1936 से भारत सरकार के नामजद प्रतिनिधियों ने इम्पीरियल इकोनामिक्स कांफ्रेंस (शाही आर्थिक सम्मेलन) में किया था। इस समझौते का उद्देश्य भारत के ऊपर

ब्रिटिश हित (इम्पीरियल प्रेफरेंस) की ऐसी योजना थोपना था जिसके अनुसार भारत के लिए ब्रिटेन से कम से कम 26 प्रतिशत आयात करना जरूरी था। इस ओटावा समझौते की पुष्टि के खिलाफ देश में बहुत असन्तोष प्रकट किया जा रहा था। असेम्बली में राष्ट्रवादी सदस्य मौजूद नहीं थे इसलिए समझौते को बिल्कुल ठुकरा दिया जाना संभव नहीं था। समझौते को एक प्रवर समिति के सुपुर्द कर दिया गया जिसकी बहुमत रिपोर्ट को सर एच.एस. गौड़ ने असेम्बली में प्रस्तुत किया और उसे स्वीकार कर लिया गया। समझौते की तीन वर्ष के लिए पुष्टि की गई और इसके और इसके बाद इसे फिर असेम्बली के विचारार्थ पेश किया जाना था। एक और प्रावधान यह किया गया कि सरकार को हर वर्ष एक रिपोर्ट तैयार करनी चाहिए जिसमें इस बात की समीक्षा की गई हो कि पसंदों अर्थात प्रेफरेंसों का भारत के आयात-निर्यात व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा है और इस रिपोर्ट पर असेम्बली द्वारा नियुक्त 15 सदस्यों की एक समिति विचार करे। ओटावा समझौते के अनुसार नए शुल्क 16 जनवरी, 1933 से लागू हुए।

इस संबंध में यह जानने की बात है कि 21 सितम्बर, 1931 से जब से इंग्लैंड गोल्ड व्यवस्था से बाहर हुआ था तब से लेकर 31 दिसम्बर, 1932 तक बम्बई से 1,05,27,60,190 (105 करोड़) रुपये मूल्य के सोने का निर्यात हो चुका था। सरकार से चेम्बर्स आफ कामर्स, व्यापारियों और जन-नेताओं ने सोने के इस प्रकार देश से बाहर न जाने देने की अपीलें की लेकिन उनका कोई असर नहीं पड़ा। उदाहरणार्थ, महाराष्ट्र चेम्बर आफ कामर्स, बम्बई ने भारत सरकार को लिखा कि उसे बैंक आफ इंग्लैंड की मिसाल को सामने रख कर सोना खरीदना चाहिए। चेम्बर का कहना था कि भारत के पास 1 अरब 75 करोड़ 26 लाख रुपये के नोटों के मुकाबले केवल 11 करोड़ 23 लाख रुपये के मूल्य का स्वर्ण भंडार है इसलिए सरकार के लिए और सोना खरीदना उचित होगा।[1]

एक और महत्वपूर्ण मामला सितम्बर में असेम्बली के सामने आया। यह था फौजदारी कानून संशोधन बिल, 1932। इस बिल का उद्देश्य वाइसराय के द्वारा जनवरी में जारी किए गए उन आर्डिनेंसों को कानून का रूप देना था जो जून में स्पेशल पावर्स आर्डिनेंस, 1932 के रूप में जारी किया गया था। यह आर्डिनेंस चूंकि दिसम्बर में समाप्त होने वाला था इसलिए या तो उसको आगे बढ़ाना था या फिर इसको कानून का रूप देना जरूरी था। इस बिल के संबंध में जैसा कि ओटावा समझौते के समय हुआ था, राष्ट्रवादी सदस्यों की अनुपस्थिति बहुत खटकी। राष्ट्रवादी सदस्य 1930 में असेम्बली से त्यागपत्र दे चुके थे। नवम्बर में यह बिल कानून बन गया।

1. तब से लेकर अब तक भारत से सोना अबाध रूप से बाहर जा रहा है। बम्बई से 6 अक्तूबर, 1934 को जारी प्रेस वक्तव्य के अनुसार जब से इंग्लैंड गोल्ड स्टैंडर्ड से बाहर निकला तब से बम्बई से 1,97,89,699 (197 करोड़) रुपये मूल्य का सोना निर्यात हो चुका था।

अगस्त के महीने में लंदन की इंडियन लीग का एक प्रतिनिधिमंडल भारत आया। इसमें भूतपूर्व संसद सदस्य कुमारी मोनिका व्हेटले, श्री लियानार्ड मैटर्स और श्री कृष्णामेनन मंत्री थे। और ये लोग भारत में राजनीतिक स्थिति का अध्ययन करने आए थे। भारत में अपने प्रवास में इन लोगों ने न तो कोई सार्वजनिक भाषण दिए और न समाचार पत्रों को साक्षात्कार दिये। बस महात्मा गांधी के अनशन के समय उन्होंने द्रवित होकर अपना मौन तोड़ा और यह घोषणा की कि 'महात्मा गांधी के हट जाने का अर्थ ऐसी सबसे बड़ी शक्ति का हट जाना है जो ब्रिटेन के साथ मित्रता के लिए काम कर रही है।

1932 के वर्ष की समीक्षा करने पर कोई भी कह सकता है कि कुल मिलाकर इसका प्रारंभ उत्तेजना और उत्साह के साथ हुआ लेकिन जैसाकि महात्माजी के आन्दोलनों के साथ हुआ है इसकी समाप्ति एन्टी क्लाईमेक्स में हुई। महात्माजी का ऐतिहासिक अनशन एक खास मोड़ पर था और उस क्षण से सरकार निश्चित रूप से कांग्रेस पर हावी हो गई। जब साल खत्म होने को आया तो अधिकांश कांग्रेसजनों के मन में सबसे ऊपर यही विचार था कि अस्पृश्यता निवारण को किस प्रकार आगे बढ़ाया जाए और कांग्रेसी नेताओं की कोशिशों से अनेक मंचों से ऐसे प्रस्ताव पास किए जा रहे थे जिनमें वाइसराय से अनुरोध किया जा रहा था कि वह मद्रास लेजिस्लेटिव कौंसिल और इंडियन लेजिस्लेटिव कौंसिल मे जो मन्दिर प्रवेश बिल पेश है उन्हें अपनी मंजूरी दे दें। वाह! क्या सविनय अवज्ञा थी।

अध्याय 14

पराजय और आत्म-समर्पण (1933-34)

नए साल के आते-आते ऐसे कांग्रेसजनों ने, जो राजनीतिक रूप से अधिक जागृत थे, यह अनुभव करना शुरू किया कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के मर जाने का खतरा है। इसलिए 1933 की 26 जनवरी को स्वाधीनता दिवस बहुत उत्साह से मनाने का निश्चय किया गया ताकि लोगों में फिर से जोश पैदा किया जा सके। हर जगह वातावरण उत्साहजनक था। केवल कलकत्ता में ही पुलिस को 300 गिरफ्तारियां करनी पड़ीं और एक प्रदर्शन को तितर-बितर करने के लिए ताकत का इस्तेमाल करना पड़ा। बंगाल के हुगली जिले के आराम बाग सब-डिविजन में कांग्रेस के एक जुलूस को तितर-बितर करने के लिए गोली चलानी पड़ी। स्वाधीनता दिवस समारोहों के सिलसिले में गुजरात के बोरसद नामक स्थान पर स्त्रियों के एक जुलूस का नेतृत्व करने के कारण श्रीमती गांधी को गिरफ्तार किया गया और 7 फरवरी को छह महीने की सजा सुनाई गई। 17 मार्च को सरकार की ओर से श्वेतपत्र प्रकाशित किया गया जिसमें भारत के लिए वैधानिक सुधारों के प्रस्तावों की घोषणा की गई थी। इस घोषणा के होते ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में बुलाया गया। इसके मनोनीत अध्यक्ष पं. मदनमोहन मालवीय थे। 1932 के कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन की तरह इस अधिवेशन पर भी सरकार ने फौरन प्रतिबंध लगा दिया। फिर भी देश भर से कांग्रेस प्रतिनिधि और नेता इस अवसर पर 11 अप्रैल को कलकत्ता आए। सब बड़े-बड़े नेता जैसे कि पं. मदनमोहन मालवीय, श्रीमती मोतीलाल नेहरू, श्री एम.एस. अणे (मध्य प्रांत), डा. आलम (पंजाब), डा. सैयद महमूद (बिहार) पकड़ लिए गए। श्रीमती जे.एम. सेनगुप्त 2500 कांग्रेसजनों के जुलूस के साथ नियत स्थान की ओर चलीं और वहां उनके सभापतित्व में सभा हुई। निम्नलिखित बातों के बारे में पुनः अपना विश्वास दुहराते हुए प्रस्ताव पारित किए गए:

(1) स्वाधीनता का लक्ष्य,

(2) इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सविनय अवज्ञा के मार्ग की उपयुक्तता और

(3) विदेशी कपड़े और हर किस्म के ब्रिटिश माल का बायकाट।

सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव वह था जिसमें श्वेतपत्र के प्रस्तावों की बहुत बलपूर्वक निंदा की गई थी। सभा के समाप्त होने से पहले ही भारी संख्या में पुलिस सभास्थल पर पहुंच गई और उसने श्रीमती सेनगुप्त और 250 अन्य लोगों को गिरफ्तार कर लिया जिनमें 40 महिलाएं थीं और सभा को जबरदस्ती तितर-बितर कर दिया गया। मनोनीत सभापति आदरणीय पं. मदनमोहन मालवीय के भाषण के निम्नलिखित अंश देश की उस समय की भावना को प्रकट करते हैं:

"अनुमान है कि करीब 1,20,000 व्यक्ति जिनमें हजारों स्त्रियां और बहुत से बच्चे भी शामिल हैं, इन पिछले 15 महीनों में गिरफ्तार किए जा चुके हैं। यह अब एक खुला रहस्य है कि जब सरकार ने दमन शुरू किया था तो अधिकारियों को यह उम्मीद थी कि वे छह सप्ताह में कांग्रेस को कुचल डालेंगे। अब 15 महीने बाद भी सरकार का यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सका है और उसके दुगुने समय में भी वह यह नहीं कर पाएगी।"

यह समीक्षा किसी गर्म मिजाज के युवक की नहीं बल्कि एक ऐसे व्यक्ति की है जिनकी गिनती कांग्रेस के सबसे पुराने और सबसे नरम नेताओं में हो जाती थी। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि तैयारी न होने के बावजूद, जनवरी 1932 में महात्माजी के अनशन के कारण ध्यान बंटने और उसके बाद अस्पृश्यता निवारण आंदोलन से कांग्रेस की अपील पर देश ने जो समर्थन किया उसे असंतोषजनक नहीं कहा जा सकता। लेकिन मई में एक दिन लोग यह सुनकर भौंचक्के रह गए जब उन्होंने सुना कि महात्माजी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया है।

जेल के रहते हुए ही महात्माजी ने अपने उन अनुयायियों द्वारा जेल से बाहर के अछूतोद्धार में पूरी लगन से काम न कर सकने के प्रायश्चित स्वरूप तीन सप्ताह अनशन[1] करने का निश्चय किया। इस अनशन का उद्देश्य हृदय परिवर्तन था—अंग्रेज नौकरशाही का नहीं, अपने देशवासियों का जो अछूतों की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार थे। सरकार को इस प्रकार के अनशन के बारे में क्या आपत्ति हो सकती थी और सच तो यह है कि ब्रिटिश समाचार एजेंसियों की कृपा से यूरोप के समाचार पत्रों[2] में अनशनों की खबरों का व्यापक प्रचार हुआ क्योंकि इससे भारत के लोगों के आपसी भेद भावों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने में मदद मिलती थी। फिर भी सरकार ने सोचा कि उन्हें मुक्त कर देना ही बुद्धिमत्ता होगी। अपनी रिहाई के अगले दिन ही उन्होंने उपर्युक्त घोषणा की।[3] पहले तो सविनय अवज्ञा आंदोलन छह सप्ताह के लिए ही स्थगित किया गया था, लेकिन बाद

---

1 सितंबर के प्रसिद्ध अनशन के बाद महात्माजी एक बार दिसम्बर में भी अनशन कर चुके थे। पर यह अनशन लम्बा नहीं था। इस अनशन को उन्होंने अपने और अपने साथियों की हरिजन सेवा की खातिर अधिक तत्परता और जागरूकता के निमित्त आत्म-शुद्धि के लिए हार्दिक प्रार्थना बताया था।

2. जब यूरोप के अखबारों में महात्माजी के अनशन की खबर छपी तो लेखक वियना में था। 14 माह की कैद के बाद जब मेरा स्वास्थ्य खतरनाक स्थिति में पहुंच गया तो लखनऊ के ले. कर्नल बर्कले (आई. एम. एस.) ने जो मेरा इलाज कर रहे थे, आगे भी इलाज के लिए यूरोप भेजे जाने की सिफारिश की। इस पर भारत सरकार ने मुझे अपने ही खर्च पर यूरोप जाने की अनुमति दे दी। मुझे बम्बई लाकर छोड़ दिया गया। वहां से जहाज से रवाना होकर मैं मार्च 1933 में वियना पहुंचा।

3. इस बारे में तो केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है कि क्या सरकार जानती थी कि यदि महात्माजी को रिहा कर दिया गया तो वह आंदोलन को वापस ले लेंगे। 8 मई, 1933 को जब महात्माजी ने अपना अनशन आरंभ किया था तो सरकार ने एक विज्ञप्ति जारी की थी जिसमें कहा गया था कि अनशन का लक्ष्य जिस प्रकार का है उसे और उससे जिस मनोस्थिति का पता चलता है उसको देखते हुए सरकार ने निश्चय किया कि महात्माजी को मुक्त कर देना चाहिए। उनकी रिहाई के बाद कांग्रेस के कार्यकारी अध्यक्ष श्री एम.एस. अणे ने महात्माजी की सिफारिश पर सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने का आदेश दिया।

में स्थगन को छह सप्ताह के लिए यानि जुलाई के अत तक बढा दिया गया। बिना किसी कारण या आधार के आदोलन स्थगित करने से आम हालात में काग्रेस मे जबरदस्त और व्यापक विद्रोह हो जाना चाहिए था लेकिन चूकि इस समय महात्माजी अनशन पर थे जो उनके प्राण भी ले सकता था, इस कारण फिलहाल किसी ने चू तक नहीं की। सविनय अवज्ञा आदोलन को स्थगित करने के साथ महात्माजी ने भारत सरकार से अपील की कि वह सभी आर्डिनेंसों को वापस ले ले और अवज्ञा आदोलन के कैदियों को छोड दे। लेकिन दुर्भाग्य से कोई भी प्रस्थापित सरकार अपनी नीति को बरकरार रखती है और वह व्यक्ति की तरह अपनी नीति चटपट नहीं बदल सकती। इस तरह महात्माजी की अपील का उत्तर नकारात्मक था। भारत में जो काग्रेसजन थे वे मई 1933 के आत्मसमर्पण के बाद महात्माजी के विरुद्ध कुछ भी बोलने के या तो अनिच्छुक थे या डरते थे लेकिन स्व विट्ठलभाई पटेल[1] और मैंने वियना से महात्माजी के निर्णय की निदा करते हुए एक घोषणापत्र जारी किया था। इस घोषणापत्र मे कहा गया था कि महात्माजी के निर्णय ने पिछले 13 वर्षों के काम और कुर्बानियो पर पानी फेर दिया है। इससे सविनय अवज्ञा आदोलन और महात्माजी के नेतृत्व की असफलता का पता चलता है। महात्माजी के स्वास्थ्य की जनता को इस समय इतनी चिता थी कि इस घोषणापत्र का उतना प्रभाव नहीं हुआ जितना अन्यथा होता। यहा तक कि मित्रों ने भी यह सोचा कि जब अनशन के कारण महात्माजी की जान जोखिम मे थी उस समय उनकी आलोचना करना बडा बेरहमी का काम था।

जुलाई में महत्वपूर्ण काग्रेसजनों का, जो जेलों से बाहर थे, पूना में सम्मेलन हुआ। इसे अ भा काग्रेस समिति की अधिकृत बैठक कहा जा सकता है। सम्मेलन मे दो गुट थे—एक यह कहता था कि आदोलन को पूरी तरह वापस ले लेना चाहिए और दूसरा इस पक्ष में था कि आदोलन को पूरी शक्ति के साथ फिर शुरू करना चाहिए। सभवत पहला गुट बहुमत में था और इस गुट के अधिकाश सदस्य स्वराज पार्टी की नीति को अर्थात् लडाई की विधान मडलों (लेजिस्लेटिव) के भीतर लडने के पक्ष में था। यह नीति दिसम्बर 1929 मे लाहौर काग्रेस मे त्याग दी गई थी। लेकिन अत में सम्मेलन महात्माजी के आगे झुक गया। उन्हीं के इशारे पर सम्मेलन में यह फैसला किया गया कि महात्माजी को एक बार फिर वाइसराय से मिलने की कोशिश करनी चाहिए और उनसे किसी प्रकार का समझौता कर लेना चाहिए। यदि इसमें वह सफल नहीं होते तो काग्रेस को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आदोलन चलाना चाहिए लेकिन जन-आदोलन को पूरी तरह त्याग देना चाहिए। इसका उद्देश्य यह था कि काग्रेस को बडे पैमाने पर किसी प्रकार का जन-आदोलन नहीं चलाना चाहिए बल्कि हर व्यक्ति पर छोड देना चाहिए कि वह यदि उचित

---

1 स्व० विट्ठल भाई पटेल अमरीका में भारत के लिए छह महीने के प्रचार-दौरे के बाद लौटे थे। इसी दौरे की थकान और मेहनत ने अतत उनकी जान ले ली। वह और मैं उस समय वियना में इलाज करा रहे थे।

समझे तो किसी भी कानून को अपनी निजी जिम्मेदारी पर तोड़े। पूना सम्मेलन के बाद महात्माजी ने वाइसराय से भेंट करने की कोशिश की थी लेकिन उन्हें मिली अपमानजनक दुत्कार। इसके बाद उन्होंने और उनके कुछ निकट अनुयायियों ने व्यक्तिगत अवज्ञा आंदोलन शुरू किया और अगस्त 1933 तक वे सब फिर से जेलों में डाल दिए गए। इस बार महात्माजी की गिरफ्तारी से भी कोई खास उत्तेजना नहीं फैली।

महात्माजी के वफादार अनुयायियों ने देशभर में व्यक्तिगत अवज्ञा की और इसके परिणामस्वरूप कुछ लोग फिर से जेलों में डाल दिए गए। लेकिन यह तो पहले ही मालूम था कि जब व्यापक जन-आंदोलन सफल नहीं हुआ तो व्यक्तिगत अवज्ञा का कोई ठोस परिणाम नहीं निकलने वाला है। जेल में जाने के बाद महात्माजी को मालूम हुआ कि उनकी पिछली जेलयात्रा में सितम्बर 1932 से उन्हें जेल के भीतर से अछूतोद्धार आंदोलन चलाने के लिए जो सुविधाएं दी गई थीं वे इस बार नहीं मिलेंगी।[1] इस पर सरकार को उन्होंने नोटिस दे दिया कि यदि मुझे वही सुविधाएं नहीं दी गईं तो मुझे विवश होकर अनशन करना पड़ेगा। एक साधारण व्यक्ति के लिए यह समझना कठिन है कि उनके इस आजीवन सिद्धांत से कि सत्याग्रही को जेल के अनुशासन का स्वेच्छा से पालन करना चाहिए उनका यह रवैया कहां तक मेल खाता है। खैर, सरकार इससे फिर से एक कठिन परिस्थिति में पड़ गई। उस समय तक सरकार समझ गई थी कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन यों ही अपने आप मर जाने वाला है इसलिए महात्माजी को जेल से छोड़ देने में कोई जोखिम नहीं है। अतः एक बार फिर महात्माजी मुक्त कर दिए गए। जेल से बाहर आने पर महात्माजी ने घोषणा की कि क्योंकि मुझे अगस्त 1933 में एक वर्ष की कैद की सजा दी गई थी और सरकार ने मुझे इस अवधि की समाप्ति से पहले ही छोड़ दिया है इसलिए मैं अगस्त 1934 तक अपने आपको कैदी ही समझूंगा और इस अवधि में सविनय अवज्ञा नहीं करूंगा।

सविनय अवज्ञा करने से पहले महात्माजी ने जुलाई में एक वक्तव्य दिया था जिसमें कहा गया था कि कांग्रेस के काम में सविनय अवज्ञा आंदोलन के संचालन में बहुत अधिक गोपनीयता बरती जा रही है और इसी गोपनीयता के कारण ही कांग्रेस को असफलता का मुंह देखना पड़ा। महात्माजी की दृष्टि में कांग्रेस संगठन काफी भ्रष्ट हो चुके थे। इसके बाद जल्दी ही महात्माजी के कहने पर कांग्रेस के कार्यकारी अध्यक्ष श्री एम एस अणे ने देशभर में कांग्रेस संगठनों को भंग करने के आदेश दिए। अब तो अस्त-व्यस्तता का ठिकाना ही नहीं रहा। बेचारी जनता क्या करती? महात्माजी का तर्क भला सामान्य मनुष्य की समझ मे कहां आने वाला था और जो लोग सच बोल सकते थे, वे उपलब्ध नहीं थे। इसी मौके पर पं जवाहरलाल नेहरू दो साल की कैद काटने के बाद जेल से रिहा

1 इसके बारे में सरकार ने यह कारण दिया था कि पहली बार उन्हें बिना मुकदमा चलाए जेल मे रखा गया था और इस बार उन्हें बाकायदा मुकदमा चला कर सजा दी गई थी।

कर दिए गए। सबकी आँखें उनकी ओर लगी थीं कि देखें कि वे क्या करते हैं। वह एक ऐसे व्यक्ति थे जो महात्माजी पर प्रभाव डाल सकते थे, जो कांग्रेस को उस दलदल से निकाल सकते थे जिनमें वह जा फंसी थी। प नेहरू और महात्माजी में लम्बी बातचीत हुई और उसके बाद दोनों में पत्र-व्यवहार हुआ। यह पत्र-व्यवहार बाद में बाकायदा प्रकाशित भी किया गया लेकिन उसे ढूढने पर मालूम हुआ कि वह व्यावहारिक की बजाय सैद्धांतिक अधिक था। जनता तो यह नहीं जानना चाहती थी कि किस बात पर प नेहरू और महात्माजी मौलिक रूप से महमत हैं या असहमत हैं बल्कि शीघ्र से शीघ्र यह जानना चाहती थी कि कांग्रेस में जान और ताकत कैसे डाली जाए। अपनी स्वाधीनता की चार मास की अवधि में प नेहरू ने अपने समाजवादी और साम्यवादी विचारों को खुलकर प्रकट किया लेकिन इससे कांग्रेस में प्राण-संचार नहीं हुआ। अपने एक बहुत ही रुचिकर और विद्वतापूर्ण लेख 'विदर इंडिया' (भारत किधर) में उन्होंने सामाजिक और आर्थिक समानता, विशेष वर्गों को मिलने वाले विशेषाधिकारों और निहित स्वार्थों की समाप्ति की बात की लेकिन इससे कांग्रेस का रत्ती भर भी फायदा नहीं पहुंचा। ऐसे व्यक्ति में जो महात्माजी के बाद सबसे अधिक लोकप्रिय हो, जिसकी अपने देशवासियों में असीम प्रतिष्ठा हो, जिसके पास उच्च विचारों से सम्पन्न स्पष्ट मस्तिष्क हो, जिसको आधुनिक जगत के आंदोलन का ज्ञान हो, यदि नेतृत्व का यह अनिवार्य गुण अर्थात् समय पर निर्णय लेने और आवश्यकता हो तो लोकप्रियता खोने को भी तैयार होने' के गुण का अभाव होना बड़ी निराशा की बात थी। लेकिन इसका कोई इलाज भी तो नहीं था। जिसकी उनसे आशा की जाती थी, उनकी पूर्ति उनसे छोटे आदमियों को करनी पड़ी।

पंडित नेहरू के बाद बम्बई के नेता श्री के एफ नरीमन भी छोड़ दिए गए और उन्होंने जुलाई 1933 के पूना सम्मेलन के फैसले पर अपने विचार सार्वजनिक रूप से प्रकट करना शुरू किया। क्योंकि वाइसराय ने महात्माजी से बिना शर्त भेंट करने से इंकार कर दिया था इसलिए उनके अगस्त 1933 में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने के निर्णय के बारे में उन्होंने कहा कि "भेंट (इंटरव्यू) या मौत' इस समय का राष्ट्रीय नारा है—पिछले अगस्त में जो अवज्ञा आंदोलन शुरू किया गया है वह स्वराज के लिए नहीं है और न ही राजनीतिक, वैधानिक प्रगति के लिए है। वह केवल बिना शर्त भेंट के खुद-ब-खुद मान लिए गए 'राष्ट्रीय अधिकार' के बारे में है। यदि वह अधिकार मान लिया गया होता तो सशोधित व्यक्तिगत सत्याग्रह भी वापस ले लिया जाता और सरकार तथा जनता के बीच शांति स्थापित हो जाती, भले ही कांग्रेस का लक्ष्य पूरा न हुआ होता।" महात्माजी ने गोपनीयता की जो निंदा की थी उसकी आलोचना करते हुए उन्होंने कहा, "आधुनिक युद्ध या खेल के कौन से नियम के अनुसार हम अपनी योजनाओं को पहले से अपने

1 प. नेहरू की यह कमी और भी कई अवसरों पर देखने में आई थी जब जबकि कांग्रेस संकट से गुजर रही थी उदाहरणार्थ 1923-24 में और उसके बाद 1928-29 में।

शत्रु को बता देने के लिए बाध्य हैं? लेकिन मैं भूल गया यह राजनीतिक लड़ाई नहीं धार्मिक लड़ाई है, अतः इस पर न तो खेल के और न ही आधुनिक युद्ध के नियम लागू होते हैं। अपनी योजनाओं और आगामी कदमों की गोपनीयता तो सभी आधुनिक आंदोलनों और संघर्षों का आधार है।" जन-आंदोलन को बंद करके व्यक्तिगत अवज्ञा आंदोलन जारी रखने के बारे में उन्होंने कहा : "किसी व्यक्ति को यह कहने के लिए कि तुम अपनी जिम्मेदारी पर कानून तोड़ो और उसके परिणाम भुगतो, *क्या इतनी बड़ी राष्ट्रीय कांग्रेस की जरूरत है? . . .* जैसा वह चाहे करे और उसके परिणाम भोगे। यह स्वतंत्रता तो मनुष्य को, हजरत आदम के जमाने से हमेशा प्राप्त रही है।" फिर उन्होंने महात्माजी के इस दावे को लिया कि "*केवल एक व्यक्ति के भी सविनय अवज्ञा आंदोलन जारी रखने* से इतना उग्र जन-आंदोलन फिर खड़ा हो सकता है जिसे, कितना भी दमन करने पर दबाया नहीं जा सकता।" श्री नरीमन ने कहा कि "इसके विपरीत यदि 'अकेले आदमी' *के सिद्धांत को सच माना जाए तब तो इतने प्रेरणाप्रद, अविस्मरणीय, खून खौलने वाले,* देशभक्तिपूर्ण और वीरता की मिसाल (अर्थात टैरेंस मैकविने और यतीनदास की आत्माहुति) से तो सारे भारत और आयरलैंड की काया पलट हो जानी चाहिए थी . . . असल में *सारी गलत धारणा उसी अपुष्ट सिद्धांत और फिसलती नींव पर आधारित है जिसका नाम* है 'हृदय परिवर्तन'—माना कि इस तरह की पीड़ा और कष्टों को देखकर अंग्रेज पिघल जाएंगे और हथियार डाल देंगे।" सभी कांग्रेस संगठनों को भंग करने या मुअत्तल करने *के निर्णय के बारे उन्होंने यह तर्क दिया: "जो राष्ट्रीय सभाएं व संस्थाएं जनता के मतों* से अस्तित्व में आई हैं उन्हें कोई भंग नहीं कर सकता।" अंत में उन्होंने प्रश्न किया: "हम महात्माजी को कैसे राजी करें कि वह गलती करते जाने, धर्म और राजनीति को *मिलाते जाने की अपनी कभी न सुधरने वाली आदत को बदलें?"* श्री नरीमन ने अपनी राय देते हुए कहा कि "इसका इलाज यही है कि गांधीजी के लिए स्व. मोतीलाल नेहरू जैसा ही स्पष्ट और मुंहफट वक्ता और दिग्गज पैदा करें न कि सिले होंठ वाली ममियां *और ऐसी कठपुतलियां जिनकी गर्दन ऊपर-नीचे या दाएं-बाएं हिलाने की डोर महात्माजी* के हाथ में हों।"

फिर भी कार्यसमिति में एक व्यक्ति ऐसा अवश्य था जिसको देखकर कुछ आशा और उत्साह पैदा होता था और जिसमें सही और दो टूक बात करने का साहस था। *यद्यपि श्री नरीमन का विश्लेषण बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण होता था पर वह कृतित्व में दुर्बल थे।* वर्तमान गतिरोध को दूर करने के लिए अ.भा. कांग्रेस समिति की बैठक बुलाने के श्री नरीमन के सुझाव को महामंत्री पं. नेहरू ने गम्भीरता से नहीं लिया और जब उन्हें कलकत्ता में एक राजद्रोही भाषण देने के अपराध में जनवरी 1934 में जेल में डाल दिया गया, तब तो अंधकार में आशा की कोई किरण दिखाई ही नहीं देती थी। उस हालात से निपटने की जिम्मेदारी आई दिल्ली के मुसलमान नेता डा. एम. ए. अंसारी पर। 1933 में जब

जब इंग्लैंड गए तो उस समय उन्हें कंजरवेटिव राजनीतिज्ञों की अकड़ से बड़ी चोट पहुंची थी और उन्होंने उनके इस दावे से बड़ा तिरस्कार अनुभव किया था कि कांग्रेस मिट गई और गिर गई है। उनकी इस भावना को और अधिक तब ठेस पहुंची जब उन्होंने भारत लौटकर यह देखा कि कांग्रेस एक तरह से खिसक रही है। महात्माजी से कांग्रेस में फिर से जान डालने की अपील करने के बाद उन्होंने कलकत्ता के डा. विधान चंद्र राय से कहकर अपने जैसे विचारों के कांग्रेसजनों का एक सम्मेलन मार्च 1934 में दिल्ली में बुलाया। उस समय तक अवज्ञा आंदोलन मर चुका था लेकिन आर्डिनेंसों के कारण कांग्रेस काम नहीं कर सकती थी और इन आर्डिनेंसों को सरकार तब तक वापस लेने को तैयार नहीं थी जब तक कि सविनय अवज्ञा आंदोलन बिना शर्त वापस न ले लिया जाए। अब यही रास्ता बचा था कि कांग्रेस नेता अपना पुनः चाहें और सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लें और इस तरीके के आर्डिनेंसों को वापस लिए जाने या स्थगित कराने का रास्ता साफ करें। दिल्ली विधान मंडल के लिए चुनाव लड़ने के वास्ते स्वराज पार्टी को जीवित करने का निश्चय करके सम्मेलन ने इसके लिए योजना तैयार की।[1] अगले महीने इसी विषय को और आगे बढ़ाने के लिए एक बड़ा सम्मेलन बुलाया गया। इसके लिए बिहार में रांची नामक स्थान को चुना गया क्योंकि उस समय महात्माजी वहां रहने वाले थे। इस सम्मेलन ने दिल्ली सम्मेलन के अ. भा. स्वराज पार्टी को जीवित करने के निर्णय की पुष्टि की और इसके प्रमुख प्रस्तावकर्ता डा. अंसारी और डा. विधान चंद्र राय महात्माजी का समर्थन प्राप्त करने में सफल भी हो गए। अगले महीने मई में पटना में अ. भा. कांग्रेस समिति का अधिवेशन बुलाया गया जो कि तीन साल के बाद हो रहा था। इस बैठक में सब लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ जब महात्माजी ने स्वयं इस बात को रखा कि कांग्रेसजनों को विधान मंडलों में जाना चाहिए। इस निर्णय का पहले से अधिक महत्व इस कारण था कि भारत सरकार ने इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली को भंग करने और नवम्बर में दुबारा चुनाव कराने का निश्चय कर लिया था। अ० भा० कांग्रेस समिति ने यह फैसला किया कि स्वराज पार्टी को काम करने की अनुमति देने की बजाय कांग्रेस को स्वयं चुनाव लड़ने की जिम्मेदारी उठानी चाहिए और इसके लिए एक संसदीय बोर्ड नियुक्त किया। समिति ने अवज्ञा आंदोलन को वापस लेने का भी निश्चय किया। हां, महात्माजी ने सविनय अवज्ञा शुरू करने का अधिकार अपने पास रखा। एक बार फिर

---

1. दिल्ली सम्मेलन से पहले एक और सम्मेलन किया गया था जो कांग्रेस स्वराज पार्टी बम्बई में हो चुका था जिसमें श्री एन. सी. केलकर (पूना) और श्री जमनादास मेहता (बम्बई) के प्रयत्नों से चुनाव गत था। उनका उद्देश्य आगामी चुनावों में भाग लेने के लिए तैयार करना था। इस सम्मेलन को महाराष्ट्र के सब भागों से काफी समर्थन मिला था।
2. 7 अप्रैल, 1934 को महात्माजी ने एक वक्तव्य जारी करके सभी कांग्रेसजनों से स्वराज प्राप्ति के साधन के रूप में सविनय अवज्ञा को स्थगित करने की सलाह दी और कहा था कि केवल एक ही व्यक्ति, मैं स्वयं इसकी जिम्मेदारी लूंगा। इस अपील के आग्रह को अ. भा. कांग्रेस समिति ने मई में और बम्बई कांग्रेस ने अक्टूबर 1934 में स्वीकार कर लिया था।

सरकार को पहले से ही पता चल गया था कि अ. भा कांग्रेस समिति क्या फैसला करने वाली है और इसलिए खुले रूप से समिति की बैठक करने में कोई रुकावट नहीं डाली गई हालांकि यह अभी तक गैर कानूनी संस्था थी। इस बैठक के बाद जब सरकार ने देख लिया कि पूरी तरह कांग्रेस की हार हो चुकी है और उसने पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया है तो अधिकाश संगठनों पर से देश भर में पाबंदियां उठा ली गईं और उन्हें काम करने की अनुमति दे दी गई।

अ भा. कांग्रेस समिति के आगामी चुनावों में हिस्सा लेने के निर्णय को चुनौती दी गई। लेकिन इस बार यह विरोध अपरिवर्तनवादी गुट की तरफ से नहीं था क्योंकि उनके नेता महात्माजी स्वयं कौंसिल प्रवेश प्रस्ताव के प्रस्तावक थे। इस बार इसका विरोध किया नवगठित कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने। जब अ. भा कांग्रेस समिति का अधिवेशन चल रहा था तो विरोध करने वालों ने अपनी पार्टी का एक अलग सम्मेलन आयोजित किया। इस पार्टी को संयुक्त प्रांत और बम्बई से प्रबल समर्थन मिला और शेष भारत से भी काफी समर्थन प्राप्त हुआ। जो जानकारी मिली है उससे पता चलता है कि समाजवादी पार्टी ने केवल उन्हीं लोगों के लिए नहीं जो समाजवाद में विश्वास रखते हैं, बल्कि उन लोगो के लिए भी एक मच प्रदान किया है जो कांग्रेस की कौंसिल प्रवेश की नीति से संतुष्ट नहीं हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि कौंसिल प्रवेश का विरोध समाजवादी पार्टी की तरफ से हुआ क्योंकि यदि इस नीति को अन्य दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी समझा जाए तो कौंसिल में जाकर संघर्ष करने में समाजवाद विरोधी कोई बात नहीं है। शायद हो सकता है कि समाजवादी पार्टी में अग्रगामी और उग्र शक्तियां हों इसलिए उन्होंने उस पार्टी का विरोध करना स्वभावतः आवश्यक समझा जिसमें सारे नरमदलीय तत्व आकर इकट्ठा हो गए हैं और इसमें भी कोई शक नहीं है कि जिन लोगों ने 1934 में स्वराज पार्टी को दुबारा जिलाने में आगे बढ़कर हिस्सा लिया वह उस लड़ाकू गुट से बिल्कुल भिन्न हैं जो 1923 मे स्वराज पार्टी की रीढ़ था। यहां यह देखना भी दिलचस्प होगा कि 1928 की तरह अब 1934 में भी भूतपूर्व स्वराज पार्टी वाले और अपरिवर्तनवादी 'स्वतंत्रतावादियो' के खिलाफ मिलकर एक हो गए। इन दोनों गुटों ने समान शत्रु के मुकाबले के लिए अपने मतभेद भुला दिए थे। यद्यपि कुछ बातों मे कांग्रेस समाजवादी पार्टी उन विचारों और सिद्धांतों को दुहरा रही है जो 40-50 साल पहले लोकप्रिय थे फिर भी यह राष्ट्रवादी आंदोलन को आगे बढ़ाने की मनोवृत्ति को प्रकट करती है इसलिए इसका जन्म भविष्य के लिए आशाजनक लक्षण है। प्राप्त रिपोर्टों से पता चलता है कि इस सगठन ने अधिकांश प्रांतों में काफी प्रगति की है और बम्बई कांग्रेस समिति के हाल के चुनावों के बारे में इसका दावा है कि इसने आधी सीटों पर कब्जा कर लिया है।

समाजवादियों का खतरा सामने होने पर भी अधिकृत कांग्रेस गुट एकजुट और सगठित नहीं है। मई में पटना में कार्य समिति की बैठक के बाद पटना और बनारस में कार्यसमिति

की जो बैठकें हुईं उनमें ब्रिटिश सरकार के तथाकथित साम्प्रदायिक अवार्ड के बारे में कांग्रेस को क्या नीति रखनी चाहिए इसको लेकर आपस में काफी मतभेद हैं। पं. मदन मोहन मालवीय और श्री एम. एस. अणे का मत है कि श्वेतपत्र की तरह साम्प्रदायिक अवार्ड की भी जोरदार निंदा की जानी चाहिए। कार्यसमिति के बाकी सदस्य मुसलमान सदस्यों के प्रभाव के कारण यह कहते थे कि साम्प्रदायिक अवार्ड को कांग्रेस को न तो स्वीकार करना चाहिए न ठुकराना चाहिए, यद्यपि वे मानते थे कि वह अवार्ड पूरी तरह अनुचित और खराब है। कांग्रेस के मुसलमान नेताओं ने यह रवैया क्यों बनाया यह कहना मुश्किल है खासकर जब तब यह याद आती है कि कराची कांग्रेस के बाद यही वे लोग थे जिनके दृढ़ रुख के कारण महात्माजी सम्प्रदायवादी मुसलमानों की पृथक निर्वाचन की मांग को मान लेने से रुक गए। कारण चाहे जो हो, यह सच्चाई है कि आज ये लोग कार्यसमिति पर पिस्तौल ताने खड़े हैं और उन्हीं के अड़े रहने के कारण कार्यसमिति इस बेतुके रवैये को अपनाने के लिए मजबूर है कि वह साम्प्रदायिक अवार्ड के न तो विरुद्ध है और न इसके पक्ष में। अवार्ड को न ठुकराने के पक्ष में दो तरह के तर्क आते रहे। पहला यह कि कांग्रेस को साम्प्रदायिक मुसलमानों समेत देश की सभी पार्टियों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए और दूसरा यह कि जब तक पार्टी कोई सर्वसम्मत हल नहीं निकाल पाती तब तक वर्तमान हल को ही मानना चाहिए। ये दोनों ही तर्क बेबुनियाद हैं। कांग्रेस देश की सभी पार्टियों का प्रतिनिधित्व नहीं करती फिर वे चाहे हिंदू हों या मुसलमान। दूसरे यह कि एक बुरे हल को ठुकरा देने के बाद ही हम अच्छा हल निकाल सकते हैं। श्वेतपत्र की तरह साम्प्रदायिक अवार्ड को भी एकदम अस्वीकार कर देना चाहिए चाहे कोई बेहतर हल अभी फौरन सामने आए या न आए। यह 'सब पार्टियों' वाला विचार झूठा और खतरनाक है। जो पार्टी आजादी के लिए लड़ रही है उसी पर संविधान तैयार करने की जिम्मेदारी है। और जहां तक साम्प्रदायिक सवाल की बात है, इस बारे में कांग्रेस का हल तो पहले ही मौजूद है। कुछ भी हो वर्तमान परिस्थितियों में न चाहते हुए भी यह सोचने को मजबूर होना पड़ता है कि धीरे-धीरे हो सकता है कि अनजाने में राष्ट्रवादी मुसलमान अपने अन्य सहधर्मियों के जैसे ही होते जा रहे हैं।

जब समझौते के सारे प्रयास बेकार हो गए तो पं. मदनमोहन मालवीय और श्री एम. एस. अणे ने कांग्रेस कार्यसमिति और कांग्रेस संसदीय बोर्ड से त्यागपत्र दे दिया और कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी नाम से अपनी अलग पार्टी बना ली जिसका लक्ष्य साम्प्रदायिक अवार्ड और श्वेतपत्रों के खिलाफ लड़ना था। इस पार्टी ने अपना अखिल भारतीय सम्मेलन 19 अगस्त को कलकत्ता में आयोजित किया। इसके अध्यक्ष पं. मदनमोहन मालवीय और स्वागत समिति के अध्यक्ष प्रसिद्ध रसायनज्ञ और मानवसेवी सर पी. सी. राय थे। यह सम्मेलन सफल रहा और स्पष्ट रूप से ऐसा लगता था कि बंगाल का जनमत खासकर हिंदू सम्प्रदाय इस पार्टी के साथ था। बंगाल के हिंदुओं को बड़ी जायज शिकायत थी कि साम्प्रदायिक अवार्ड में उन्हें 250 में से केवल 80 सीटें ही दी गई थीं जबकि

मुसलमानों को 119 सीटें[1] मिली थीं। यह शिकायत इस कारण और मुखर हो जाती थी कि गांधीजी के अनशन के समय जो पूना पैक्ट हुआ था उसमें 30 सीटें परिगणित जातियों को दी गई थीं जबकि साम्प्रदायिक अवार्ड में उन्हें 10 सीटें ही दी गईं और बंगाल में परिगणित जातियों की कोई समस्या ही नहीं है। इस कारण बंगाल के हिंदू[2] कांग्रेस कार्यसमिति के साम्प्रदायिक अवार्ड को अस्वीकार न करने के निर्णय से बहुत नाराज हुए हैं। इस समय तो यह कहना कठिन है कि चुनावों के नतीजे क्या होंगे। खैर, इतनी भविष्यवाणी करने में कोई डर नहीं था कि निर्वाचित सीटों में से अधिकाश पर अधिकृत कांग्रेस ही जीतेगी। यद्यपि कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी कम सीटें जीतेगी पर हिंदू सम्प्रदाय का ठोस समर्थन उसके प्रचार और असेम्बली में उनके काम में उसे प्राप्त रहेगा, गैर साम्प्रदायिक मामलों में कांग्रेस के दोनों गुट एक साथ रहेंगे। जहां तक राष्ट्रवादी मुसलमानों का प्रश्न है वे भी काफी सीटें जीतने की उम्मीद करते हैं।

कांग्रेस कार्यसमिति और संसदीय बोर्ड की पिछली बैठक वर्धा (मध्य प्रांत) में 8, 9 और 10 सितम्बर को हुई थी। अंतिम चरण में भी कांग्रेस के दो गुटों में समझौता कराने के प्रयत्न हुए पर वे निष्फल रहे। इस बैठक में ऐसा पता लगा कि महात्माजी सक्रिय राजनीति से अलग होने के बारे में गम्भीरता से सोच रहे थे। पहले यह अनुमान लगाया गया कि साम्प्रदायिक अवार्ड को लेकर कांग्रेस में जो फूट पड़ गई थी उससे उन्हें काफी परेशानी हुई होगी। लेकिन उनके एक बड़े विश्वस्त समर्थक मद्रास के श्री राजगोपालाचारी ने 7 सितम्बर को एक वक्तव्य जारी किया, जिसमें उन्होंने कहा, "इस अफवाह का कारण कि महात्माजी कांग्रेस का नेतृत्व छोड़ने की सोच रहे हैं, इस तनाव को समझना चाहिए कि वह कांग्रेस के विधान में ऐसे सुधार करने की सोच रहे हैं जिससे उसमें निश्चित रूप से किसी भी प्रकार की हिंसा का कोई स्थान न रहने पाए. . . . यदि कांग्रेस उनके सुधारों को नहीं मानती तो वह कांग्रेस के आगामी अधिवेशन के बाद कट्टर अहिंसक कार्यकर्ताओं का एक स्वतंत्र संगठन तक बनाने को तैयार होंगे। इसके दस दिन बाद महात्माजी ने स्वयं एक वक्तव्य दिया जिसमें उनके अवकाश प्राप्त करने के इरादे की अफवाह की पुष्टि थी लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि मित्रों की प्रार्थना पर अपने इस निश्चय पर अमल मैंने कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन के बाद तक स्थगित कर दिया है।" उन्होंने कांग्रेस संगठन में भ्रष्टाचार का जिक्र किया और यह ऐलान किया कि मेरा कांग्रेस के विधान में तीन संशोधन रखने का विचार है :

1. कांग्रेस के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए 'न्यायसगत और शांतिपूर्ण' साधनों के स्थान पर 'सत्य और अहिंसक' साधन जैसे शब्द रखना।

---

1 वर्तमान संविधान के अंतर्गत बंगाल कौंसिल में हिन्दुओं को [illegible] प्रतिशत सीटें प्राप्त थीं। यह 1916 के लखनऊ पैक्ट के अनुसार है। यह पैक्ट भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और भारतीय मुस्लिम लीग में हुआ था।

2 यही बात पंजाब के हिंदुओं के साथ हुई है। बंगाल और पंजाब के बहुत से हिंदू चुनाव क्षेत्रों में असेम्बली के लिए कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि चुनकर आए।

2 चार आने की सदस्यता की जगह हर सदस्य के लिए अपने हाथ से काता हुआ इकसार, परीक्षित और 15 नवर का कम से कम 8,000 फुट सूत काग्रेस डिपो में जमा कराना।

3 काग्रेस के चुनाव मे ऐसे व्यक्ति मत देने के अधिकारी होंगे जिनका नाम कम से कम 6 महीने पहले से काग्रेस के रजिस्टर में दर्ज हो और उस अवधि से वह लगातार केवल खद्दर पहनता रहा हो।

महात्माजी ने अत में कहा कि मुझे अदेशा है कि यह सुझाव बहुमत को मान्य नहीं होगा, लेकिन समझौते की गुजाइश है। यदि आप मुझे नेता रखना चाहते हैं तो आपको मेरे प्रस्तावों पर उचित विचार करना ही होगा।

काग्रेस का वार्षिक अधिवेशन बम्बई में 26, 27 और 28 अक्तूबर, 1934 को होने वाला है और वर्तमान सविधान के अनुसार इडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली के चुनाव नवम्बर में होने वाले हैं। जनवरी 1930 मे काग्रेस पार्टी ने असेम्बली को छोड दिया। उसके न रहने से सरकार के लिए ओटावा समझौते को तीन साल के लिए पुष्ट करा सकना सभव हो गया और इसी प्रकार अवज्ञा आदोलन का दमन करने वाले आर्डिनेंसो को भी कानून का रूप देना सभव हो गया। काग्रेसजनो के असेम्बली मे होने से भी सरकार को परेशानी होती लेकिन साथ ही सरकार को देश मे कानून तोडने के लिए आदोलन का भी सामना नहीं करना पडता। जहा तक आगामी काग्रेस अधिवेशन का सवाल है, दो मसलो पर तगडा सघर्ष होने की आशा है। पहला यह कि काग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी अ भा काग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी, अ भा काग्रेस समिति और काग्रेस के खुले अधिवेशन से साम्प्रदायिक अवार्ड को अस्वीकार करने की अपील करेगी। दूसरा कांग्रेस समाजवादी पार्टी समाजवादी कार्यक्रम को अपनाने के लिए दबाव डालेगी। ये दोनों प्रयत्न निश्चय ही निष्फल होंगे। इन दोनों ही सवालो पर महात्माजी को अपने पुराने विरोधियो अर्थात स्वराजवादियों में से अधिकाश का समर्थन मिलेगा। यदि इन लोगों में से हरेक महात्माजी का विरोध करने का निश्चय कर ले तो महात्माजी को दोनो मे से किसी पर भी हराया जा सकता है। लेकिन विधायिकाओं में प्रवेश करने के उनके प्रस्ताव को महात्माजी स्वय रख रहे हैं अत उनमें से बहुमत उन्हीं का (महात्माजी) साथ देगा और इस प्रकार उन्होंने काग्रेस में अपना स्थान सुनिश्चित कर लिया है। महात्माजी की सक्रिय राजनीति से अवकाश प्राप्त करने और सत्याग्रह सगठन को मजबूत करने या उसके विकल्प के रूप में काग्रेस के विधान को अपने विचारों के अनुसार बदलने की बात उन लोगों को आश्चर्यजनक नहीं लगेगी जो महात्माजी को अच्छी तरह जानते हैं।[1] यह उनके इस रवैये

---

1 इन पक्तियों के लिखे जाने के बाद महात्माजी ने काग्रेस के खुले अधिवेशन में जो बम्बई में 26 अक्तूबर, 1934 को हुआ था अपने अवकाश ले लेने की घोषणा की। इस तथाकथित अवकाश ग्रहण का अट्ठारहवें अध्याय में उल्लेख किया गया है।

की याद दिलाता है जो उन्होंने 1924 में जेल से अपनी रिहाई के बाद और उसी साल बेलगांव कांग्रेस में दिखाया था जब उन्होंने अपने विरोधियों के लिए मैदान छोड़ दिया था और उन्हें अपने ही जाल में फंस कर फड़फड़ाने दिया था। अंत में उनके नेतृत्व को जो चुनौती आएगी वह कांग्रेस समाजवादी पार्टी की तरफ से आएगी, कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी की तरफ से नहीं।'

1933-34 की अवधि में जब कांग्रेस धीरे-धीरे आत्मसमर्पण की तरफ बढ़ रही थी, सरकार अन्य दिशाओं में भी अपनी स्थिति को दृढ़ कर सकी। जनवरी 1933 में आखिरकार मेरठ षड्यंत्र केस का भी फैसला हो गया और 31 में से 27 अभियुक्तों को अलग-अलग अवधि की कैद की सजायें दी गईं। प्रायः इसी समय चटगांव के क्रांतिकारियों के नेता सूर्य सेन भी पकड़े गए जो तीन साल तक सरकार के हाथ नहीं आए थे। एक विशेष न्यायाधिकरण के सामने उन पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें तथा उनके एक और साथी को फांसी पर चढ़ा दिया गया। फरवरी और मार्च में सीमा पार के स्वतंत्र कबीलों ने कुछ उत्पात मचाए लेकिन अफगानिस्तान के शाह नादिरशाह की मित्र सरकार की सहायता से और विमानों द्वारा बमबारी करके सरकार इस परेशानी से बच निकली। श्वेतपत्र के मार्च में प्रकाशित होने के बाद विरोधी दल के नेता सर अब्दुल रहीम ने असेम्बली में यह प्रस्ताव रखा:

"जब तक कि वैधानिक सुधारों के प्रस्तावों में जनता के प्रतिनिधियों को केंद्र और प्रांतों की सरकारों में और अधिक जिम्मेदारी देने के लिए ठोस संशोधन नहीं किया जाता तब तक देश में शांति, संतोष और प्रगति को सुनिश्चित करना संभव नहीं होगा।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सरकार को इस लचर प्रस्ताव से भला क्या परेशानी हो सकती थी।

राजनीतिक कैदियों के साथ दुर्व्यवहार से कुछ थोड़ा-सा आंदोलन हुआ। उदाहरण के लिए नासिक जेल में 27 अक्तूबर, 1932 को श्री अमृतलाल मोराजी नामक राजनीतिक कैदी को डंडा-बेड़ियां डाल दी गई थीं और उन्हें एक अलग कोठरी में ले जाकर लाठी डंडों से खूब पीटा गया और फिर उठा-उठा कर तब तक पटका जाता रहा जब तक कि वह बेहोश नहीं हो गए। जब यह खबर बाहर फैली तो जनता में बहुत रोष फैल गया। सरकार को इस घटना के लिए जिम्मेदार कर्मचारियों के खिलाफ मुकदमें चलाने को मजबूर होना पड़ा। इस तरह मध्य प्रांत में अमरावती की जेल में भी कुछ राजनीतिक

भारत से प्राप्त 1 अक्तूबर, 1934 की एक खबर में बताया गया है कि कांग्रेस समाजवादी पार्टी का एक सम्मेलन हाल में ही बनारस में हुआ। इसमें यह निश्चय किया गया कि न तो कांग्रेस के चुनाव अभियान में किसी तरह की मदद की जाए और न कांग्रेस के किसी संगठन में ही कोई पद ग्रहण किया जाए क्योंकि वह पार्टी की आर्थिक नीति पर अमल नहीं कर रही है। समाजवादी पार्टी ने अधिकृत कांग्रेस और कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी दोनों की ही निंदा की।

बंदियों को 22 अप्रैल, 1932 को बुरी तरह मारा-पीटा गया। एक साल तक आंदोलन और जांच चलती रही। आखिर 1 मार्च, 1933 को सरकार ने दिखावे के लिए एक रिपोर्ट प्रकाशित की। खैर, इसमें इस मौके पर शारीरिक बल के प्रयोग की पुष्टि की गई और इस बात का वचन दिया गया कि सविनय अवज्ञा के दिनों में लागू होने वाले नियमों में सुधार और परिवर्तन किए जाएंगे।

मार्च 1933 में श्वेतपत्र के प्रकाशित होने पर अप्रैल के आरम्भ में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने दोनों सदनों के 16-16 सदस्यों की एक संयुक्त प्रवर समिति नियुक्त की। इस अवसर पर दोनों सदनों में बहस हुई। हाउस आफ कामन्स में विरोध का नेतृत्व किया श्री विन्स्टन चर्चिल और श्री हेनरी पेज क्रोफ्ट ने और हाउस आफ लार्ड्स में लार्ड लायड और लार्ड हेल्सबरी ने। इस समिति ने 12 अप्रैल को लार्ड लिनलिथगो को अध्यक्ष चुना और भारत के लिए गए अफसरों की एक सूची को मंजूरी दे दी जो समिति की बैठकों में भाग तो लेंगे पर किसी सवाल पर न तो मत दे सकेंगे और न पार्लियामेंट को अपनी रिपोर्ट दे सकेंगे। संयुक्त प्रवर समिति की बैठकें 10 मई से शुरू हुईं और असाधारण रूप से लम्बी खिचीं। भारत मंत्री ने एक असाधारण कदम उठाया कि वह इस समिति के सामने साक्ष्य देने उपस्थित हुए ताकि वह समिति को और भारतीय अफसरों को सरकार के इरादों से वाकिफ करा सकें। उनके साथ कई सप्ताह तक जिरह चली और उन्होंने 16,000 प्रश्नों के उत्तर दिए। भारत में वैधानिक प्रगति के विरोध में जो 1929 से श्री विन्स्टन चर्चिल के नेतृत्व में रहे हठधर्मियों के आंदोलन और खासकर श्वेतपत्र के प्रकाशन के बाद संयुक्त संसदीय समिति मार्च 1933 में श्वेतपत्र के प्रावधानों को और भी कमजोर कर दे, समिति की रिपोर्ट के नवम्बर में प्रकाशित होने की आशा है।[1]

1933 में दो महान सपूतों की मृत्यु के कारण देश को अपार क्षति पहुंची। ये दो महापुरुष थे श्री जे. एम. सेनगुप्त और श्री विट्ठलभाई पटेल। श्री जे. एम. सेनगुप्त पांच वर्ष तक कलकत्ता के मेयर रह चुके थे और 1925 से कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य थे। उनकी 26 जुलाई को मिरगी (एपोप्लेक्सी) के कारण रांची जेल में अचानक मृत्यु हो गई जहां वह 1818 के रेगुलेशन-3 के अधीन नजरबंद थे। 22 अक्तूबर को श्री विट्ठलभाई पटेल, जो इंडियन असेम्बली के अध्यक्ष रह चुके थे और कांग्रेस के चोटी के नेताओं में थे, हृदय रोग की वजह से जेनेवा (स्विट्जरलैंड) के एक चिकित्सालय में स्वर्ग सिधार गए। उनकी अंतिम इच्छा के अनुसार उनके पार्थिव शरीर को अन्तिम संस्कार के लिए बम्बई लाया गया, जहां दो लाख लोग उनकी शव-यात्रा में शामिल हुए। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति (करीब एक लाख रुपये) राष्ट्रीय सेवा के लिए छोड़ी।

1933 के अंत में वर्षा का दूसरा गोलमेज सम्मेलन लंदन में हुआ। पहला गोलमेज

---

1 अब संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है और मेरा अंदेशा सही साबित हुआ।

सम्मेलन नवम्बर 1931 में हुआ था और बर्मा के प्रतिनिधियों को भारतीय गोलमेज सम्मेलन के दूसरे और तीसरे अधिवेशनों में नहीं बुलाया गया था। क्योंकि पहले गोलमेज सम्मेलन के बारे में इस बात की कटु आलोचना की गई कि पृथकता विरोधियों को सम्मेलन में बहुत कम प्रतिनिधित्व दिया गया था, इसलिए सरकार भारत से पृथक होने के सवाल पर बर्मा में आम चुनाव कराने को राजी हो गई थी। नवम्बर 1932 में जो चुनाव हुए उसमें पृथकता विरोधियों को स्पष्ट बहुमत मिला था लेकिन इस बात का सहारा लेकर कि बर्मा की लेजिस्लेटिव कौंसिल ने भारत के साथ संघर्ष में बिना शर्त शामिल होने के बारे में मत नहीं दिया था, सरकार ने बर्मा को भारत से अलग करने की अपनी प्रिय योजना को आगे बढ़ाया। अतः बर्मा का दूसरा गोलमेज सम्मेलन 1933 में आयोजित किया गया और यद्यपि पृथकता विरोधी बर्मा में बहुमत में थे, उन्हें सम्मेलन में पृथकता समर्थकों से कम सीटें दी गईं। अब यह निश्चित है कि बर्मा को भारत से अलग कर दिया जाएगा[1] और यहां दो सदनों वाला विधान मंडल स्थापित किया जाएगा जो प्रांतीय और केंद्रीय दोनों प्रकार के विषयों को सभालेगा।

दिसम्बर के महीने में कई महत्वपूर्ण सम्मेलन हुए। लिबरल फेडरेशन का अधिवेशन मद्रास में हुआ जिसके अध्यक्ष श्री जे.एन. बसु थे। कलकत्ता में महिलाओं का एक सफल अधिवेशन हुआ। इसमें महिलाओं में शिक्षा और समाज सुधार संबंधी विषयों में और जिनेवा में अंतर्राष्ट्रीय समितियों में स्त्रियों के प्रतिनिधित्व के बारे में काफी उत्साह दिखाया गया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस का कानपुर में अधिवेशन हुआ और उसमें जो प्रस्ताव पास हुए उनमें एक बम्बई प्रेसीडेंसी के कपड़ा मजदूरों की शिकायतों और उनकी मांगो को मनवाने के लिए कपड़ा मिलों में आम हड़ताल की आवश्यकता के बारे में था। इसी निर्णय के अनुसार 1934 के शुरू में बम्बई की कपडा मिलों के मजदूरों ने हड़ताल की घोषणा कर दी। बम्बई में हडताल की अपील का काफी अच्छा प्रभाव हुआ और देश के अन्य कई भागों में भी इसकी सहानुभूति मे हड़तालें हुईं। हडताल तोडने के लिए साम्यवाद (कम्युनिज्म) का हौवा फिर खडा किया गया और इस बहाने बम्बई के बहुत से प्रभावशाली मजदूर नेताओं को जेल में ठूस दिया गया। बम्बई के बाद पंजाब जैसे और कई प्रांतों में साम्यवाद की लहर दिखाई दी और पंजाब की कृति किसान पार्टी को कम्युनिस्ट संगठन करार देकर गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। सरकार मजदूरों और कामगारों के आंदोलन पर तो अपना शिकजा कसती ही जा रही थी, उसने बगाल के क्रांतिकारियों के आतंकवादी कार्यों को रोकने के लिए भी कुछ और कदम उठाए। पहले साल हत्या की कोशिश को भी फांसी की सजा वाला अपराध घोषित किया गया और

1 संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट 22 नवम्बर, 1934 को प्रकाशित हुई और इसमे बर्मा को भारत से अलग करने का प्रावधान है।

इस साल यानि 1934 में हथियार, विस्फोटक पदार्थ इत्यादि रखने को भी इसी प्रकार फांसी का दंड पाने योग्य अपराध घोषित कर दिया गया। बंगाल के गवर्नर सर जान एंडरसन की हाल में हत्या की कोशिश की गई थी। इसी तरह की कोशिश दो साल पहले हो चुकी थी।[1] इससे यह पता चलता है कि दुर्भाग्य से दो साल के बाद भी आतंकवादी आंदोलन मरा नहीं था यद्यपि आम जनता में इसका विरोध बराबर बढ़ता जा रहा था।

कांग्रेस के आत्म-समर्पण से ब्रिटिश सरकार के लिए जो उपर्युक्त स्थिति पैदा हो गई थी उसका और सरकार की निर्मम दमन नीति का भारत में ग्रेट ब्रिटेन के व्यापार को बढ़ावा देने के लिए उपयोग किया गया। ओटावा समझौते की पुष्टि के बारे में यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसके जरिए भारत पर शाही पसंद के सिद्धांत को भारत के विरोध के बावजूद जबरन लाद दिया गया था जिससे उनके हितों को नुकसान पहुंचा था। इस विचाराधीन अवधि में भारत के वस्त्र व्यापार के सिलसिले में दो और कदम उठाए गए। ये थे भारत-जापान और भारत-ब्रिटेन समझौते। दोनों करारों के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा चुका है और तर्क आदि दिए जा चुके हैं। लेकिन भारत की जनता की दृष्टि में पहला करार भारत के बाजार को लूटने के लिए जापान और ब्रिटेन के उद्योगपतियों की साजिश है और दूसरा इन दोनों देशों के पूंजीपतियों की भारत के गरीब उपभोक्ता को अधिक से अधिक चूसने के लिए नापाक गठजोड़ है। जब तक राष्ट्रवादी पार्टी विधान मंडल में नहीं पहुंचती तब तक इन दोनों करारों से भारत को हुई हानि को मिटाना संभव नहीं होगा।

इस समय (नवम्बर 1934) में इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली के चुनाव हो रहे हैं। 1935 के साल में जनता की निगाह इस पर रहेगी कि असेम्बली में कांग्रेस पार्टी क्या रणनीति अपनाती है। इस बात की तो बहुत ही कम संभावना है कि अब से लेकर नए संवैधानिक सुधारों के आरम्भ होने तक कोई चौंकाने वाली घटना घट सकती है।

1 फरवरी 1932 को एक महिला कु. बीना दास ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के अवसर पर बंगाल के गवर्नर सर स्टेनली जैक्सन को गोली मार देने की कोशिश की थी। गवर्नर जैक्सन बच गए और कु. बीना दास को नौ वर्ष की कैद की सजा दी गई। इस वर्ष में ताजा खबर है कि सर जान एंडरसन की हत्या की कोशिश करने वालों में से कुछ को मृत्युदंड दिया गया है।

अध्याय 15

श्वेतपत्र और सांप्रदायिक अवार्ड

मार्च 1933 में जो श्वेतपत्र ब्रिटिश सरकार ने जारी किया उसमें वे अस्थायी निष्कर्ष थे जो गोलमेज सम्मेलन के तीन अधिवेशनों के बाद उसने निकाले थे। इस योजना के अनुसार भारत के अब दो हिस्से—एक ब्रिटिश भारत जिस पर सीधे अंग्रेज सरकार की हुकूमत हो और दूसरा देसी रियासतों का जिन पर भारतीय राजाओं-महाराजाओं का शासन हो—नहीं समझे जाएंगे। इसके स्थान पर योजना के अनुसार भारत अब एक संघ होगा जिसमें ब्रिटिश भारत के 11 प्रांत (सिंध और उड़ीसा सहित) और वे रियासतें होंगी जो भारतीय संघ में अपनी इच्छा से शामिल होना चाहेंगी। जो रियासतें भारतीय संघ में शामिल होने की इच्छा प्रकट करेंगी उन्हें विधिवत एक विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करने होंगे, जिसके द्वारा वे उन विषयों के बारे में जिनमें वे संघीय मामले स्वीकार करने को तैयार होंगी, अपनी शक्तियां और क्षेत्राधिकार ब्रिटिश सम्राट (ब्रिटिश क्राउन) को सौंप देंगी। इस प्रकार जो शक्तियां और क्षेत्राधिकार हस्तांतरित किए जाएंगे उनका इस्तेमाल वह संघ करेगा, जो नए संविधान ऐक्ट के अधीन बनाया जाएगा।

संघ की स्थापना ब्रिटिश सम्राट की घोषणा से होगी लेकिन यह घोषणा तब तक नहीं की जाएगी जब तक :

(1) सम्राट को यह सूचना नहीं मिल जाएगी कि भारतीय रियासतों के इतने शासक संघ में शामिल होने की इच्छा प्रकट कर चुके हैं जो कम से कम रियासतों की कुल जनसंख्या की औसतन आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हों और उच्च सदन में जितनी सीटें हैं, कम से कम उनकी आधी सीटें पाने के अधिकारी हैं, और

(2) ब्रिटिश पार्लियामेंट के दोनों सदन मिलकर सम्राट से यह घोषणा जारी करने की प्रार्थना नहीं करते। यह भी प्रावधान किया जाता है कि प्रथम संघीय मंत्रिमंडल के अस्तित्व में आने से पहले एक ऐसा संघीय बैंक[1] भारतीय कानून द्वारा स्थापित कर दिया जाएगा और यह सफलतापूर्वक काम करने लगेगा जिस पर किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभाव नहीं होगा।

श्वेतपत्र में यह भी कहा गया है कि संभव है कि केन्द्र की सरकार में परिवर्तन से पहले और रियासतों के संघ में प्रवेश से पूर्व प्रांतों में नई सरकारों का स्थापित होना सुविधाजनक या आवश्यक हो जाए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश पार्लियामेंट

---

1 इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली रिजर्व बैंक बिल पहले ही पास कर चुकी है।

के संविधान ऐक्ट पास कर देने के बाद भी संघ का उद्घाटन काफी समय तक के लिए स्थगित किया जा सकता है।

राजा, नवाबों को देश के वैधानिक तंत्र में शामिल करने का मतलब है संघीय विधान मंडल के अनुदार तत्वों का समावेश ताकि वे वहां ब्रिटिश भारत की प्रगतिशील शक्तियों का मुकाबला कर सकें। संघीय विधान मंडल में ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि कितने भी सीमित सही, फिर भी लोकप्रिय मतदान द्वारा सीधे या अप्रत्यक्ष चुनाव के जरिए वहां भेजे जाएंगे लेकिन रियासतों के प्रतिनिधि वहां के शासकों की ओर से नामजद किए जाएंगे। भारतीय रियासतों की ऐसी प्रजा को जो भारत की कुल जनसंख्या की करीब एक चौथाई है, संघीय संसद में किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होगा। देसी राजा-नवाबों का (या उनके नामजद प्रतिनिधियों का) समर्थन ब्रिटिश सरकार को इस कारण मिलना सुनिश्चित होगा क्योंकि बदले में ब्रिटिश सरकार उनके आंतरिक निरंकुश शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। इस प्रकार यदि आखिर में संघ स्थापित हो भी जाता है तो रियासतों के शासकों को अपने राज्यों के मामलों में तो पूरी प्रभुसत्ता रहेगी ही, संघीय तंत्र में भी उनका कुछ न कुछ दखल हो ही जाएगा। नए विधान के अनुसार भारतीय रियासतों में लोकप्रिय या प्रजातंत्रीय या संवैधानिक सरकार स्थापित करने का कोई प्रावधान नहीं होगा और बड़ी बात तो यह होगी कि रियासतों को संघीय करों से मुक्ति मिलेगी और संघीय विधान मंडल में उनकी आबादी के अनुसार उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाएगा। ब्रिटिश सरकार के इन सब दबावों के बावजूद बहुत से राजा-नवाब इस वैधानिक व्यवस्था में शामिल होने में संकोच कर रहे हैं।

श्वेतपत्र के अनुसार वाइसराय और गवर्नर जनरल के पद अलग कर दिए जाएंगे यद्यपि दोनों को एक ही व्यक्ति संभालेगा। गवर्नर जनरल संघ का कार्यकारी प्रमुख होगा और भारत की थलसेना, नौसेना और वायुसेना का सर्वोच्च सेनापति होगा और वाइसराय के नाते वह ब्रिटेन के बादशाह का प्रतिनिधि होगा और रियासतों के और संघीय संविधान से बाहर सभी मामलों में बादशाह की शक्तियों का उपयोग करेगा। कुछ सुरक्षित विषयों जैसे रक्षा, विदेशी मामलों और धार्मिक मामलों के प्रशासन को गवर्नर जनरल सीधे अपने हाथ में रखेगा और उनका संचालन करेगा। इस प्रकार के प्रशासन में उसके तीन से अधिक सलाहकार नहीं होंगे जिन्हें वह स्वयं नियुक्त करेगा और वे विधान मंडल के पदेन सदस्य होंगे पर उन्हें मत देने का अधिकार नहीं होगा। अन्य शक्तियों के इस्तेमाल में सलाह और सहायता देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी। इस मंत्रिपरिषद की नियुक्ति भी गवर्नर जनरल करेगा और यह परिषद उसकी प्रसन्नता की अवधि तक अपने पद पर रहेगी और इसके सदस्य संघीय विधान मंडल के किसी एक सदन के सदस्य होंगे। सलाहकार अपने काम में केवल गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी होंगे जबकि मंत्रिपरिषद विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी रहेगी। गवर्नर जनरल के इस नियंत्रण के अंतर्गत जो वस्तुतः उनके विभागों पर होगा, जहां तक प्रशासन का संबंध है गवर्नर जनरल स्वविवेक से

सरकारी कामकाज चलाने का नियमन करने के लिए आवश्यक नियम बनाएगा। उसे स्वविवेक से एक वित्तीय सलाहकार भी नियुक्त करने का अधिकार होगा जो वित्तीय मामलों में उसकी विशेष जिम्मेदारी पूरी करने में सहायता करेगा। वित्त सलाहकार का वेतन गवर्नर जनरल स्वयं निश्चित करेगा और इस पर विधान मडल को वोट देने का अधिकार नहीं होगा और न ही वह विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होगा।

आरक्षित विभागों की पूरी-पूरी जिम्मेदारी के अलावा गवर्नर जनरल को इन विषयों के बारे में विशेष जिम्मेदारी देने की घोषणा की जाएगी:

(क) भारत या भारत के किसी भी भाग में शांति और व्यवस्था के गंभीर संकट आने पर उसकी रोकथाम करना।

(ख) संघ के वित्तीय स्थायित्व और साख की रक्षा करना।

(ग) अल्पसंख्यकों के जायज हितों की रक्षा करना।

(घ) सार्वजनिक सेवाओं के कर्मचारियों को संविधान में जो अधिकार दिए गए हैं उनका उन्हें दिलाना और उनके जायज हितों की रक्षा करना।

(ड) व्यापार-वाणिज्य में कोई भेदभाव न होने देना।

(च) भारतीय रियासतों के अधिकारों की रक्षा करना।

(छ) ऐसा कोई भी मामला जो गवर्नर जनरल के नियंत्रण और निर्देशन में किसी भी विभाग के प्रशासन पर प्रभाव डालने वाला हो।

गवर्नर जनरल इस बात का स्वयं स्वविवेक से निर्णय करेंगे कि यहां वर्णित विशेष दायित्वों में से किस परिस्थिति में कौन सा लागू होता है।

ब्रिटिश सम्राट गवर्नर जनरल को जो आदेश पत्र जारी करेंगे उसमें यह प्रावधान किया जाएगा कि जिन विभागों का प्रशासन गवर्नर जनरल के नियंत्रण और निर्देशन में उसकी अपनी जिम्मेदारी का होगा या जो मामले उनके विवेक के लिए उसके पास भेजे जाएंगे उन सभी के बारे में वह भारत मंत्री के नियंत्रण में काम करेगा। यद्यपि अन्य मामलों में गवर्नर जनरल अपने मंत्रिमंडल की सलाह मानने को बाध्य होगा पर ऐसे मामले जो कानून के अनुसार उसके विशेष दायित्व को पूरा करने से असंगत होंगे, वह अपने निर्णय के अनुसार आवश्यक कार्रवाई करेगा या भारत मंत्री के निर्देशों के अधीन कार्रवाई करेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विधान मंडल के प्रति मंत्रिमंडल का कोई दायित्व नहीं रह जाता।

गवर्नर जनरल को छह महीने के लिए आर्डिनेंस तैयार करने और लागू करने का अधिकार होगा तथा आरक्षित विभागों या विशेष दायित्वों की आवश्यकता को देखते हुए यदि वह संतुष्ट होगा तो उसे उन्हें छह महीने और बढ़ाने का अधिकार भी होगा। यदि ऐसे समय जब विधान मंडल का अधिवेशन न चल रहा हो और मंत्रिमंडल संतुष्ट हो

कि आपात-स्थिति है तो ब्रिटिश भारत या उसके किसी हिस्से में सरकार का काम सुचारू रूप से चलाने के लिए उसे आर्डिनेंस तैयार करने और लागू करने की भी शक्ति प्राप्त होगी। दोनों प्रकार के आर्डिनेंस जब तक लागू रहेंगे तब तक उन्हें विधान मंडल के बनाए कानून की हैसियत प्राप्त रहेगी। इसके आगे संविधान के भंग हो जाने की अवस्था में गवर्नर जनरल को स्वविवेक से एक घोषणा के जरिए उस प्रकार की सब शक्तियां ग्रहण करने का अधिकार होगा जो कानून के अनुसार किसी भी संघीय प्राधिकरण को दी गई हैं और संघीय सरकार को प्रभावी ढंग से चलाने के लिए जिन्हें वह अपने हाथ में लेना आवश्यक समझेगा।

संघीय विधान मंडल के दो सदन होंगे— एक का नाम होगा कौंसिल आफ स्टेट (उच्च सदन) और दूसरे का हाउस आफ असेम्बली (निम्न सदन)। प्रत्येक कौंसिल आफ स्टेट की कार्यावधि सात वर्ष की होगी और हाउस आफ असेम्बली की पांच वर्ष, बशर्ते ये उससे पहले भंग न कर दी जाएं। कौंसिल आफ स्टेट में 260 से अधिक सदस्य नहीं होंगे जिनमें से 150 ब्रिटिश भारत से चुने जाएंगे और 100 सदस्य भारतीय रियासतों के शासकों द्वारा नियुक्त किए जाएंगे तथा 10 सदस्य गवर्नर जनरल स्वविवेक से नामजद करेंगे। ब्रिटिश भारत के लिए नियत 150 सीटों में से 136 प्रांतीय विधान मंडलों के सदस्यों द्वारा एकल हस्तांतरणीय मत के आधार पर चुने जाएंगे और बड़े प्रांतों को 18-18 और छोटों को 5-5 सीटें प्राप्त होंगी। बाकी 14 स्थानों में से यूरोपियनों को सात, भारतीय ईसाइयों को दो और एंग्लो-इंडियनों को एक स्थान मिलेगा। इसके अलावा दिल्ली, अजमेर, कुर्ग और बलूचिस्तान को एक-एक सीट मिलेगी। ब्रिटिश भारत से कौंसिल की एक तिहाई सीटें मुसलमान सम्प्रदाय के लिए रखी गईं, यद्यपि ब्रिटिश भारत में उनकी आबादी एक चौथाई है। हाउस आफ असेम्बली में 375 से अधिक सदस्य नहीं रहेंगे जिनमें से 250 ब्रिटिश भारत से चुन कर और शेष देसी रियासतों के शासकों द्वारा जिनकी संख्या 125[1] से अधिक नहीं होगी नामजद होकर आएंगे। भारत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लिए सीटें इस प्रकार रखी गई हैं: परिगणित जातियां (हिन्दू) 19, सिख 6, मुसलमान 82, भारतीय ईसाई 8, एंग्लो-इंडियन 4, यूरोपियन 8, स्त्रियां 9, वाणिज्य और उद्योग 11 (जिनमें से लगभग 6 यूरोपियन होंगे)[2], जमींदार 7, श्रमिक 10, आम (हिन्दू और अन्य) 105। परिगणित जातियों की सीटें महात्मा गांधी के अनशन के बाद सितम्बर 1932 में हुए पूना पैक्ट के अनुसार भरी जाएंगी। बिल दोनों में से किसी भी सदन में रखे जा सकेंगे लेकिन बजट और पूर्ति बजट केवल असेम्बली में ही रखे जा सकेंगे। कोई भी बिल जब तक दोनों सदनों द्वारा पास नहीं किया गया होगा और उसे गवर्नर जनरल की

---

1. देसी रियासतों की कुल जनसंख्या भारत की जनसंख्या की एक चौथाई है पर उन्हें असेम्बली में 33 प्र.श. और कौंसिल आफ स्टेट में 38 प्र.श. सीटें मिलेंगी।
2. भारत की 35 करोड़ 20 लाख आबादी में से यूरोपियनों की संख्या 1,68,134 है। पर उन्हें असेम्बली में 7 और कौंसिल आफ स्टेट में 7 सीटें दी गई हैं।

मंजूरी नहीं मिल जाएगी या सुरक्षित बिल पर ब्रिटिश कौंसिल की मंजूरी नहीं मिल जाएगी तब तक कानून नहीं बन सकेगा। किसी भी कानून को गवर्नर जनरल की अनुमति मिल जाने के बाद 12 महीनों के भीतर हिज मैजेस्टी इन कौंसिल रद्द कर सकते है। गवर्नर जनरल को यह अधिकार रहेगा कि वह किसी भी बिल को यदि उनके नियत तारीख तक पास कर देने के संदेश के बावजूद सदन नियत तारीख तक उसे पास नहीं करता है तो उसे गवर्नर जनरल के ऐक्ट की तरह कानून का रूप दे सकते हैं। गवर्नर जनरल के ऐक्ट को भी वही बल और प्रभाव प्राप्त होगा जोकि विधान मडल द्वारा स्वीकृत ऐक्ट को प्राप्त होगा। गवर्नर जनरल को स्वविवेक के आधार पर यह भी अधिकार प्राप्त रहेगा कि यदि कोई ऐसा बिल जो किसी सदन में पेश किया जा चुका है या उसके पेश किए जाने का प्रस्ताव है या बिल में कोई संशोधन पेश हो चुका है या होने वाला है, जिससे उनके दायित्व निर्वाह पर प्रभाव पड सकता है तो वह उस बिल या संशोधन या धारा को आगे विचार होने से रोक सकते हैं। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि गवर्नर जनरल को असाधारण रूप से व्यापक शक्तियां दे दी गई हैं। यदि वह चाहें तो किसी विचाराधीन बिल का संशोधन कर सकते हैं, उसे पूरी तरह रोक सकते हैं और नया कानून भी बना सकते हैं। ऐसी शक्तियां तो उनके पास आज भी नहीं हैं।

श्वेतपत्र में आगे कहा गया है कि आरक्षित विभागों के अलावा इन विभागों के क्षेत्र से बाहर और, गवर्नर जनरल के विशेष दायित्वों के अलावा, विषयों की एक तीसरी श्रेणी भी होगी जिसके बारे में गवर्नर जनरल मंत्रिपरिषद की सलाह लेने या ले लेने के बाद उसे मानने को किसी भी प्रकार वैधानिक रूप से बाध्य नहीं होंगे। इस उद्देश्य के लिए संविधान द्वारा गवर्नर जनरल को कुछ विशेष शक्तियां प्रदान की जाएगी और इन्हें वे स्वविवेक से यथा आवश्यकता इस्तेमाल कर सकेंगे। उनके स्वविवेक वाली शक्तियों में ब्रिटिश सरकार निम्नलिखित विषयों के रहने की पूर्व-कल्पना करती है

(क) विधान मडल को भंग करना, स्थगित करना और उसका अधिवेशन बुलाने की शक्ति।

(ख) बिलों को मंजूरी देने, न देने या उन्हें हिज मैजेस्टी को प्रस्तुत करने की शक्ति।

(ग) कुछ किस्म के कानूनी उपायों को पेश करने की पूर्व अनुमति देने की शक्ति।

(घ) यदि संविधान ऐक्ट में निर्धारित अवधि की समाप्ति तक अधिवेशन को स्थगित रखने से गम्भीर परिणाम होने का डर हो तो ऐसी आपातस्थिति में विधान मंडल के दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाने की शक्ति।

विधायी प्रक्रिया के संबंध में गवर्नर जनरल को इस प्रकार के नियम बनाने का अधिकार रहेगाः

(क) आरक्षित विभागों के या गवर्नर जनरल के विशेष दायित्व के क्षेत्र में आने वाले विषयों के प्रशासन से उत्पन्न होने वाले या उन पर प्रभाव डालने वाले मामलों पर विधान मंडल में विचार किए जाने और उनकी प्रक्रिया का नियमन करने के लिए।

(ख) निम्न विषयों पर गवर्नर जनरल की पूर्वानुमति के बिना विचार-बहस या प्रश्न पूछने की मनाही:

1. किसी भारतीय रियासत के शासक ने जो विषय अपने विलय-पत्र द्वारा संघीय विषय स्वीकार कर लिए हों उनको छोड़कर रियासत से संबंधित अन्य किसी विषय पर प्रश्न नहीं किया जाएगा।
2. जहां गवर्नर जनरल ने स्वविवेक से किसी प्रांत के गवर्नर के बारे में कोई कार्यवाही की हो।
3. हिज मैजेस्टी और गवर्नर जनरल के संबंधों पर या गवर्नर जनरल तथा किसी विदेशी शासक या सरकार के साथ संबंधों पर प्रभाव डालने वाला कोई मामला।

इस प्रकार जो भी नियम गवर्नर जनरल द्वारा बनाया जाएगा उसमें और सदन द्वारा बनाए गए किसी नियम में यदि कोई विरोध होगा तो गवर्नर जनरल का बनाया नियम ही चलेगा और सदन का बनाया नियम जितने अंश में असंगत होगा, अवैध माना जाएगा।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि विधायिका के प्रति कार्यपालिका की जिम्मेदारी के प्रश्न को हल करने के लिए जिम्मेदारी के बारे में केवल अनेक सीमाएं ही नहीं निर्धारित की गई हैं बल्कि विधायिका की शक्तियों को भी बेहद सीमित कर दिया गया है। इसका परिणाम यह होगा कि संघीय विधान मंडल आज की असेम्बली से भी कहीं गई-बीती होगी और गवर्नर जनरल आज के मुकाबले कहीं अधिक शक्तिशाली हो जाएंगे।

गवर्नर जनरल संघ के हर वर्ष के अनुमानित राजस्व और व्यय तथा इन राजस्वों के अभिग्रहण के प्रस्तावों के ब्यौरे विधान मंडल के दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत करवाएंगे। यदि अभिग्रहण के प्रस्ताव इनमें से संबंध रखने वाले होंगे जैसे कि ब्याज, सिंकिंग फंड-चार्जेज, संविधान एक्ट आदि के द्वारा निर्धारित व्यय; गवर्नर जनरल, मंत्रियों, कौंसलरों, वित्तीय सलाहकार इत्यादि के वेतन और भत्ते, संघीय न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय के जजों के वेतन और पेंशन इत्यादि, कुछ विभागों को और सार्वजनिक सेवाओं के सदस्यों आदि को दिए जाने वाले वेतन और पेंशन आदि, तो उन्हें किसी भी सदन के सामने वोट के लिए प्रस्तुत नहीं किया जाएगा। अभिग्रहण के प्रस्तावों का जो ब्योरा

1. विधान मंडल के कार्य के अनुभव के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसे मदें जिन पर मत नहीं लिए जाएंगे कुल खर्च का करीब 80 प्र.श. होंगे। संक्षेप में मतलब है कि गवर्नर जनरल यह निर्णय करेंगे कि इन मदों में आने वाला कौन सा मद मत योग्य नहीं है।

होगा उनमें उन अतिरिक्त मतयोग्य या गैर मतयोग्य प्रस्तावों का उल्लेख होगा जिन्हें गवर्नर जनरल अपनी किसी भी विशेष जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए आवश्यक समझेंगे। राजस्व के अभिग्रहण के ये प्रस्ताव, ऊपर बताए गए खर्च की मदों से संबंधित प्रस्तावों और अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए रखे गए प्रस्तावों को छोड़कर असेम्बली में वोट के लिए रखे जाएंगे। कौंसिल आफ स्टेट विधिवत प्रस्ताव पास करके यह मांग करेगी कि ऐसी किसी भी मांग जिसमें असेम्बली ने कटौती की है या जिसे पूरी तरह अस्वीकार कर दिया है, उसे अंतिम रूप से निर्णय के लिए दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन के सामने लाया जाए। बजट की कार्रवाई पूरी होने के बाद गवर्नर जनरल मत द्वारा स्वीकृत या गैर मतयोग्य सभी तरह के अभिग्रहणों को अपने हस्ताक्षर करके मंजूरी देंगे। इस प्रकार मंजूर किए जाने वाले अभिग्रहण में गवर्नर जनरल को ऐसी और भी राशियां जोड़ने की शक्ति प्राप्त होगी जो उनको विशेष जिम्मेदारी के कारण यह आवश्यक समझें बशर्ते कि कुल राशि उस राशि से न बढ़ने पाए जो विधायिका के सामने मूल रूप से उसी मद के अधीन अभिग्रहण के प्रस्तावों में शामिल करके रखी गई है। इस प्रकार यदि किसी मांग को विधायिका ने नामंजूर कर दिया तो गवर्नर जनरल को उसे बहाल करने का अधिकार रहेगा। केन्द्र और प्रांतों के क्षेत्र कौन-कौन से रहें इसे संविधान ऐक्ट की विषयों की अनुसूची में परिभाषित किया जाएगा। प्रांतीय सूची में प्रांत विशेष के लिए स्थानीय या वहां की खास जरूरत के अनुसार आवश्यक कानून बनाने की शक्ति को रखने का भी प्रस्ताव होगा। लेकिन इसकी भी सम्भावना है कि जो विषय शुरू में स्थानीय या निजी मालूम हों वह आगे चलकर अखिल भारतीय दिलचस्पी का विषय बन जाएं। उस हालत में प्रांत की यह शक्ति गवर्नर जनरल के इस अधिकार के अधीन होगी कि गवर्नर जनरल स्वविवेक से उसी विषय पर संघीय विधायिका से कानून बनवा कर उसे अपनी मंजूरी दे दें।

संघीय मंत्रियों के बारे में श्वेतपत्र में कहा गया है कि मंत्रियों की संख्या और उनकी वेतन राशि संघीय विधायिका के ऐक्ट के अनुसार निर्धारित की जाएगी। लेकिन उसके आगे एक और प्रावधान है कि संघीय मंत्रियों के वेतन और भत्ते संघीय विधायिका के किसी सदन के सामने वोट के लिए पेश नहीं किए जाएंगे।[2] (प्रांतीय मंत्रियों के बारे में भी ऐसे ही प्रस्ताव हैं।)

संघीय न्यायपालिका के बारे में श्वेत पत्र में संघीय न्यायालय और एक सर्वोच्च न्यायालय का प्रावधान है। संघीय न्यायालय में सीधे मुकदमे और अपीलें दायर की जा सकेंगी। साथ ही यह संविधान ऐक्ट की व्याख्या से पैदा होने वाले विवादों या उनके कारण उत्पन्न अधिकारों और कर्तव्यों संबंधी विवादों का फैसला करेगा। संघीय न्यायालय

1. श्वेत पत्र का पैरा-15
2. प्रस्तावों का पैरा-49

के निर्णय के बाद ऐसे किसी मामले की अपील जो संविधान ऐक्ट की व्याख्या से संबंध रखता होगा, हिज मैजेस्टी इन कौंसिल से की जाएगी। भारत में एक सर्वोच्च न्यायालय भी होगा जो ब्रिटिश भारत के उच्च न्यायालयों के मामलों की अपीलें सुनेगा। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के खिलाफ दीवानी (सिविल) अपीलें हिज मैजेस्टी इन कौंसिल से तभी की जा सकेंगी जब सर्वोच्च न्यायालय इसके लिए अनुमति दे देगा। फौजदारी मुकदमों की कोई अपील नहीं की जा सकेगी। श्वेतपत्र के प्रकाशन के बाद संयुक्त संसदीय समिति के सामने साक्ष्य देते हुए सर सैमुअल होर ने कहा था कि सर्वोच्च न्यायालय में मामले को रखने का इरादा छोड़ा जा सकता है और ऐसा प्रावधान किया जा सकता है कि विधायिका जब उपयुक्त समझे संघीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बढ़ाकर इसे ही अपील का अंतिम न्यायालय बना दे। हां, हिज मैजेस्टी इन कौंसिल से अपील का अधिकार तो हमेशा रहेगा ही। श्वेतपत्र के अनुसार संघीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों (और सर्वोच्च न्यायालय के भी बन जाने पर उसके भी न्यायाधीशों) को हिज मैजेस्टी नियुक्त करेंगे जो सद्व्यवहार करने पर अपने पदों पर बने रहेंगे। उनके वेतन, पेंशन आदि कौंसिल के आदेश से नियत की जाएगी और उन पर विधायिका में मतदान नहीं हो सकेगा।

संविधान ऐक्ट के लागू हो जाने पर भारत मंत्री की वर्तमान कौंसिल को भंग कर दिया जाएगा। इसके बाद भारत मंत्री कम से कम तीन और अधिक से अधिक छह सदस्यों की सलाहकार परिषद नियुक्त करेंगे। संविधान ऐक्ट के लागू होने से पहले भारत मंत्री जिन लोगों को नियुक्त करेंगे वे उन सभी सेवा अधिकारों को भोगते रहेंगे जो उनको नियुक्ति के दिन उन्हें प्राप्त थे। ऐक्ट के लागू हो जाने के बाद भारत मंत्री इंडियन सिविल सर्विस, इंडियन पुलिस सर्विस और एक्ले-सियेस्टिकल विभाग (धार्मिक विषयों का विभाग) में नियुक्तियां करेंगे और नियुक्त व्यक्ति के वेतन, भत्ते, पेंशन, अनुशासन और आचरण आदि सेक्रेटरी आफ स्टेट द्वारा बनाए गए नियमों से नियंत्रित होंगे। भारत मंत्री द्वारा नियुक्त सभी व्यक्ति उन सभी सेवा अधिकारों को भोगते रहेंगे जो उनको नियुक्ति के दिन उन्हें प्राप्त थे। संविधान ऐक्ट की शुरुआत से पांच साल पूरे होने पर विदेश विभाग और धर्म विभाग को छोड़कर बाकी सभी सेवाओं की भावी भर्ती के सवाल पर विचार करने के लिए एक कानूनी जांच समिति बिठाई जाएगी। इस जांच के काम में भारत सरकार को शामिल किया जाएगा और इसके जो निष्कर्ष होंगे उन पर निर्णय देना ब्रिटिश सरकार पर छोड़ा जाएगा और वह जो निर्णय देगी उस पर ब्रिटिश पार्लियामेंट के दोनों सदनों की मंजूरी होगी।[1]

इस प्रकार भारत को तथाकथित जिम्मेदारी दे दिए जाने के बावजूद महत्वपूर्ण सेवाएं लंदन में बैठे भारत मंत्री के ही नियंत्रण में रहेंगी। संघ और प्रांतों की सरकारों के नीचे

1 श्वेत पत्र के प्रस्ताव पैरा 189

ऐसे अफ़सर काम कर रहे होंगे जिनके भाग्य का फैसला उनके हाथ में नहीं होगा और न ही वे उनके खिलाफ किसी प्रकार का कोई अनुशासनात्मक कदम उठा सकेंगे। अन्य सेवाओं के बारे में यह है कि संघीय और प्रांतीय सरकारें अपने-अपने अधीन सेवाओं में नियुक्तियां करेंगी और वही उनकी सेवा शर्तों को भी तय करेंगी। संघीय सेवाओं और प्रांतीय सेवाओं में नियुक्तियों के लिए प्रतियोगी परीक्षाएं लेने के लिए क्रमश: संघीय लोक सेवा आयोग और प्रांतीय लोक सेवा आयोग स्थापित किए जाएंगे। संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों को सेक्रेटरी आफ स्टेट और प्रांतीय लोक सेवा आयोगों के सदस्यों को प्रांतों के गवर्नर नियुक्त करेंगे। लोक सेवा आयोग के सदस्यों के वतन आदि पर भी विधायिकाओं में वोट नहीं लिया जा सकेगा। इस तरह लोक सेवा आयोग भी जनता की इच्छा और आकांक्षा से परे होंगे।

अंग्रेजों के हितों की रक्षा के लिए कुछ और भी प्रावधान किए गए हैं। इंडियन रिजर्व बैंक[1] की स्थापना जिसके बारे में पहले ही जिक्र किया जा चुका है, संघ स्थापित होने से पहले ही होनी चाहिए। यह शर्त रखी गई है कि रिजर्व बैंक लंदन के हुक्म पर चल कर मुद्रा और विनिमय का प्रबंध करेगा। भारतीय रेलों की जिनके पास विशाल साधन हैं, प्रबंध व्यवस्था के लिए कानून द्वारा एक रेलवे बोर्ड स्थापित किया जाएगा। उसकी रचना इस प्रकार होगी कि वह व्यापारिक सिद्धांतों के आधार पर चले और उसमें कोई राजनीतिक हस्तक्षेप न हो। इस प्रकार रेलवे बोर्ड की संरचना में भी जनता की किसी प्रकार की कोई आवाज नहीं रहेगी। अंत में अंग्रेज व्यापारी वर्ग के निहित स्वार्थों को भी अक्षुण्ण रखने के लिए एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रावधान किया गया है। संघीय विधायिका या प्रांतीय विधायिका को युनाइटेड किंगडम (इंग्लैंड) के निवासी किसी ब्रिटिश नागरिक (या वहां की किसी कम्पनी) पर कुछ निश्चित अधिकार भोगने के मामले में किसी प्रकार की अयोग्यता लगाने वाला या भेदभाव करने वाला कानून बनाने का अधिकार नहीं होगा जैसे कि उनको ब्रिटिश भारत में प्रवेश, यात्रा, कहीं भी रहने या बसने, किसी भी प्रकार की सम्पत्ति रखने, ब्रिटिश भारत में या उसके किसी निवासी के साथ किसी भी प्रकार का व्यापार-धंधा करने, अपनी मर्जी से उपर्युक्त कामों के लिए एजेंट या नौकर नियुक्त करने के बारे में। कानून पर तो इस तरह की पाबंदियां आज भी नहीं हैं। उदाहरण के लिए इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली भारतीयों को व्यापार-धंधे में विशेष लाभ पहुंचाने के आवश्यक कानून बना सकती है यद्यपि गवर्नर जनरल बाद में चाहें तो इनका निषेध कर सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार इंडियन कोंस्टल

---

1 इंडिया आफिस, लंदन ने 4 अक्तूबर, 1934 को घोषणा की है कि इंडियन रिजर्व बैंक रिज 1935 के शुरू में तैयार हो जाएगा। उसके गवर्नर, डिप्टी गवर्नर और केन्द्रीय बोर्ड को तो ब्रिटिश सरकार नियुक्त करेगी ही, सच तो यह है कि कुछ नियुक्तियां हो भी चुकी हैं। सर ओसबोर्न स्मिथ बैंक के गवर्नर नियुक्त किए गए हैं, श्री जे सी. टेलर प्रथम डिप्टी गवर्नर और सर सिकंदर हयात खां (कुछ समय के लिए पंजाब के स्थानापन्न गवर्नर) दूसरे डिप्टी गवर्नर।

शिपिंग बिल जैसे कानून पर बिलकुल रोक लगा देना चाहती है जिसका उद्देश्य भारत के तटीय व्यापार को भारतीय जहाज कम्पनियों के लिए ही सुरक्षित रखना है।

जहां तक मौलिक अधिकारों का संबंध है, जिसके बारे में भारतीय जनमत सदा से इतनी जोरदार मांग करता आया है, श्वेतपत्र में कहा गया है - इस प्रकार की बहुत व्यापक घोषणाओं को कानून का स्वरूप देने में ब्रिटिश सरकार को गम्भीर आपत्तियां हैं लेकिन उसे इतना संतोष है कि इस प्रकार के कुछ प्रावधान ऐसे अवश्य हैं जिन्हें संविधान ऐक्ट में उचित रूप से स्थान दिया जा सकता है या दिया जाना चाहिए, उदाहरणार्थ व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सम्पत्ति का अधिकार और सार्वजनिक पदों के लिए हर व्यक्ति को किसी प्रकार की जाति, धर्म आदि के बिना भेदभाव के पात्रता। इस संबंध में भाषण की स्वतंत्रता, संगठन बनाने की स्वतंत्रता आदि बिल्कुल बुनियादी अधिकारों का कोई उल्लेख नहीं है और न ही इस बात का कोई आश्वासन दिया गया है कि जो थोड़े से अधिकार दिए जाएंगे उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा।[1]

श्वेतपत्र के अनुसार प्रांतों के गवर्नरों के मंत्रियों, प्रांतीय विधायिकाओं और प्रांतीय प्रशासन के साथ ठीक वैसे ही संबंध होंगे जैसे केन्द्र में गवर्नर जनरल के हैं। इसलिए इस तरह के सब प्रावधानों को दुहराना आवश्यक नहीं है। केवल इतना ही अंतर होगा कि प्रांतों में कौंसलरों के हाथ में रहने वाले सुरक्षित विभाग नहीं होंगे। वरन् उन्हीं की तरह पृथक क्षेत्र या आंशिक रूप से भिन्न के प्रशासन होंगे, उन पर विधायिकाओं का कोई नियंत्रण नहीं होगा। अधिकांश प्रांतों में एक ही सदन होगा लेकिन बंगाल, संयुक्त प्रांत और बिहार में दो-दो सदन होंगे। निम्न सदन (लेजिस्लेटिव असेम्बली) की कार्यावधि पांच साल और उच्च सदन (प्रोविंशियल कौंसिल) की सात साल होगी। प्रांतीय कौंसिल के कुछ सदस्यों को गवर्नर नामजद करेगा और कुछ मुस्लिम और गैर-मुस्लिम मतदाता चुनाव क्षेत्रों से चुनकर आएंगे। बंगाल और बिहार में कुछ सदस्य एकल हस्तांतरणीय मत द्वारा प्रांतीय असेम्बली से चुनकर आएंगे (बंगाल में एक सदस्य मत देने की योग्यता रखने वाले यूरोपियन मतदाताओं की ओर से चुना जाएगा)। प्रांतीय असेम्बलियों का विधान नीचे दिया जा रहा है।

श्वेतपत्र में जो मताधिकार की योजना दी गई है वह लोथियन कमेटी की रिपोर्ट, साम्प्रदायिक अवार्ड और पूना पैक्ट पर आधारित है। सामान्य रूप से कहा जाए तो वर्तमान प्रांतीय मताधिकार को ही संघीय विधायिका के निम्न सदन का मताधिकार बना दिया गया है। मतदाता स्त्रियों का पुरुष मतदाताओं से जो अनुपात इस समय है वह अपरिवर्तित रहेगा। इस समय सभी प्रांतों में मताधिकार सम्पत्ति के आधार पर दिया गया है। श्वेतपत्र में यह प्रस्ताव है कि सम्पत्ति के साथ-साथ शिक्षा की योग्यता को भी स्त्री-पुरुष सबके

1 उदाहरण के लिए यह स्पष्ट नहीं है कि बिना मुकदमा चलाए जेल में डालना भारत में भी उसी तरह असंभव कर दिया जाएगा जिस तरह इंग्लैंड में हैबियस कार्पस ऐक्ट के कारण है।

लिए समान रूप से एक और योग्यता मान लिया जाए। दलित वर्गों के लिए उनकी दो प्रतिशत आबादी को मताधिकार देने के लिए पृथक मताधिकार होगा। श्वेतपत्र में ब्रिटिश भारत की कुल 2-3 प्रतिशत आबादी को अर्थात 70-80 लाख लोगों को मताधिकार देने का प्रस्ताव है।

भावी प्रांतीय असेम्बलियों के लिए मताधिकार स्त्री-पुरुषों के लिए समान रूप से सम्पत्ति पर आधारित है और स्त्रियों के बारे में पति की सम्पत्ति होने पर स्त्री को मताधिकार मिल जाता है। दलित वर्ग के लिए एक प्रकार का मताधिकार रखा गया है ताकि उनकी 10 प्रतिशत आबादी को मताधिकार मिल सके। भविष्य में स्त्री-पुरुष मतदाताओं की संख्या का अनुपात एक और सात का हो जाएगा जो इस समय 1 और 21 का है। श्वेत पत्र के अनुसार गवर्नरों के प्रांतों में वहां की आबादी के औसत 14 प्रतिशत को या वयस्क आबादी के 27 प्रतिशत को मताधिकार दिया जाएगा।

प्रांतीय और संघीय विधायिकाओं में सिखों, मुसलमानों, भारतीय ईसाइयों, एंग्लो-इंडियनों और यूरोपियनों के लिए जो नियत सीटें होंगी उनके चुनाव क्षेत्रों में मतदान अलग-अलग सम्प्रदायों के मतदाताओं द्वारा अपने-अपने सम्प्रदाय के उम्मीदवार को वोट देने के आधार पर होगा। जो इनमें से किसी भी चुनाव क्षेत्र के मतदाता नहीं होंगे वे आम चुनाव क्षेत्र में मत देने के अधिकारी होंगे। दलित वर्गों के लिए जो सीटें दी गई हैं वे आम सीटों में से ही दी गई हैं जैसा कि आगे की तालिका में दिया गया है और इनके लिए चुनाव उसी तरह होगा जिस तरह पूना पैक्ट में व्यवस्था की गई है अर्थात सब हिन्दुओं के लिए सम्मिलित निर्वाचन द्वारा, लेकिन प्राथमिक चुनाव केवल दलित वर्ग द्वारा करने के आधार पर होगा। असेम्बली में स्त्रियों की सीटों का चुनाव प्रांतीय विधायिकाओं के सदस्यों द्वारा एकल हस्तांतरणीय मत के आधार पर होगा, लेकिन प्रांतीय विधायिकाओं के लिए उनके चुनाव की विधि अभी विचाराधीन है। वाणिज्य और उद्योग तथा जमींदारों के लिए नियत सीटों का चुनाव विशेष प्रकार के चुनाव-क्षेत्रों से किया जाएगा। श्रमिकों के लिए नियत सीटों के लिए चुनाव गैर-साम्प्रदायिक चुनाव-क्षेत्रों से होंगे। उनमें से कुछ मजदूर संघों के और कुछ विशेष प्रकार के चुनाव-क्षेत्र होंगे। भारतीय ईसाइयों और स्त्रियों के संगठनों ने साम्प्रदायिक चुनावों का जबरदस्त विरोध किया था लेकिन उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया गया। बंगाल और पंजाब में बहुसंख्यक मुसलमानों को कानूनी रूप में बहुमत प्रदान कर दिया गया है जबकि अल्पसंख्यक हिन्दुओं को उनकी जनसंख्या के अनुपात में उसी तरह का प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है जिस तरह अन्य सब प्रांतों में अल्पसंख्यक मुसलमानों को दिया गया है।

उपर्युक्त प्रावधानों का प्रभाव यह होगा कि प्रांतीय असेम्बलियां उस ढंग से गठित और रचित होंगी जैसाकि तालिका में दिखाया गया है।

श्वेतपत्र में जो साम्प्रदायिक अवार्ड सन्निहित है उसका एक ही लक्ष्य प्रतीत होता है

कि भारत को और अधिक बांटा जाए ताकि जो नाम-मात्र के वैधानिक सुधार किए गए हैं उनके प्रभाव को काफी निष्प्रभ किया जा सके। इस ढंग से प्रतिनिधित्व देने की कोशिश की गई है कि यदि भारतीयों में किसी प्रकार के मतभेद हैं तो वे विधान मंडलों में और बढ़-चढ़कर प्रकट हों बजाय इसके कि उनके सहमति के मुद्दे सामने आएं। सारी की सारी योजना 'फूट डालो और राज करो' के निकृष्ट सिद्धांत पर आधारित है। जनता में फूट डालने की कोशिश में यह स्वाभाविक ही था कि उन तत्वों यानि मुसलमानों को खुश किया जाए तो सरकारी अनुमान के अनुसार औरों के मुकाबले अंग्रेज समर्थक अधिक हो सकते हैं। 19वीं शताब्दी में और इस शताब्दी के शुरू तक सरकार ने इसी प्रकार का भरोसा जमींदारों पर किया था और उन दिनों सरकार का हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों पर कम अविश्वास था। इस शताब्दी के शुरू में जमींदार लोग वफादार साबित नहीं हुए। उदाहरण के लिए उन्होंने बंग-भंग और 1905 के स्वदेशी आंदोलन में और उसके बाद के आंदोलनों में भाग लिया। अतः भारतीयों को बांटने के लिए कोई न कोई नई तरकीब ढूंढनी जरूरी हो गयी थी। अतः 1906 में वाइसराय लार्ड मिंटो के उकसाने पर और पहले से तय मसूबे के अनुसार कुछ मुसलमान नेताओं ने पृथक निर्वाचन की बात छेड़ी। इस मांग को फौरन मानकर उस पर अमल भी किया गया क्योंकि मिंटो-मार्ले सुधारों में जो प्रगति हुई थी उसको प्रभावहीन करना था। 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट में मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन जारी रहा। पिछले 14 सालों का अनुभव यह रहा है कि पृथक निर्वाचन के बावजूद और विधायिकाओं में सरकारी ब्लाक के होते हुए भी सरकार को बार-बार हराया गया। इस वजह से अंग्रेज सरकार के लिए भारतीयों में और अधिक फूट डालना जरूरी हो गया ताकि विधायिकाओं में अंग्रेज सरकार के विरुद्ध जो मिलजुल कर विरोध किया जाता है, भविष्य में उसकी सम्भावनाओं को काफी कम किया जा सके। यही कारण है कि मुसलमानों, एंग्लो-इंडियनों और सिखों आदि के अलावा भारतीय ईसाइयों, स्त्रियों, दलित वर्गों आदि के लिए भी पृथक निर्वाचन रख दिया गया है। 'रियायत के पहले बटवारे' का सिद्धांत हमें उसी प्रकार की नीति की याद दिलाता है जो आयरलैंड के साथ बरती गई जब ब्रिटिश सरकार ने आयरिश फ्री स्टेट का संविधान स्वीकार करने से पहले ही अल्स्टर को अलग कर दिया था। भारत के बारे में कहने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह का प्रतिक्रियावादी और जात-पातवादी विधान यहां कभी सफल नहीं हो सकता।

श्वेतपत्र के प्रस्तावों के बारे में उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से यह बिल्कुल साफ हो जाता है कि विदेशी सरकार भारत के लोगों को सत्ता कतई नहीं सौंपेगी। अधिकांश सत्ता और शक्ति सम्राट की ओर से भारत मंत्री के हाथ में रहेगी। प्रांतों में गवर्नरों के और केन्द्र में गवर्नर जनरल के निजी क्षेत्राधिकार में आने वाले मामले भारत मंत्री के ही नियंत्रण में रहेंगे। वही उच्च सेवाओं पर नियंत्रण रखेंगे और भारत में जो भी कानून बनेंगे उन्हें वह चाहें तो रद्द कर सकेंगे। उच्च न्यायालय, संघीय न्यायालय और संघीय लोक सेवा

प्रांत (जनसंख्या करोड़ों में)	सामान्य	दलित वर्गों के लिए आरक्षित सीटों की संख्या	पिछड़े वर्गों के प्रतिनिधियों की संख्या	सिख
मद्रास (4.56)	152 (6 महिलाओं सहित)	30	1	0
बंबई (1.8)	119 (क) (5 महिलाओं सहित)	15	1	0
बंगाल (5 0)	80 (2 महिलाओं सहित)	30	0	0
संयुक्त प्रांत (4 84)	144 (4 महिलाओं सहित)	20	0	0
पंजाब (2 36)	43 (1 महिला सहित)	8	0	32 (5 महिला सहित)
बिहार (3.24)	89 (3 महिलाओं सहित)	15	7	0
मध्य प्रांत (बरार सहित) (1.55)	87 (3 महिलाओं सहित)	20	1	0
असम (0 86)	48 (ख) (1 महिला सहित)	7	9	0
उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत (0 24)	9	0	0	3
सिंध (0.39)	19 (1 महिला सहित)	0	0	0
उड़ीसा (0 67)	49 (2 महिलाओं सहित)	7	2	0

क. इनमें से सात सीटें मराठों के लिए हैं।
ख स्त्रियों की सीट शिलांग की एक गैर-साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्र से भरी जाएगी।

मुसलमान	भारतीय ईसाई	एंग्लो इंडियन	यूरोपियन	वाणिज्य व्यापार, खनन और आयोजना विशेष (क)	जमींदार विशेष (क)	विश्व विद्यालय (विशेष)	श्रमिक (विशेष)	योग
29 (1 महिला सहित)	9 (1 महिला सहित)	2	3	6	6	1	6	215
30 (1 महिला सहित)	3	2	3	7	2	1	7	175
119 (2 महिलाओं सहित)	2	4 (1 महिला सहित)	11	19	5	2	8	250
66 (2 महिलाओं सहित)	2	1	2	3	6	1	3	228
86 (2 महिलाओं सहित)	2	1	1	1	5 (ख)	1	3	175
40 (1 महिला सहित)	1	1	2	4	4	1	3	152
14	[illegible]	1	1	2	3	1	2	112
34	1	0	1	11	0	0	4	108
36	0	[illegible]	0	0	2	0	0	50
34 (1 महिला सहित)	0	0	2	2	2	0	1	60
4	1	0	0	1	2	0	1	60

क. इन निकायों की रचना जिनके द्वारा इन सीटों के चुनाव होते हैं कानूनी रूप से नहीं की जाएगी। इनमें से अधिकांश या तो यूरोपियन बहुल होंगी या भारतीय बहुल होंगी। अतः यह निश्चित होकर नहीं कहा जा सकता कि किस प्रांत में कितने यूरोपियन और कितने भारतीय चुने जाएंगे। आशा है कि शुरू में उनकी संख्या करीब करीब इस प्रकार होगी—मद्रास 4 यूरोपियन, 2 भारतीय बम्बई 4 यूरोपियन, 2 भारतीय बंगाल 14 यूरोपियन, 5 भारतीय संयुक्त प्रांत 2 यूरोपियन, 1 भारतीय पंजाब 1 भारतीय बिहार 2 यूरोपियन, 2 भारतीय मध्य प्रांत (बरार सहित) 1 यूरोपियन 1 भारतीय आसाम 9 यूरोपियन, [illegible] भारतीय सिंध 1 यूरोपियन, 1 भारतीय उड़ीसा 1 भारतीय।

ख. इनमें से एक तुमनदार की सीट है। जमींदारों की चार सीटें विशेष चुनाव क्षेत्रों से संयुक्त निर्वाचन के आधार पर भरी जाएंगी। निर्वाचकों की अलग अलग संख्या को देखते हुए ऐसा संभव है कि 1 हिन्दू, 1 सिख और 2 मुसलमान चुने जाएंगे।

आयोगों के सदस्यों की नियुक्ति भी यही करेंगे। भारत के गवर्नर जनरल को आज की अपेक्षा और अधिक शक्तिशाली और निरंकुश बना दिया जाएगा। किसी न किसी बहाने जैसे कि सुरक्षित विभाग या विशेष जिम्मेदारी या विवेकाधीन शक्ति के नाम पर उन्हें आज की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तियां दे दी गई हैं। उन मामलों में भी, जो सामान्यतः विधायिका के नियंत्रण और देखरेख में होते हैं, गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप की बहुत गुंजाइश रहेगी। कुल व्यय का 80 प्रतिशत ऐसा होगा जिस पर वोट नहीं लिया जा सकेगा। यहां तक कि विधायिका के सारे कामकाज पर उनका शिकंजा आज से कहीं ज्यादा मजबूत रहेगा। और बड़ी बात यह है कि संघीय विधायिका की संरचना आज की केन्द्रीय असेम्बली की संरचना से भी कहीं ज्यादा प्रतिक्रियावादी रहेगी। प्रांतों में भी स्थिति इससे अधिक बेहतर नहीं होगी और जिस प्रांतीय स्वायत्तता का बहुत ढिंढोरा पीटा गया है वह खोखली और दिखावटी होगी। इन परिस्थितियों में ऐसा कोई भी आदमी, जिसका भारत से कुछ भी सरोकार है, नए संविधान का हामी नहीं हो सकता।

भारतीय इतिहास में महात्मा गांधी का स्थान

कोई भी मनुष्य इतिहास में अपनी जो भी भूमिका निभाता है वह कुछ तो उसकी शारीरिक और मानसिक क्षमता पर और कुछ उस काल और वातावरण पर निर्भर करती है जिसमें वह अपना जीवन व्यतीत करता है। महात्मा गांधी में ऐसा कुछ है जो भारत की जनता को भाता है। यदि वह किसी और देश में पैदा होते तो वहां कदापि सफल न होते। उदाहरणार्थ, वह रूस, जर्मनी या इटली में भला क्या कर पाते? उनके अहिंसा के सिद्धांत ने या तो उन्हें सूली पर चढ़वा दिया होता या पागलखाने भिजवा दिया होता। पर भारत की बात ही कुछ और है। उनका सादा जीवन, उनका शाकाहार, उनका बकरी का दूध पीना, उनका साप्ताहिक मौन, कुर्सी की बजाय उनका जमीन पर बैठना, उनकी लंगोटी इत्यादि उनकी हर आदत और चीज उन्हें प्राचीन साधु-महात्माओं जैसी बनाती है जिनके कारण वह अपने देशवासियों के बहुत निकट आ गए हैं। कहीं भी जाइए, गरीब से गरीब आदमी यही सोचता है कि वह भारत की मिट्टी की उपज हैं, उसके सगे हैं। जब वह बोलते हैं तो उस भाषा में बोलते हैं जो जनता समझती है। उदाहरणार्थ, वह सर सुरेंद्र नाथ बनर्जी की तरह एडमंड बर्क और हरबर्ट स्पेंसर की भाषा नहीं बोलते। वह भगवद्गीता और रामायण की भाषा बोलते और उन्हीं की बातें करते हैं। जब वह जनता से स्वराज की बात करते हैं तो प्रांतीय स्वायत्तता और संघ के गुण-दोष की चर्चा नहीं करते। वह उन्हें याद दिलाते हैं कि रामराज्य कैसा था। ऐसी बातों को जनता भली प्रकार समझती है। और जब वह प्रेम और अहिंसा द्वारा दूसरे को जीतने की बात करते हैं तो वह बुद्ध और महावीर की वाणी प्रतीत होती है और लोग चट उनकी बात मान लेते हैं।

महात्मा जी की काया और आचरण भारतीयों की परम्परा और स्वभाव के अनुकूल बैठते हैं। यह उनकी सफलता का एकमेव कारण है। यदि वह भारत के इतिहास के किसी और युग में जन्मे होते तो वह इतने यशस्वी कभी न हो पाते। यदि हम 1857 की क्रांति का उदाहरण लें तो वह उस समय भला क्या करते जब लोगों के पास हथियार थे, वे लड़ सकते थे और ऐसा नेता चाहते थे जो युद्ध में उनका नेतृत्व कर सके। महात्मा गांधी की सफलता का कारण एक ओर वैधानिक उपायों की असफलता और दूसरी ओर सशस्त्र क्रांति की असफलता है। 19वीं शताब्दी के 80 के दशक से भारत की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक मेधा वैधानिक लड़ाई में जुटी रही। उनके लिए सबसे बड़ा और अनिवार्य गुण था ओजस्वी वाग्मिता और सम्भाषण की कला। वैसे वातावरण में भी महात्मा जी का उतना प्रभाव और प्रमुखता पा सकना सम्भव नहीं होता। इस शताब्दी के आरंभ-अंत वर्षों का विप्लव

वैधानिक उपायों में कम होता गया। 'स्वदेशी', और विदेशी माल का बायकाट, इन दोनों शस्त्रों का साथ-साथ ही आविर्भाव हुआ और इनके साथ ही जन्म हुआ क्रांतिकारी आंदोलन का। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, क्रांतिकारी आंदोलन भी जोर पकड़ता गया (विशेषकर उत्तर भारत में) और प्रथम महायुद्ध में क्रांति का प्रयास भी किया गया। ऐसे समय जबकि ब्रिटेन महायुद्ध में बुरी तरह फंसा हुआ था, क्रांति के असफल होने और 1919 की घटनाओं से भारत की जनता को यह पूरा विश्वास हो गया कि अंग्रेजी साम्राज्य से शस्त्र बल पर जीतना संभव नहीं है। उसने देखा कि ब्रिटेन के पास इतना शस्त्र बल है कि वह सशस्त्र क्रांति को कुचल सकता है, और इसके बाद दुखों, कष्टों और अपमान का एक लंबा सिलसिला चलेगा जिसका वर्णन कठिन होगा।

1920 में भारत चौराहे पर खड़ा था। "संवैधानिक उपायवाद" मर चुका था, सशस्त्र क्रांति कोरा पागलपन था। लेकिन मौन होकर सब कुछ सह लेना ही संभव नहीं था। उस समय देश को तलाश थी एक नई विधि या रास्ते और एक नए नेता की। बस उसी समय तेजी से उदय हुआ भारत के भाग्य निर्माता महात्मा गांधी का। वह वर्षों से उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे और बड़े धैर्य के साथ आने वाले महान कार्य को संभालने की तैयारी कर रहे थे। वह स्वयं को जानते थे, अपने देश की आवश्यकता को समझते थे और यह भी समझ चुके थे कि भारत के संघर्ष के अगले दौर में नेतृत्व का सेहरा उन्हीं के सिर बंधना है। उन्होंने व्यर्थ की संकोचशीलता नहीं दिखाई। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से अपनी बात कही और लोगों ने उसका पालन किया।

आज की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अधिकांशतः उनकी सृष्टि है। कांग्रेस का विधान भी उन्हीं का बनाया है। उनसे पहले कांग्रेस बस भाषण-भट्टों की संस्था थी। उन्होंने ही उसे एक जीवित और जुझारू संगठन का रूप दिया। भारत के कोने-कोने में, हर गांव और शहर में उसका जाल फैला हुआ है और सारे राष्ट्र को एक ही आवाज को सुनने का अभ्यास कराया गया है। निर्मल चरित्र और कष्ट सहन करने की क्षमता, नेतृत्व के दो अनिवार्य गुण माने गए हैं और कांग्रेस इस समय देश की सबसे बड़ी और सबसे अधिक जन-प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था है।

वह इतना सब कुछ इतने थोड़े से समय में कैसे हासिल कर सके? अपनी एकाग्र निष्ठा से, अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति और अपने अथक औ नितांत परिश्रम से और बात यह थी कि उनके लिए समय उपयुक्त था और उनकी नीति बुद्धिमानी की थी। यद्यपि वह क्रियाशील अवश्य हैं पर अपने देशवासियों की निगाह में पर्याप्त क्रांतिकारी नहीं हैं। यदि वह ऐसे होते तो लोग उनसे प्रेरणा पाने की बजाय डर कर दूर भागने लगते। उनकी नीति सबको मिलाने की रही। वह हिन्दू और मुसलमानों को, ऊंची और नीची जाति वालों को, पूंजीपति और मजदूरों को तथा जमींदार और काश्तकार को मिलाना चाहते हैं। अपनी मानवीय दृष्टि और घृणा से मुक्त स्वभाव के कारण वह अपने शत्रु के मन में भी सहानुभूति

उत्पन्न करने में सफल रहे।

लेकिन स्वराज आज भी दूर का स्वप्न है। इसे पाने को लोग 14 वर्षों से उम्मीद लगाये बैठे हैं और अभी और बहुत साल प्रतीक्षा करनी होगी। इतने उज्ज्वल चरित्र और अभूतपूर्व समर्थन के बावजूद महात्माजी भारत को स्वाधीन करने में क्यों असफल रहे हैं?

वह असफल इस कारण रहे हैं कि किसी भी नेता की शक्ति उसके समर्थकों की संख्या पर नहीं बल्कि उन समर्थकों के गुणों पर निर्भर रहा करती है। इससे कहीं कम साथियों के बल पर अन्य नेता अपने देश को स्वाधीन करने में समर्थ हो सके जबकि महात्माजी वैसा नहीं कर सके। वह इस कारण असफल हुए हैं कि जहां वह अपने देशवासियों यानी अपने लोगों के चरित्र को समझ सके हैं वहीं वह अपने विरोधियों के चरित्र को नहीं समझ पाए हैं। महात्माजी की युक्ति या तर्क वह नहीं है जिसे जान बुल (इंग्लैंड) समझता हो। उनकी असफलता उनकी इस नीति के कारण रही है कि वह अपनी सारी चालें पहले से ही बता देते हैं। जो कहने का काम हो वह जरूर कहो लेकिन राजनीतिक लड़ाई में कूटनीति को एकदम मत त्यागो। वह इस कारण भी सफल नहीं हुए हैं कि उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय हथियारों का इस्तेमाल नहीं किया। यदि हम अहिंसा द्वारा ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें कूटनीति और अंतर्राष्ट्रीय प्रचार (प्रोपेगेंडा) का अनिवार्य रूप से सहारा लेना पड़ेगा। सफलता उनके हाथ नहीं लगी, इसका कारण है कि उनकी एकता की थोथी भावना, अर्थात ऐसे हितों को एकता की कोशिश जो मूलतः एक दूसरे के विरोधी हैं और एक हो ही नहीं सकते। इस तरह के तथ्यों की दिखावटी एकता शक्ति नहीं प्रदान कर सकती बल्कि राजनीतिक युद्ध में दुर्बलता का ही कारण बनती है। भारत का भविष्य उन्हीं उग्र और जुझारू व्यक्तियों के हाथ में है जो आजादी पाने के लिए आवश्यक त्याग और बलिदान कर सकते हैं और कष्ट और पीड़ाएं सहन कर सकते हैं। उनकी असफलता का अंतिम लेकिन अत्यंत महत्वपूर्ण कारण यह रहा है कि उनको दो खेल करने पड़ रहे हैं—एक खेल एक गुलाम देश का नेतृत्व करने का और दूसरा संसार के सामने एक नया सिद्धांत रखने वाले एक गुरु और शिक्षक का। उनके इसी द्वैत व्यक्तित्व के कारण जहां विंस्टन चर्चिल जैसे लोग उन्हें अंग्रेजों का सबसे बड़ा शत्रु मानते हैं वहां कुमारी एलेन विल्किंसन उन्हें अंग्रेजों का सबसे अच्छा पुलिसमैन समझती है।

भविष्य में क्या होगा? आने वाले समय में महात्माजी क्या खेल अदा करने वाले हैं? क्या वह अपने देश को आजाद करा सकेंगे? इस बारे में कई बातों पर ध्यान देना होगा। जहां तक उनके स्वास्थ्य और शारीरिक बल का प्रश्न है, उनकी बहुत अधिक संभावना है कि अभी वह बहुत वर्षों तक सक्रिय और उपयोगी सार्वजनिक जीवन व्यतीत कर पायेंगे और अपने देश के लिए कुछ ठोस वस्तु प्राप्त करने की उनकी अटूट अभिलाषा उन्हें जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करती रहेगी। जहां तक उनकी लोकप्रियता और उनकी ख्याति का प्रश्न है, उनमें भी अब समय तक कोई असर नहीं पड़ने वाला है क्योंकि अन्य नेताओं

की तरह महात्माजी की लोकप्रियता और ख्याति उनके राजनीतिक नेतृत्व के कारण नहीं, उनके चरित्र के कारण है, हमें विचार इस सवाल पर करना है कि क्या महात्माजी अपना राजनीतिक कार्यकलाप जारी रखेंगे या, जैसे कि इस समय संकेत हैं, वह पूरी तरह सामाजिक और मानव सेवा के काम में जुट जायेंगे। महात्माजी के बारे में कोई भी भविष्यवाणी करना कोई आसान काम नहीं। फिर भी एक बात निश्चित है। जब तक उनके लिए राजनीतिक आंदोलन का मार्गदर्शन करना संभव हो सकेगा, वह वैसा करते रहेंगे; लेकिन यदि कांग्रेस की रचना और मानसिकता बदल जाती है तो वह संभवत: सक्रिय राजनीति से अलग हो जाएं। उनका यह संन्यास स्थायी भी हो सकता है और अस्थायी भी। अस्थायी रूप से हट जाने का कोई खास महत्व भी नहीं है क्योंकि नेता फिर से राजनीतिक रंगमच पर आ सकता है। एक बार पहले भी, यानी 1924 से 1928 तक, हमें महात्माजी के सक्रिय राजनीति से हट जाने का अनुभव है। महात्मा गांधी के स्थायी रूप से राजनीति से संन्यास लेने की संभावना कम से कम कुछ हद तक ब्रिटिश सरकार के रवैये पर भी निर्भर करती है। यदि उन्हें अपने देश के लिए कुछ उपलब्ध हो जाता है तो अपने देशवासियों के बीच उनकी स्थिति इतनी सुदृढ़ हो जायेगी कि उन्हें कोई हिला नहीं सकेगा। और फिर यह तो है ही कि सफलता से बड़ी सफलता और क्या हो सकती है; और महात्माजी की सफलता से उनके व्यक्तित्व में और उनके अहिंसा और असहयोग के अस्त्र में जनता का विश्वास और पक्का हो जाएगा। लेकिन यदि ब्रिटिश सरकार का रवैया इसी प्रकार का न झुकने वाला बना रहा जैसा कि आजकल है तो महात्माजी के राजनीतिक नेतृत्व में और उनके अहिंसा और असहयोग के हथियार में जनता की आस्था काफी डिग जायेगी। उस स्थिति में वह स्वाभाविक रूप से अधिक प्रखर नेतृत्व और नीति की ओर अपना मुंह मोड़ेगी।

आज महात्माजी की अपने देशवासियों में जबर्दस्त लोकप्रियता और ख्याति है और उनके राजनीतिक भविष्य का जो भी हश्र हो, वह बनी ही रहेगी। उनकी अद्वितीय और असाधारण स्थिति उनके राजनीतिक नेतृत्व के कारण ही है। महात्माजी स्वय यह समझते हैं कि जनता में लोकप्रियता और राजनीति में उनका समर्थन दो अलग-अलग वस्तुएं हैं और वह केवल लोकप्रियता से संतुष्ट नहीं हैं। यदि ब्रिटिश सरकार का रवैया आज जैसा ही दृढ़ और न झुकने वाला रहा तो वह आने वाले वर्षों में अपना राजनीतिक समर्थन बनाए रह सकते हैं या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि वह कोई अधिक प्रखर नीति जनता के सामने रख सकते है या नहीं। क्या वह देश के सभी तत्वो को मिलाने की कोशिश की अपनी नीति को छोड़ कर अधिक उग्र तत्वों के साथ मिलने का साहस दिखा सकेंगे? यदि ऐसा हुआ तो उन्हें कोई मात नहीं दे सकेगा। भारतीय सघर्ष के वर्तमान चरण का नेता ही अगले चरण का भी नेता बनेगा। किन्तु संभावनाओ का अधिक झुकाव किस ओर है?

इस बारे में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की मई 1934 की पटना बैठक एक अच्छा उदाहरण है। उस बैठक में महात्माजी ने कौंसिल-प्रवेश का प्रस्ताव स्वयं रख कर स्वराजवादियों के विद्रोह को नहीं होने दिया। लेकिन आज 1934 के स्वराजवादी 1922–23 से गतिशील स्वराजवादी नहीं हैं। अतः वह इनको तो अपनी तरफ मिला सके लेकिन वामपक्षियों की नाराजगी नहीं रोक सके, जिनमें से बहुतों ने मिलकर कांग्रेस समाजवादी पार्टी बना ली है। यह पहला अवसर है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ही खुलकर एक समाजवादी पार्टी बनाई गई है और इसकी पूरी-पूरी संभावना है कि भविष्य में आर्थिक मसलों को आगे लाया जाएगा और उन्हें प्रमुखता दी जाएगी। आर्थिक मसलों के स्पष्ट हो जाने से कांग्रेस के भीतर और बाहर जनता में भी पार्टियां अधिक वैज्ञानिक आधार पर गठित होंगी।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी इस समय फेबियन सोशलिस्टों के प्रभाव में मालूम होती है और उनके कुछ विचार और सोच-समझ कुछ दशक पहले के फैशन में शामिल थे। कुछ भी हो, कांग्रेस समाजवादी पार्टी देश के भीतर की एक प्रखर शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। ऐसे बहुत से लोग जो उनकी मदद कर सकते थे आज उपलब्ध नहीं हैं। जब उनकी सहायता इन्हें मिलने लग जायेगी तो यह पार्टी और अधिक तरक्की करेगी।

कांग्रेस के भीतर ही महात्माजी के नेतृत्व के लिए एक और चुनौती उभर आई है। यह है प. मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व में कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी। झगड़ा शुरू हुआ प्रधान मंत्री रैमजे मैकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक अवार्ड से। यह मुद्दा अपेक्षाकृत छोटा ही है क्योंकि अधिकृत कांग्रेस और कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी, दोनों ही श्वेतपत्र को पूरी तरह अस्वीकार कर दिए जाने के पक्ष में हैं। साम्प्रदायिक अवार्ड तो इसी का अभिन्न अंग है। बात इतनी ही है कि अधिकृत कांग्रेस साम्प्रदायिक अवार्ड की खुल कर निंदा करने से डरती है। लेकिन कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी देश की अग्रगामी शक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती, इस कारण अंत में महात्माजी के नेतृत्व को कोई चुनौती उनकी ओर से आने वाली नहीं है।

आज की इस स्थिति में एक भविष्यवाणी निश्चित रूप से की जा सकती है। वह यह कि कांग्रेस के भीतर जो पार्टियां बनेंगी वे आर्थिक मसलों को लेकर ही बनेंगी। यह भी असंभव नहीं दिखाई देता कि वामपक्षियों द्वारा कांग्रेस तंत्र पर कब्जा कर लेने की सूरत में दक्षिण पक्ष वाले अलग होकर इंडियन लिबरल फेडरेशन की तरह अपना एक और दक्षिणपंथी संगठन बना लें। जब तक कि ये मसले तय नहीं हो जाते तब तक महात्माजी के राजनीतिक प्रभुत्व को कोई चुनौती नहीं खड़ी हो सकती, भले ही 1924 की तरह वह अस्थायी रूप से संन्यास ले लें। किन्तु यदि एक बार स्थिति साफ हो जायेगी तो उनके पीछे जो समर्थन है, उस पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महात्माजी ने अतीत में जमींदार और किसान, पूंजीपति और मजदूर, गरीब और अमीर,

सभी परस्पर विरोधी तत्वों को मिलाने की कोशिश की है, उनका यही प्रयत्न अब तक उनके बडे काम आया है और उन्हें सफलता प्रदान की है; पर आगे यही चीज उनकी असफलता का कारण बनेगी यह यकीन के साथ कहा जा सकता है। यदि आपस में झगडने वाले सभी तत्व मिलकर राजनीतिक आजादी के लिए लड़ने का संकल्प करें तो आंतरिक सामाजिक संघर्ष लंबे समय के लिए टल जाएगा और महात्माजी की सी स्थिति रखने वाला व्यक्ति देश के सार्वजनिक जीवन पर छाया रहेगा । लेकिन वैसा होने वाला नहीं है। निहित स्वार्थ यानी समृद्ध लोग राजनीतिक संघर्ष में भविष्य में गरीबों के साथ आना पसंद नहीं करेंगे और वे धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार की तरफ ही झुकेंगे। अत: इतिहास का अपना प्रकृत प्रवाह अपनी ही नियत दिशा में प्रवाहित होगा। राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों को एक साथ ही चलना होगा। जो पार्टी भारत के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करेगी वही जनता के लिए सामाजिक और आर्थिक आजादी भी प्राप्त करेगी। महात्मा गांधी ने अपने देश की ऐतिहासिक सेवा की है और करते रहेंगे, लेकिन भारत की मुक्ति (स्वाधीनता) उनके नेतृत्व में प्राप्त नहीं होगी।

अध्याय 17

बंगाल की स्थिति

1920 से 1934 तक की घटनाओं का लेखा-जोखा करते हुए भारत के संघर्ष के सभी पक्षों के साथ न्याय नहीं हो सका है। इसका विश्लेषण करते हुए हमें कई और अन्य धाराओं के भी दर्शन होते हैं। मुख्य धारा निस्संदेह राजनीतिक है और उसका नेतृत्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हाथ में है। उसके बाद एक सहायक धारा है मजदूरों और कामगारों के आंदोलन की, जिसका नेतृत्व आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के हाथ में है। भिन्न-भिन्न प्रांतों में किसान वर्ग का भी स्वतंत्र आंदोलन है जो अभी तक केन्द्रीकृत अखिल भारतीय स्वरूप नहीं ले पाया है। स्त्रियों के आंदोलन, युवकों के आंदोलन और छात्रों के आंदोलन जैसे सहायक आंदोलनों के अलावा एक और स्वतंत्र आंदोलन भी है जो कांग्रेस से पूर्णतः अलग है और जिसने सरकार को काफी परेशान किया है। यह है देश का क्रांतिकारी आंदोलन। यों तो इस आंदोलन की शाखाएं-प्रशाखाएं सारे देश में हैं फिर भी उसे अधिक समर्थन उत्तरी भारत में प्राप्त हुआ है और अपेक्षाकृत बंगाल में इसका गढ़ है। अभी तक इस आंदोलन के पीछे के मनोविज्ञान को किसी ने समझने की कोशिश नहीं की है। सरकार के एक बड़े अधिकारी ले. कर्नल बर्कले-हिल, आई एम एस ने, जो एक प्रमुख मनःचिकित्सक हैं और वर्षों तक मानसिक रोगों (पागलखानों) के अधिकारी रहे हैं, एक बार सुझाव दिया था कि सरकार को इस समस्या के विधिवत् मनोवैज्ञानिक अध्ययन की कोशिश करनी चाहिए। लेकिन उनके इस सुझाव की ओर ध्यान नहीं दिया गया। देश की आज की स्थिति में तो किसी ईमानदार भारतीय का इस बारे में कोई सफाई देना बेहद जोखिम का काम है। उस पर तुरंत क्रांतिकारी आंदोलन से सहानुभूति रखने का आरोप लगाया जाएगा और उसे बिना मुकदमा चलाए जेल में भी डाला जा सकता है। अतः जब भारतीय इस समस्या पर प्रकाश डालने की कोशिश करते भी हैं तो वे मूर्खतापूर्ण वक्तव्य दे देते हैं जिनका उद्देश्य सरकार को खुश करना होता है। उदाहरण के लिए आमतौर से यह कह देते हैं कि क्रांतिकारी आंदोलन देश के मध्यवर्गीय युवकों में बेकारी का परिणाम है।

शुरू में ही यह बता देना आवश्यक है कि क्रांतिकारी आंदोलन न तो कोई अराजकतावादी आंदोलन है और न केवल आतंकवादी आंदोलन। क्रांतिकारियों का लक्ष्य देश में कोई अराजकता या गड़बड़ पैदा करना नहीं है। यह ठीक है कि वे लोग कभी-कभी आतंकवादी कार्य कर बैठते हैं लेकिन उनका अंतिम लक्ष्य आतंकवाद नहीं, क्रांति है और उनका उद्देश्य है राष्ट्रीय सरकार स्थापित करना। यह ठीक है कि शुरू-शुरू के क्रांतिकारियों ने अन्य देशों के क्रांतिकारी तौर-तरीकों का अध्ययन किया था, लेकिन यह कहना ठीक

नहीं होगा कि इसकी प्रेरणा विदेशों से मिली। यह आंदोलन लोगों के इस विश्वास के कारण चला है कि पश्चिम के लोगों को केवल शारीरिक बल की ही बात समझ में आती है। अंग्रेज लोग यह नहीं समझते कि उन्होंने ही भारतवासियों को सिखाया है कि शारीरिक बल से कितनी कामयाबी होती है। दो-तीन दशक पहले तक (और कभी-कभी आज भी) भारत में आम अंग्रेजों का, और खास कर जो सेना या पुलिस में हैं उनका, व्यवहार आम तौर पर भारतवासियों के प्रति उद्दंडता का होता था और वे छोटी से छोटी बात पर भी किसी भारतीय का अपमान कर देते थे और उसे यह अनुभव करा देते थे कि वह एक विदेशी हुकूमत के अधीन है। सडक पर, रेल में, ट्राम में, सार्वजनिक जगहों में और सार्वजनिक जलसों आदि में अंग्रेज यही अपेक्षा करता था कि भारतीय उसके लिए रास्ता छोड़ दे और यदि कभी उसने ऐसा नहीं किया तो उसे इसकी सजा भुगतनी पड़ती थी। इस तरह के लडाई-झगडे मे या टकराव में हुकूमत की सारी ताकते अंग्रेज का ही पक्ष लेती थीं। ऐसा बहुत बार हुआ कि ऊंचे-ऊंचे पदो पर आसीन भारतीयों, यहा तक कि हाईकोर्ट के जजों तक की ऐसी ही बेइज्जती की गई। विश्व युद्ध के दौरान भी, जबकि भारत के लोग इंग्लैंड की खातिर अपना खून बहा रहे थे, कलकत्ता की ट्रामों में बार-बार अंग्रेजों का ऐसा ही बर्ताव देखने को मिलता था।[1] इस तरह के अपमान के विरुद्ध किसी प्रकार का कोई कानूनी या वैधानिक उपाय उपलब्ध नहीं था क्योंकि न तो पुलिस या न छोटे न्यायालय इस तरह के मामलों में न्याय करने का साहस कर सकते थे। फिर ऐसा समय आया कि भारतीयों ने भी बदला लेना शुरू किया, और जब उन्होंने वैसा किया तो इसका प्रभाव तुरत और कारगर हुआ। तब से उन्होंने जितनी मात्रा में मुंहतोड़ जवाब देना शुरू किया उतनी ही मात्रा में लोग अपने देश में बिना आत्मसम्मान खोए घूम-फिर सकते हैं। कलकत्ता के कालेजों तक में अंग्रेज अध्यापक भारतीय छात्रों के प्रति दुर्व्यवहार किया करते थे और आज यदि इस तरह के मामले बहुत नहीं होते तो इसका कारण यही है कि भारतीय छात्रो ने भी अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए मारपीट का ही सहारा लिया है।

क्रांतिकारी आंदोलन के पीछे बस यही मनोवृत्ति काम कर रही है। लेकिन बगाल में यह आदोलन अपेक्षाकृत क्यों अधिक सशक्त है, इसका एक और कारण भी है। झगडे का आरभ होता है मैकाले से। जब वह भारत सरकार के सदस्य के रूप में भारत मे था तो उसने बंगालियों की बड़ी ही निंदात्मक आलोचना की और उन्हें कायरों की जाति की संज्ञा दे डाली। इस घोर अपमान ने बंगालियों के दिल को गहरी चोट पहुंचाई। इसके साथ ही सरकार ने बंगालियों को सेना में न लेने का कदम उठाया, इस आधार पर कि वे अच्छे योद्धा और वीर नहीं होते। महान मुगल सरीखे केडलस्टन के लार्ड कर्जन ने तो हद ही कर दी और बंगाल के टुकड़े करके बंगालियों को कुचलने की कोशिश की।

1 मुझे स्वयं इस प्रकार के बहुत से अनुभव हुए हैं।

पहले तो लोगों ने इसका जवाब 'स्वदेशी' और 'बायकाट' के जरिए दिया लेकिन जब शांतिपूर्ण जुलूसों और सभाओं को भंग करने के लिए पाशविक बल आजमाया गया, जैसा कि बारीसाल में 1906 में हुआ, तो जनता समझ गई कि शांतिपूर्ण तरीकों से काम नहीं चलेगा। केवल घोर निराशा के कारण युवकों ने बम और रिवाल्वर का सहारा लिया। इसका प्रभाव तुरंत दिखाई पड़ने लगा। अंग्रेजों का रवैया और व्यवहार सुधरने लगा और यह धारणा बन चली कि अंग्रेजों ने अब पहली बार बंगालियों का आदर करना शुरू किया है। बेशक बहुत से बंगालियों को फांसी पर लटका दिया गया लेकिन वे यह अवश्य दिखा गए कि उनकी जाति कायरों की जाति नहीं है। अतः बहुत से बंगालियों ने उन्हें शहीद माना और वे बंगाली जाति की मूक श्रद्धा के पात्र बन गए।

इस ढंग से इस धरती पर बंगाल में क्रांति आंदोलन का जन्म हुआ। अब इसका इलाज क्या है? सरकार के सामने दो ही रास्ते हैं। पहला है लोगों को आश्वस्त करना कि राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्ति के लिए क्रांतिकारी तरीके आवश्यक नहीं हैं और दूसरा है क्रांतिकारियों का व्यक्तिगत रूप से अपने देश को शांतिपूर्ण और रचनात्मक तरीकों से सेवा करने का अवसर देना। जहां तक पहली बात का संबंध है, सरकार की अदूरदर्शी नीति ने अच्छी तरह यह दिखा दिया है कि क्रांतिकारियों का ही तर्क ठीक है। महायुद्ध के बाद जो सुधार किए गए वे इतने अपर्याप्त थे कि उनसे और व्यापक असंतोष फैला। क्रांतिकारी जब वर्षों की लंबी सजाएं भुगत कर जेलों से बाहर निकले तो उन्होंने पाया कि जिस स्वाधीनता की बात कही जाती है वह तो दिवास्वप्न है और शांतिपूर्ण और रचनात्मक तरीके से देश की सेवा करने का मार्ग भी बंद है। फिर भी महात्मा गांधी और देशबंधु चित्तरंजन दास की अपील पर उन्होंने हिंसा त्यागने और अहिंसा एवं असहयोग के नए विकल्प को आजमाने का वचन दिया। यह मानना होगा कि उनमें से बहुतों ने अपना वचन निभाया। लेकिन उधर सरकार ने क्या किया? इस आधार पर कि कहीं छिट-पुट हिंसक घटनाएं हुई हैं, सारे बंगाल में पहले 1923 में और फिर 1924 में हजारों लोगों को पकड़ कर बिना मुकदमा चलाए जेलों में डाले रखा। इतने बड़े प्रांत में किसी कोने में इक्का-दुक्का ऐसी घटनाओं के लिए इतनी गिरफ्तारियां करना एक बहाना ही कहा जाएगा। उस समय जनता में यह भावना थी कि बंगाल पुलिस की गुप्तचर शाखा में कुछ इतने अति उत्साही अफसर थे जिन्होंने अपना और अपने विभाग का अस्तित्व बनाए रखने की खातिर आंख की बजाए कल्पना से अधिक काम लिया। और तो और, लोगों का तो यहां तक विश्वास है कि निर्दोष नौजवानों को फंसाने के लिए उकसाने वाले एजेंट तक छोड़े गए। इस तरह की शिकायतों को सरकारी ढंग से नाक-भौं चढ़ाकर उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा। यदि कोई समस्या की जड़ तक पहुंचना चाहता है तो इस तरह की सभी शिकायतों की जांच करनी चाहिए। कुछ साल के बाद, यानी 1927 में और 1928 में, सरकार ने फिर नजरबंदों को छोड़ना शुरू कर दिया। लेकिन जैसा कि 1919-20 में

हुआ वैसे ही 1927-28 में भी आम माफी नहीं दी गई। फिर नजरबंदों की रिहाई के बाद पुलिस उन्हें इतना परेशान करती रही कि रिहाई के बाद चैन की सांस लेने की बजाय उनके मन में कटुता और बढ़ गई। यदि यह रिहाई उदार नीतिज्ञता का परिचय देते हुए एक साथ की जाती तो इसका प्रभाव कुछ और ही होता। बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन के 1930-34 वाले दौर को, यदि कुछ विशेष हालात पैदा न होते तो, संभवतः टाला जा सकता था। पहली बात यह है कि कलकत्ता कांग्रेस में महात्मा गांधी के रवैये से युवकों के मन पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उन्हें इससे यह लगा कि महात्माजी का नेतृत्व प्रभावहीन हो चुका है और कांग्रेस के नेतृत्व में देश में कोई भी प्रबल जन-आंदोलन चलाना लगभग असंभव है। इस अनुभूति के कारण युवकों के एक वर्ग ने क्रांतिकारी तरीके से स्वतंत्र रूप से अलग काम करने की तैयारी शुरू कर दी। इसी का परिणाम थी चटगांव के शस्त्रागार पर हमले की घटना। इस प्रकार के कार्य एक बहुत छोटे से क्षेत्र तक सीमित थे और जब 1930 में महात्माजी ने आंदोलन छेड़ा तो प्रांत भर के युवक उसकी ओर खिंच गए। बंगाल में बाद में जो क्रांतिकारी आंदोलन बढ़ा और बार-बार आतंकवादी कार्य होते रहे, उसके लिए स्वयं सरकार औरों से अधिक दोषी है। चाहे वह मिदनापुर हो या ढाका या फिर टिपरा जिला, हर जगह सरकार के एजेंटों ने जो अत्याचार किए और वैधानिक तरीकों से जनता को जो न्याय नहीं मिल पाया तथा उनकी शिकायतें दूर नहीं हो पाईं इसके कारण भड़क कर बदला लेने की भावना से लोगों ने आतंकवाद की कार्रवाइयों का सहारा लिया। चटगांव जिले में भी जो आतंकवादी घटनाएं बाद में हुईं, उसके पीछे देश में किसी क्रांतिकारी आंदोलन को भड़काने की इच्छा नहीं थी बल्कि क्रांतिकारियों के कथनानुसार वह सरकारी आतंकवाद का जवाब था।

यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या इन हालात में क्रांतिकारियों के साथ कोई समझौता संभव है? हां, संभव है, यदि सही ढंग से पहल की जाए और इरादे नेक हों। समस्या को समझने के लिए उदार मन और उसके हल के लिए साहस की आवश्यकता है। क्रांतिकारी पक्ष के साथ सीधे वार्ता करना अनिवार्य है। यदि महात्माजी या कोई अन्य जन-नेता उनका प्रवक्ता हो सकता तो इसकी आवश्यकता नहीं होती। चूंकि ऐसा संभव नहीं, इस कारण सीधे उन्हीं से बात करना ही एकमात्र विकल्प है।

पुलिस अफसर अक्सर इस बात पर जोर देते हैं कि क्रांतिकारी लोग चूंकि पूरी तरह ब्रिटेन से संबंध तोड़ने पर उतारू हैं इसलिए उन्हें कभी समझाया नहीं जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि क्रांतिकारी स्वाधीनता चाहते हैं, पर कांग्रेस भी तो यही चाहती है। यदि इस पर भी कांग्रेस से समझौते की कोशिश हो सकती है तो फिर क्रांतिकारियों से क्यों नहीं हो सकती? 1931 में बंगाल के गवर्नर सर स्टेनली जैक्सन ने इस बारे में प्रयत्न करना अच्छा समझा था और इसके लिए उन्होंने श्री जे.एम. सेनगुप्त को मध्यस्थ बनाना चाहा था। इसका जो परिणाम निकला उसे पूरी तरह निराशाजनक नहीं कहा जा सकता।

उस समय बातचीत बीच में ही टूट गई। केवल इस वजह से कि सरकार ने बक्सा नजरबंदी कैंप के राजबंदियों की इस प्रार्थना को नहीं माना कि बातचीत सीधे उनसे की जाए न कि किसी पुलिस अफसर के जरिये।

इस प्रकार के प्रयत्न की सफलता के लिए दो शर्तें जरूरी हैं। पहली यह कि गवर्नर अपनी उदार नीति से यह बिल्कुल स्पष्ट कर दें कि भारतीयों के लिए बिना हिंसा का सहारा लिए भी अपने राजनीतिक अधिकार प्राप्त कर लेना संभव है। किन्तु यदि उनकी नीति हमेशा के लिए भारत को स्वतंत्रता से वंचित रखने की है तब तो कोई समझौता संभव नहीं होगा। दूसरे, सरकार को यह देखना होगा कि जो लोग क्रांतिकारी रास्ता छोड़ देंगे उन्हें शांतिपूर्ण और रचनात्मक तरीके से अपने देश की सेवा के अवसर मिलने चाहिए। उनके लिए केवल नौकरी या रोजगार दे देना काफी नहीं होगा। यह सोचना मूर्खता होगी। बहुतों न सरकार को खुश करने के लिए यही कहा भी है कि मध्य वर्ग में बेकारी क्रांतिकारी आंदोलन की जननी है। यदि यह बात होती तो फिर भला धनीमानी लोग इसकी ओर क्यों आकृष्ट होते? यह बात सच होते हुए भी कि मध्य वर्ग में बेरोजगारी क्रांतिकारी आंदोलन का कारण नहीं है, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यदि बंगाल के युवकों के लिए सार्वजनिक सेवा के अवसर सुलभ होते तो क्रांतिकारियों को अपने काम के लिए नए रंगरूट कभी न मिल पाते। इस समय सरकार की यह नीति है, और उसे ऐसी आदत पड़ गई है कि वह हर युवक को क्रांतिकारी समझती है और उसके साथ वैसा ही बर्ताव करती है। प्रांत में ऐसी परिस्थितियां हैं जिनके रहते केवल रचनात्मक काम करके स्वराज प्राप्त करने की आशा कदापि नहीं की जा सकती। बस यही क्रांतिकारी आंदोलन के प्रमुख कारणों में से एक कारण है। यदि पूरी तरह विश्लेषण किया जाए तो क्रांतिकारी कार्य एक प्रकार से हताशा की ही अभिव्यक्ति हैं। यदि इस निराशा को दूर कर दिया जाए तो क्रांतिकारियों के साथ समझौता होना निश्चय ही संभव है। इसका मतलब यह कदापि नहीं होगा कि वे देश-भक्त नहीं रहेंगे और देश-सेवा करना छोड़ देंगे। इसका अर्थ इतना ही होगा कि वे अपना कार्य अन्य तरीकों से करेंगे।

निकट भविष्य में कोई समझौता हो सकेगा या नहीं, यह बहुत कुछ बंगाल के वर्तमान गवर्नर सर जान एंडरसन के व्यक्तित्व पर निर्भर है। भारत से बाहर जाने से पहले उन्होंने इस प्रकार के वक्तव्य दिए थे कि मैं केवल क्रांतिकारी आंदोलन को दबाने के इरादे से बाहर नहीं जा रहा बल्कि इसके कारणों की गहराई तक समझने के लिए जा रहा हूं ताकि कोई समझौता हो सके। दुर्भाग्य से उन्होंने बंगाल लौटने के बाद सही समझौते की दिशा में कोई भी कदम नहीं उठाया, न ही उन्होंने आंदोलन के कारणों को गहराई से समझने की अपनी इच्छा का कोई सबूत दिया है। हां, उन्होंने इस बीच वैसा सब कुछ किया है जिसकी एक उत्साही पुलिस अफसर से आशा की जाती है। सर जान एंडरसन के दबंगपन की ख्याति है और यह निराधार भी नहीं है। केवल एक दबंग आदमी ही उस

प्रकार की समस्या को सुलझा सकता है जो अभी तक बहुतों से नहीं सुलझ पाई है। इंडियन सिविल सर्विस और इंडियन पुलिस सर्विस के कट्टरपंथी लोग यह कभी नहीं चाहेंगे कि देश को किसी भी पार्टी से किसी प्रकार का समझौता किया जाए। क्रांतिकारी पार्टी के साथ तो समझौता हो ही नहीं सकता। अतः उन जैसे दबंग व्यक्ति का बंगाल का गवर्नर होना दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है। बस यही आशा करनी चाहिए कि वह अपनी प्रबल इच्छा शक्ति और दृढ संकल्प का इस्तेमाल अपने कार्यकाल के शेष वर्षों में अधिक उपयोगी कार्य के लिए करेंगे।

अध्याय 18

उपसंहार

अब तक जो लिखा जा चुका है, उसके बाद तीन और उल्लेखनीय घटनाएं हुई हैं। कांग्रेस का पूर्ण अधिवेशन 26 अक्तूबर, 1934 को बंबई में हुआ। केन्द्रीय विधानसभा के चुनाव, जिसमें कांग्रेस ने भाग लिया, नवंबर में शुरू हो चुके हैं और भारतीय संवैधानिक सुधारों के बारे में संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट 2 नवंबर, 1934 को प्रकाशित हुई है।

कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में जो दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किए गए हैं वे कांग्रेस के विधान में परिवर्तन और अ.भा. ग्रामोद्योग संगठन बनाने के बारे में हैं। दूसरे प्रस्ताव का अर्थ है वर्तमान खादी (कताई-बुनाई) कार्यक्रम को और बढ़ाना, जो यह प्रकट करता है कि कांग्रेस गैर-राजनीतिक कार्य पर अधिक जोर दे रही है। पहले प्रस्ताव के दो मुख्य भाग हैं : (1) कांग्रेस के प्रतिनिधियों और अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के प्रतिनिधियों की संख्या को घटाना और (2) एक ऐसे नियम का प्रावधान कि कांग्रेस कार्यकारिणी का सदस्य बनने के लिए किसी व्यक्ति को कम से कम छह महीने तक आदतन खादी पहननी होगी। ये दोनों ही प्रस्ताव महात्माजी की ही देन माने जाने जा सकते हैं।

पिछले 13 वर्षों से कांग्रेस का जो विधान चला आ रहा है उसमें कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन के लिए 6,000 प्रतिनिधियों और अ.भा. कांग्रेस समिति में 350 सदस्यों की व्यवस्था है। दिसंबर 1929 में लाहौर कांग्रेस में महात्मा गांधी, पं. जवाहरलाल नेहरू और अन्य लोगों ने प्रतिनिधियों की संख्या घटाकर 1,000 करने का प्रस्ताव किया था। लेकिन उनकी यह कोशिश सफल नहीं हुई। अब बंबई कांग्रेस ने पहली संख्या को घटाकर 2,000 और दूसरी को 155 कर दिया है। इस कदम का बहुत बड़ा महत्व है। जब 1920 में महात्माजी ने कांग्रेस तंत्र पर अपना कब्जा किया और पुराने नेताओं को बाहर निकाल दिया, तब लोकतांत्रिक शक्तियां उनके पक्ष में थीं और नागपुर अधिवेशन में कम से कम 14,000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। आज हालत यह है कि महात्माजी लोकतांत्रिक शक्तियों से डरते हैं, जिन्हें स्वयं उन्होंने ही उभारा है। यही कारण है कि उन्होंने केवल कांग्रेस प्रतिनिधियों की ही नहीं, अखिल भारतीय और प्रांतीय कांग्रेस समितियों की भी सदस्य संख्या घटायी है। स्पष्ट है कि महात्माजी अब गतिशील शक्ति नहीं रह गए हैं। संभव है ऐसा उनकी बढ़ती उम्र के कारण हो।

लेकिन सवाल यह है कि कांग्रेस ने यह वैधानिक संशोधन होने ही क्यों दिया? इसका कारण ढूंढना कठिन नहीं है। 1933 में महात्माजी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगन को अपने तीन सप्ताह के अनशन से ढक दिया। 1934 में राजनीति से संन्यास लेने की

बात कहकर उन्होंने कांग्रेस का विधान बदलवा लिया। इन दोनों ही अवसरों पर महात्माजी के लिए इतनी अधिक सहानुभूति उत्पन्न हो गई थी कि भावुक और अधिक सोच-विचार न करने वाले लोग महात्माजी की खुशी की खातिर उनके हर प्रस्ताव को मानने को तैयार हो गए।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या महात्माजी ने वास्तव में संन्यास ले लिया है? यदि हां, तो क्यों? वह केवल इस अर्थ में ही अलग हुए हैं कि अब कांग्रेस की सर्वोच्च कार्यकारिणी के सदस्यों की सूची में उनका नाम नहीं आता। लेकिन इस कार्यकारिणी यानी कांग्रेस कार्यसमिति में तो सारे के सारे उनके अंध समर्थक ही हैं। आज की कार्यसमिति, जिसमें वह नहीं हैं, पिछले साल की कार्यसमिति की अपेक्षा, जिसमें वह स्वयं थे, उनके सामने कहीं अधिक भीरू है। वर्तमान कार्यसमिति में स्वराजवादी या सांसद हैं ही नहीं। यहां तक कि श्री एस.एस. अणे, जिनका उनके सांप्रदायिक अवार्ड के बारे में मतभेद था, उनके प्रति अपनी पुरानी वफादारी और हां में हां मिलाते रहने के बावजूद कार्यसमिति में नहीं रखे गए हैं और बेचारे नरीमन को तो, जिन्होंने स्वतंत्र रूप से सोचने का साहस किया था, कार्यसमिति से धक्का देकर बाहर कर दिया गया है। 1924 में महात्मा गांधी अपनी पार्टी सहित वास्तव में कांग्रेस से अलग हो गए थे, क्योंकि कांग्रेस मशीनरी पर स्वराजवादियों ने कब्जा कर लिया था। आज बेशक महात्माजी स्वयं कार्यसमिति में नहीं हैं, पर उनकी पार्टी वहां है और पहले से कहीं अधिक मजबूत स्थिति में है। और बड़ी बात यह है कि ग्रामोद्योग संगठन पर उनका सीधा नियंत्रण है जो कांग्रेस के भावी कार्य का सबसे महत्वपूर्ण विभाग है। अतः महात्माजी का तथाकथित सन्यास कांग्रेस तंत्र पर उनके नियंत्रण को किसी प्रकार कम नहीं होने देगा, उल्टे आगामी कुछ वर्षों में अधिकृत कांग्रेस को जो असफलताएं मिलेंगी, उनकी जिम्मेदारी वह पूरी तरह अस्वीकार कर सकेंगे। इस प्रकार उनका संन्यास केवल उनके पीछे हटने की वह रणनीति ही है, जिसकी उन्हें हमेशा देश में राजनीतिक मंदी के समय अपनाने की आदत है।

केन्द्रीय विधानसभा के चुनावों की जो ताजा खबरें (24 नवंबर, 1934) मिली हैं, उनसे पता चलता है कि अधिकृत कांग्रेस पार्टी ने 43, कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी ने 8 और अन्य ने करीब 46 सीटें जीती हैं। इन 46 लोगों में से 10 अन्य 60 लोगों जैसे ही होंगे। सदन की कुल सदस्य संख्या 145 है।

भारतीय संविधान के सिलसिले में नियुक्त संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट से उन लोगों को कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए जो श्वेतपत्र के तथ्यों से परिचित हैं। रिपोर्ट को कमेटी के कुल 31 सदस्यों में से अधिकांश का समर्थन प्राप्त है। समिति के लेबर पार्टी के सदस्यों ने एक वैकल्पिक योजना रखी है जो बहुमत रिपोर्ट से अधिक उदार है। दूसरी तरफ लार्ड सेलिसबरी और चार अन्य सदस्यों ने एक और रिपोर्ट पेश की है जिसमें केवल प्रांतीय स्वायत्तता स्वीकार की गई है और केन्द्र में उत्तरदायी सरकार देने

का विरोध किया गया है। बहुमत रिपोर्ट ने तो पार्लियामेंट में असंतुष्ट विरोधियों को खुश करने के लिए श्वेतपत्र के अपर्याप्त प्रस्तावों तक को और कम कर दिया है। ऐसा आमतौर से समझा जाता है कि इस कटौती के फलस्वरूप जब गवर्नमेंट आफ इंडिया बिल संयुक्त कमेटी रिपोर्ट के आधार पर पेश किया जाएगा, तो हाउस आफ कामन्स में भारी बहुमत उसके पक्ष में होगा।

कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे जिन पर संयुक्त कमेटी ने श्वेतपत्र के प्रस्तावों को बदला है, वह निम्नलिखित हैं

1 'कानून और व्यवस्था' के संबंध में कुछ अतिरिक्त प्रावधानों की सिफारिश की जाती है

(क) ऐसे हर कानून के लिए जिनका पुलिस कानूनों पर प्रभाव पड़ता हो और उनके अनुसार बनने वाले ऐसे नियमों के लिए जिनका पुलिस के संगठन और अनुशासन पर प्रभाव पड़ता हो, गवर्नर द्वारा अपने स्वविवेकाधिकार के अधीन दी गई अनुमति आवश्यक होगी।

(ख) आतंकवाद के बारे में गुप्तचर विभाग के जो भी रिकार्ड होंगे, उन्हें पुलिस और गवर्नर जिन सरकारी अफसरों को देखने की इजाजत दें, उनको छोड़कर किसी अन्य को नहीं दिखाया या बताया जाना चाहिए।

(ग) आतंकवाद की रोकथाम के लिए गवर्नर सरकार की जिस किसी भी शाखा का इस्तेमाल आवश्यक समझे, उसे अपने नियंत्रण में लेने की शक्ति उसे प्राप्त होनी चाहिए।

2 सरकार के मंत्रियों और सचिवों के लिए यह लाज़मी होगा कि वे ऐसी हर चीज़ को, जो गवर्नर की विशेष जिम्मेदारी के अंतर्गत आ सकती हो, उसके ध्यान में लाएं।

3 उच्च सदन मद्रास और बंबई में स्थापित होने चाहिए और साथ ही बंगाल, संयुक्त प्रांत और बिहार में भी।

4 संघीय निम्न सदन के लिए चुनाव सीधे विभिन्न चुनाव क्षेत्रों के मतदाताओं द्वारा न होकर प्रांतों के निम्न सदनों के सदस्यों द्वारा अप्रत्यक्ष होने चाहिए।

5 यदि रियासतों में से 90 प्रतिशत से कम संघ में शामिल होती हैं तो संघीय विधायिका में रियासतों के कुछ अतिरिक्त प्रतिनिधि भी नियुक्त किए जाने चाहिए और इनकी संख्या संघ में शामिल होने वाली रियासतों को समान्यतः मिलने वाली सीटों और सीटों की उन कुल संख्या की आधी होगी जो सभी रियासतों के संघ में शामिल होने पर उन्हें प्राप्त होतीं।

6 हाइकोर्टों के अधीनस्थ जजों की नियुक्ति और तरक्कियों पर नियंत्रण होना चाहिए।

गवर्नर का जिला जजों की नियुक्तियों में आखिरी फैसला होना चाहिए।

7. ब्रिटेन से आयात किए जाने वाले माल पर दंडात्मक तट-कर लगाने से रोकने का विशेष उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल को सौंपा जाना चाहिए।

8. भारत में विधायिकाओं को यह वैधानिक अधिकार रहना चाहिए कि दस साल के बाद वे विधायिकाओं की रचना और मताधिकार जैसे कुछ निर्धारित मामलों के बारे में संविधान में संशोधन के लिए हिज मैजेस्टी की सरकार और सरकार और संसद के विचारार्थ मांगपत्र पेश कर सकें।

9. बर्मा को भारत से अलग करने के साथ ही दोनों देशों में एक व्यापक करार भी हो जाना चाहिए, ताकि दोनों देश निर्धारित समय के लिए उससे बंध जाएं।

जहां तक मालूम किया जा सकता है, भारत का जनमत संयुक्त कमेटी की रिपोर्ट के बेहद खिलाफ है। खैर, रिपोर्ट के आधार पर जो बिल पेश होगा वह 1935 की समाप्ति से पहले ब्रिटिश पार्लियामेंट में पास हो जाएगा।

अध्याय 19

भविष्य की झलक

चूंकि वर्तमान ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स का कार्यकाल 1936 में समाप्त होने वाला है, इस कारण भारत के लिए संविधान विधेयक निश्चय ही आगामी चुनावों से पहले पार्लियामेंट में पास कराया जाएगा। इस समय इंग्लैंड में श्वेतपत्र के समर्थकों और कंजरवेटिव पार्टी के कट्टरपंथियों, जिनके नेता श्री विंस्टन चर्चिल हैं, के बीच जबरदस्त विवाद छिड़ा हुआ है। खैर, भारत के लिए इन विवाद में कोई दिलचस्पी नहीं है। जैसा कि हम देख चुके हैं, श्वेतपत्र में भारतवासियों के लिए कुछ भी नहीं है और यदि वैधानिक सुधार की योजना में और कटौती कर दी जाती है या वह बिल्कुल ही समाप्त हो जाता है, तो इस पर भारत में कोई आंसू बहाने वाला नहीं है। भारत के लिए श्वेतपत्र के संबंध में वास्तव में इतनी सी बात दिलचस्पी की है कि उन लोगों के लिए सहयोग करने की कोई गुंजाइश नहीं रह गई है जो निरंतर संघर्ष से तंग आ गए होंगे और किसी उपयोगी रचनात्मक कार्य में लग जाना चाहते होंगे। इसलिए सरकार की नीति वर्तमान विरोध को बनाए रखने में सहायक होगी।

सरकार को यह उम्मीद है कि वह अल्पसंख्यक मुसलमानों, दलित वर्गों, भारतीय ईसाइयों और एंग्लो-इंडियनों की सहायता से राष्ट्रवादी विरोध को दबाने या उसकी उपेक्षा कर सकने में सफल हो जाएगी। किन्तु क्या वह इसमें सफल होगी? यह कहा जा सकता है कि भारत के अल्पसंख्यक संप्रदायों का काफी बड़ा हिस्सा आगे कुछ समय तक सरकार के प्रभाव में बना रहेगा। यह उन रियायतों का बदला होगा जो सांप्रदायिक अवार्ड द्वारा दी गई हैं। लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक चलने वाली नहीं है। अधिक से अधिक बस इतना ही है कि सांप्रदायिक अवार्ड ने अल्पसंख्यक संप्रदायों को नए संविधान के अंतर्गत विधान मंडलों में अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया है। लेकिन नया संविधान समस्त भारतवासियों अथवा उनके किसी वर्ग को कोई वास्तविक अधिकार या शक्ति नहीं प्रदान करेगा। अतः उन संप्रदायों को यह समझने में अधिक समय नहीं लगेगा, यद्यपि सरकार ने उन्हें विधान मंडलों में अधिक सीटें दी हैं, पर कोई शक्ति या अधिकार नहीं दिए हैं। विधान मंडलों की सीटें तो मुट्ठी भर लोगों के लिए होती हैं। ये थोड़े से लोग आम जनता पर तभी अपना प्रभाव बनाए रख सकते हैं, जब वे सारे संप्रदाय या वर्ग की भलाई के लिए कुछ कर सकें। परंतु यह संभव नहीं होगा, क्योंकि जनता को कोई शक्ति तो दी ही नहीं जा रही। जब विभिन्न संप्रदाय यह अनुभव करने लगेंगे कि उनके प्रतिनिधि उनके लिए कुछ कर ही नहीं सकते, तो वे विधायिकाओं में दिलचस्पी खो देंगे और संविधान के खिलाफ जन-विक्षोभ बढ़ने लगेगा। यह जन-क्षोभ, भारत में जो आर्थिक संकट छाया

हुआ है, उसके कारण और बढ़ेगा, और यदि ब्रिटेन मे या और किसी देश में इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ भी, तो भी भारत पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडेगा। आज भारत में जो आर्थिक संकट है, वह आशिक रूप से सारे विश्व के आर्थिक संकट का ही प्रभाव है। फिर यह एक स्वतत्र घटना भी है जिसका कारण बहुत हद तक तो भारत के संसाधनों और भारतीय बाजार का विदेशी और खासकर ब्रिटिश उद्योगों द्वारा शोषण है और साथ ही अपने उद्योगो का आधुनिकीकरण न कर सकने के फलस्वरूप विदेशी मुकाबले का सामना न कर सकने की उसकी असमर्थता भी है। अतः भारत की आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए न केवल विश्व की आर्थिक स्थिति में सुधार आवश्यक है, बल्कि भारत की औद्योगिक प्रणाली का आधुनिकीकरण भी आवश्यक है।

कुछ और भी कारण हैं जिससे कि भारत के अल्पसख्यक संप्रदायों की मदद ब्रिटेन के लिए कोई खास लाभदायक नहीं हो सकती। पहली बात तो यह कि मुसलमानों में भी बहुत बड़ा वर्ग राष्ट्रवादी है और वह सरकार का उतना ही विरोधी है, जितने राष्ट्रवादी हिन्दू। उनका प्रभाव कम होगा, ऐसा नहीं दिखाई देता, बल्कि शायद आने वाले समय में और बढ़ेगा। दलित वर्गों में से बहुसख्यक आज भी कांग्रेस के समर्थक हैं। छुआछूत मिटाने के लिए कांग्रेस का जो प्रचार चल रहा है, उससे दलित वर्गों के और अधिक लोग कांग्रेस के साथ जाएंगे। तीसरे, भारत के ईसाई संप्रदाय को भी अब सरकार-समर्थक नहीं समझा जा सकता। अपने वार्षिक अधिवेशनों में वे बराबर पृथक निर्वाचनों का विरोध और संयुक्त निर्वाचनों का समर्थन करते रहे हैं। इधर कुछ वर्षों में भारतीय ईसाइयों के युवक वर्ग की भावनाओं मे काफी परिवर्तन आया है। धार्मिक क्षेत्र में उन्होंने यूरोप के ईसाइयों के प्रभुत्व का विरोध करना शुरू कर दिया है और वे अपने लिए राष्ट्रीय चर्च की मांग कर रहे हैं। राजनीतिक तौर पर ईसाइयों की युवा पीढ़ी तेजी से कांग्रेस समर्थक बनती जा रही है। जब 1930 मे लेखक कलकत्ता के अलीपुर सेंट्रल जेल में था, तो उसके साथ वहां अनेक ईसाई युवक थे। वे सविनय अवज्ञा आदोलन में भाग लेकर जेल गए थे और अपने सप्रदाय में आने वाली जागृति की मिसाल थे। चौथे, जहा तक एंग्लो-इडियनो का सवाल है, उनके रवैये में भी काफी परिवर्तन दिखाई देने लगा है। अभी हाल तक वे सरकार के समर्थक और अंग्रेजों के पिट्ठू थे। वे इग्लैंड को अपना आध्यात्मिक घर या मातृभूमि मानते थे और अपनी चमड़ी के रंग को छोड़कर हर बात मे अपने को अंग्रेज मानते थे। सरकार भी उन्हे विशेष रियायतें और सुविधाएं देती थी जो भारतीयों को प्राप्त नहीं थीं। लेकिन अब स्थिति बदल रही है। एग्लो-इडियन अब देश के कानून के अधीन भारतवासी ही मान लिए गए हैं। उनके संप्रदाय के नेता ले कर्नल सर एच. गिडनी ने अभी कुछ दिन पहले ही यह अपील की थी कि एग्लो-इडियन लोग भारत को ही अपना घर समझें और भारत पर ही गर्व करे। इस सप्रदाय को दिनोदिन यह अनूभूति होती जा रही है कि अब हमें अंग्रेजों की चापलूसी नहीं करनी चाहिए और भारतवासियों के साथ ही अपनी किस्मत को जोड देना चाहिए। पाचवें, जहा तक गैर-

सरकारी अंग्रेजों का सवाल है, वे राष्ट्रवादी आंदोलन को दबाने में सरकार की जितनी मदद करते हैं, उससे ज्यादा कर ही क्या सकते हैं। सरकारी और गैर-सरकारी अंग्रेज वर्ग में बहुत पहले से इस बारे में निकट सहयोग रहा है, पर उसके बावजूद राष्ट्रवादी आंदोलन बढ़ता ही रहा है। आने वाले समय में गैर-सरकारी अंग्रेज वर्ग का प्रभाव घटेगा ही, बढ़ नहीं सकता। बंबई में तो व्यापार में भारतीय अब अंग्रेजों से आगे बढ़ ही गए हैं, उनके हाथ में अधिक व्यापार आ गया है। 1932 में बंबई की अंग्रेज फर्मों ने चौपट कर देने वाले बायकाट से बचने के लिए राष्ट्रवादी आंदोलन से सहानुभूति का प्रस्ताव पास किया था। ओटावा पैक्ट और भारत-ब्रिटेन वस्त्र करार, ये दो ऐसी चीजें हैं जिन्हें गैर-सरकारी अंग्रेज वर्ग द्वारा अपनी यथास्थिति बनाए रखने की अंतिम कोशिश समझना चाहिए। लेकिन वे राष्ट्रवाद के इस उठते ज्वार को भला कब तक रोक पाएंगे?

मानव-बुद्धि के अनुसार तो ऐसा निश्चितप्राय लगता है कि अल्पसंख्यकों को खुश करके सरकार राष्ट्रवादी शक्तियों को स्थायी रूप से कमजोर कर पाएगी। तथापि नए सुधारों के लागू होने तक कोई जन आंदोलन संभव नहीं है। इसके बाद कुछ समय—संभवतः 2-3 वर्ष—लोगों का पूरी तरह भ्रम निवारण होने में लगेंगे। फिर उनके बाद एक व्यापक जन आंदोलन की शुरुआत होगी। इस आंदोलन का स्वरूप क्या होगा, यह कहना इस समय कठिन है।

अगले कुछ वर्षों में कांग्रेस की भीतरी दशा कुछ अस्थिर रहेगी, अर्थात इतनी सबल कोई पार्टी नहीं होगी कि वह दूसरी को दबा सके। सोशलिस्ट पार्टी ने जो रूप इस समय धारण किया है, वह उस रूप में अधिक आगे नहीं बढ़ सकती। इस पार्टी में एक मेल के लोग नहीं हैं और इसके कुछ विचार पुराने पड़ चुके हैं। लेकिन जिस प्रेरणा से यह पार्टी बनी है, वह ठीक है। इस वामपंथी विद्रोह के कारण अंततोगत्वा स्पष्ट कार्यक्रम, कार्य-योजना और विचारधारा वाली एक पूर्णतः नई पार्टी का उदय होगा। इस समय इस प्रकार की पार्टी के कार्यक्रम और कार्रवाई की समुचित योजना के ब्यौरे की कल्पना करना संभव नहीं होगा। लेकिन फिर भी उसकी मोटी रूपरेखा सामने रखने का प्रयास किया जा सकता है :

1. पार्टी आम आदमी, जैसे कि किसान, मजदूर, कामगार आदि के हितों के लिए काम करेगी, जमींदारों, पूंजीपतियों और सूदखोरों जैसे निहित स्वार्थों के हितों के लिए नहीं।
2. यह भारतवासियों को पूरी राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता दिलाने के लिए काम करेगी।
3. इसका चरम लक्ष्य भारत के लिए एक संघीय सरकार होगा, इसका विश्वास एक सशक्त केन्द्रीय सरकार में होगा, जिसके पास आगामी कुछ वर्षों के लिए निरंकुश अधिकार रहेंगे, ताकि भारत अपने पैरों पर मजबूती से खड़ा हो सके।

4. इसका देश के कृषि और औद्योगिक जीवन के पुनर्गठन के लिए सुदृढ़ राजकीय आयोजन व्यवस्था में विश्वास होगा।
5. यह एक नए सामाजिक ढांचे की रचना करने का यत्न करेगी जिसका आधार पुराने ढंग की पंचायत प्रणाली जैसा होगा, जिसके अधीन गांवों पर 'पंच' का शासन होता था; और साथ ही वह वर्तमान सामाजिक अवरोधों को दूर करने का यत्न करेगी।
6. यह आधुनिक जगत में प्रचलित सिद्धांतों और अनुभवों के प्रकाश में मुद्रा, वित्त और साख आदि की नई प्रणाली स्थापित करने का यत्न करेगी।
7. इसका उद्देश्य जमींदारी प्रथा को समाप्त करना और सारे देश के लिए एक जैसी भूमिधारी प्रणाली लागू करना होगा।
8. यह मध्य विक्टोरिया-युगीन लोकतंत्र की पक्षधर नहीं होगी, बल्कि सैनिक अनुशासन से बधी एक मजबूत पार्टी के शासन में विश्वास करने वाली होगी, क्योंकि यही एक ऐसा तरीका है जिसके स्वतंत्र होने और अपने ही साधनों पर निर्भर रहने के लिए छोड़ दिए जाने के बाद भारत को एक सूत्र में बांधे रखा जा सकता है और अराजकता को रोका जा सकता है।
9. यह केवल भारत के भीतर ही अपना प्रचार नहीं करेगी, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रचार[1] करके भारत की स्वाधीनता की मांग को और प्रबल बनाएगी और इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का लाभ उठाएगी।
10. यह एक राष्ट्रीय कार्यकारिणी के अधीन सभी अग्रगामी संगठनों में एकता स्थापित करेगी, ताकि जब भी आवश्यकता हो तो बहुत से मोर्चों पर एक साथ कार्रवाई की जा सके।

आज यूरोप में हरेक की जुबान पर यही सवाल है कि भारत में साम्यवाद का भविष्य क्या है? इस बारे में पंडित जवाहरलाल नेहरू के विचारों को प्रकट करना उचित होगा। पं. जवाहरलाल नेहरू लोकप्रियता में आजा महात्मा गांधी के बाद दूसरे नंबर पर हैं। 18 दिसंबर, 1933 को उन्होंने एक प्रेस वक्तव्य में कहा था : मेरा पक्का विश्वास है कि आज की दुनिया को मूलतः साम्यवाद या फासिस्टवाद में से ही एक को चुनना होगा, और मैं पूरे दिल से पहले, यानी साम्यवाद के पक्ष में हूं। मैं फासिस्टवाद से बेहद नफरत करता हूं और वास्तव मे समझता हूं कि यह वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था द्वारा किसी भी कीमत

1 जब 1920 में महात्मा गांधी ने कांग्रेस की बागडोर सम्भाली तो उन्होंने लंदन की कांग्रेस समिति को भंग कर दिया और उसके पत्र 'इंडिया' को भी बंद कर दिया जोकि भारत से बाहर भारतीय प्रचार का एकमात्र साधन था। हाल में उनके रवैये में परिवर्तन आया लगता है। जनवरी 1932 में उनकी गिरफ्तारी से पहले, उनके इशारे पर कांग्रेस कार्यसमिति ने संसार के सभी राष्ट्रों से भारत के स्वाधीनता संघर्ष के लिए सहानुभूति दिखाने की अपील जारी की थी।

पर अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए एक निहायत भौंडे और वहशियाना तरीके के सिवा कुछ नहीं है। फासिस्टवाद और साम्यवाद के बीच का कोई रास्ता नहीं है। हमें दोनो में से एक को चुनना होगा और मैं साम्यवाद के आदर्श को चुनूगा। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए दकियानूस कम्युनिस्टों ने जो तरीका और रास्ता चुना, मैं उसकी हर बात से सहमत नहीं हू। मेरे विचार में, इन तौर-तरीको को बदली हुई स्थितियो के अनुसार बदलना होगा और वे अलग-अलग देशों मे अलग-अलग होंगे। लेकिन मैं साम्यवाद के मूल सिद्धात और इसके इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या को सही मानता हू।[1]

यहा जो मत प्रकट किया गया है, वह इस लेखक के अनुसार बुनियादी तौर पर गलत है। जब तक कि हम विकास की प्रक्रिया के अतिम छोर पर ही न पहुच गये हों या विकास के सिद्धात को ही न नकारते हो, तब तक यह मानने का कोई कारण नहीं है कि हमें केवल इन्हीं दो रास्तो मे से एक को चुनना है। चाहे हम हीगेल के विकास के सिद्धात को मानें, चाहे बर्गसन के, या विकास के अन्य किसी भी सिद्धात को मानें, हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि सृजन का अत आ गया है। हर बात का विचार करने के बाद हमे यही सोचने पर मजबूर होना पडेगा कि विश्व-इतिहास के अगले चरण मे साम्यवाद और फासिस्टवाद का कोई समन्वित रूप सामने आएगा। और क्या यह आश्चर्य की बात होगी कि यह समन्वय भारत ही प्रस्तुत करे? पुस्तक की प्रस्तावना में यह विचार प्रकट किया जा चुका है कि भौगोलिक रूप से शेष देशों से अलग-अलग होने के बावजूद भारतीय जागृति विश्व के अन्य भागो की प्रगति से जुडी है और इस बात के प्रमाण-स्वरूप तथ्य और आकड़े भी प्रस्तुत किए गए हैं। अत इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होगी कि कोई ऐसा प्रयोग, जो सारे विश्व के लिए महत्व रखता हो, भारत में किया जाए। खास तौर से जब हम अपनी आखों से देख चुके हैं, भारत में किए गए एक अन्य प्रयोग के प्रति जिसे महात्मा गाधी ने किया, सारे विश्व मे जबरदस्त दिलचस्पी उत्पन्न हो गई है।

साम्यवाद और फासिस्टवाद के परस्पर विरोधी होते हुए भी इनमें कुछ समान विशेषताए हैं। फासिस्टवाद और साम्यवाद दोनों ही राज्य को व्यक्ति से ऊपर और ऊचा मानते हैं। दोनों ही ससदीय लोकतत्र के विरोधी हैं। दोनो ही एक दल या पार्टी की डिक्टेटरशिप में आस्था रखते हैं। दोनो भिन्न मत रखने वाले अल्पसख्यको के दमन में विश्वास करते हैं। दोनों ही देश के योजनाबद्ध औद्योगिक पुनर्गठन के हामी हैं। दोनों मे जो समान तत्व हैं, वे ही नए समन्वय का आधार बनेंगे। लेखक इसी समन्वय को सही 'साम्यवाद' (जिसका शाब्दिक और वास्तविक अर्थ ही समन्वय या समानता का सिद्धात है) मानता

1 यह बात यहा बिल्कुल स्पष्ट हो जानी चाहिए कि यह प. जवाहरलाल नेहरू का निजी विचार है भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नहीं। न ही उनकी लोकप्रियता का मतलब यह है कि उनके विचार कांग्रेस सगठन में हरेक को मान्य होते हैं वैसे ही जैसे महात्मा गाधी की अपूर्व लोकप्रियता का अर्थ यह नहीं है कि उनके अनुयायी उनकी तरह लगोटी बाधते हैं या बकरी का दूध पीते हैं।

है। इस प्रकार का समन्वय प्रस्तुत करने का जिम्मा भारत का होगा।

भारत में कम्युनिज्म न अपनाए जाने के कई कारण हैं। पहली बात यह कि कम्युनिज्म में राष्ट्रवाद के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है और भारत का वर्तमान आंदोलन राष्ट्रवादी आंदोलन है, अर्थात भारत की जनता की राष्ट्रीय मुक्ति का आंदोलन (कम्युनिज्म और राष्ट्रवाद के संबंध के बारे में लेनिन का सिद्धांत चीन की पिछली क्रांति की असफलता के बाद से त्याग दिया गया है।) दूसरे, रूस अब अपना बचाव करने की नीति अपना रहा है और विश्व क्रांति में अब उसकी कोई रुचि नहीं है भले ही कम्युनिस्ट इंटरनेशनल इस तरह का दिखावा करता रहे। रूस ने हाल में ही पूंजीपति देशों के साथ जो समझौते किए हैं और इस तरह के समझौतों में जो भी लिखित या अलिखित शर्तें निहित रहा करती हैं, उनके चलते, और राष्ट्र संघ की उसकी सदस्यता के चलते रूस की एक क्रांतिकारी शक्ति के रूप में जो छवि थी, वह काफी मंद पड़ गई है। और बड़ी बात यह है कि रूस अब अपने आंतरिक औद्योगिक पुनर्गठन और अपनी पूर्वी सीमा पर जापान के खतरे का सामना करने की समस्या में बहुत उलझा हुआ है और साथ ही वह बड़ी शक्तियों के साथ अच्छे दोस्ताना संबंध बनाने के लिए बहुत चिंतित है। इस कारण वह भारत जैसे देशों के बारे में सक्रिय रुचि नहीं ले सकता। तीसरे, कम्युनिज्म में ऐसे बहुत से आर्थिक विचार हैं जो भारतीयों को पसंद आ सकते हैं, लेकिन कुछ और प्रकार के विचार भी हैं जो उन पर प्रतिकूल प्रभाव डालेंगे। रूस का इतिहास ऐसा रहा है जिसमें राज्य सत्ता और चर्च में बहुत निकट का संबंध रहा है और चर्च एक अत्यंत सुसंगठित संस्था थी। इस कारण रूस में कम्युनिज्म का विकास धर्म-विरोधी और नास्तिकतावादी रूप में हुआ है। इसके विपरीत, जबकि भारत में भारतीयों की कोई संगठित धार्मिक संस्था नहीं रही और न राज्य सत्ता और धर्म में कभी किसी प्रकार का संबंध रहा। इस कारण यहां धर्म के प्रति ऐसी कोई विरोधी भावना नहीं रही है, जैसी रूस में रही।[1] चौथे, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को, जो कि कम्युनिस्ट सिद्धांत का दिशाबिंदु है, भारत में वे लोग भी सपूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाएंगे, जो इसके आर्थिक सिद्धातों को मानने को तैयार होंगे। पांचवें, यद्यपि आर्थिक दृष्टि से कम्युनिज्म की बहुत भारी देन है (जैसे कि राजकीय आयोजन का विचार) किन्तु अन्य कई दृष्टियों से यह काफी दुर्बल है। उदाहरण के लिए, जहां तक मौद्रिक समस्या की बात है, इसने कोई नया विचार नहीं दिया है और पुराने परंपरागत अर्थशास्त्र का ही सहारा लिया है। हाल के अनुभवों ने दिखा दिया है कि संसार की मुद्रा संबंधी समस्या का अभी तक कोई संतोषजनक हल नहीं निकला है।

यह भविष्यवाणी विश्वासपूर्वक की जा सकती है कि भारत सोवियत रूस का नया संस्करण कभी नहीं बनेगा, लेकिन साथ ही यह भी उतने ही जोर के साथ कहा जा सकता

1. फिर भारत में राष्ट्रीय जागृति किसी न किसी धार्मिक सुधार और सांस्कृतिक पुनर्जागरण आंदोलन के पीछे-पीछे आई है।

है कि यूरोप और अमरीका में जो भी आधुनिक राजनीतिक एवं सामाजिक आंदोलन और प्रयोग होंगे, उनका भारत के विकास पर काफी प्रभाव पड़ेगा। इधर कुछ समय से भारत ने बाहरी दुनिया में घटित हो रही घटनाओं में दिलचस्पी लेना शुरू किया है और भविष्य में भी लेता रहेगा।

अब मैं फिर कांग्रेस की बात पर आता हूं। महात्मा गांधी और पं. मदन मोहन मालवीय के बीच मौजूदा विवाद अस्थायी दिलचस्पी की चीज है, क्योंकि विवाद का मुद्दा बहुत मामूली है। न तो कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी और न ही अधिकृत कांग्रेस पार्लियामेंटरी पार्टी को भविष्य में कोई खास भूमिका निभानी है, क्योंकि दोनों ही बिना किसी स्पष्ट विचारधारा और कार्यक्रम की पार्टियां हैं जिनमें अलग-अलग मत रखने वाले लोग शामिल हैं। विचारणीय प्रश्न केवल यह बचता है कि भारत में गांधीवाद का भविष्य क्या होगा। कभी-कभी यह कहा जाता है कि गांधीवाद कम्युनिज्म का विकल्प है। लेखक की दृष्टि में यह विचार त्रुटिपूर्ण है। महात्मा गांधी ने देश को (और संसार को भी) एक नया तरीका — अहिंसक प्रतिकार या सत्याग्रह का तरीका या अहिंसक असहयोग अवश्य सिखाया है। लेकिन वह कम्युनिज्म की तरह देश या मानव मात्र के सामने समाज की पुनर्रचना का कोई कार्यक्रम नहीं पेश कर पाए हैं और कम्युनिज्म का विकल्प समाज की पुनर्रचना का कोई सिद्धांत ही हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महात्माजी आधुनिक जगत की मशीनी सभ्यता की निंदा करते हैं और उस पुराने युग के अनुरागी हैं जब मनुष्य अपने घरेलू उद्योगों से संतुष्ट रहता था और उसकी आवश्यकताएं सीमित थीं। लेकिन उनका यह व्यक्तिगत विचार यह सनक है। जब भी उन्होंने स्वराज्य की रूपरेखा निरूपित की है, तब उन्होंने मध्य विक्टोरिया युग के संसदीय लोकतंत्र और परंपरागत पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की ही भाषा बोली है। 1930 में उन्होंने अपने जो ग्यारह सूत्र प्रस्तुत किए और जिन्हें स्वाधीनता का सार बताया था, उनको हर भारतीय उद्योगपति नि:संकोच स्वीकार कर लेगा। अत: यह कहा जा सकता है कि यदि महात्मा गांधी को अपने देश की राजनीतिक सत्ता प्राप्त हो जाए तो वह न तो आधुनिक औद्योगिक ढांचे को ही तोड़ेंगे और न देश का औद्योगीकरण करेंगे। उनका कार्यक्रम देश में सुधार लाने का है। वह बुनियादी तौर पर सुधारवादी हैं, क्रांतिकारी नहीं। वह वर्तमान सामाजिक और आर्थिक ढांचे को लगभग जैसे का तैसा ही बना रहने देंगे। (वह सेना को भी पूरी तरह भंग नहीं करेंगे) और बस उन सुस्पष्ट अन्यायों और असमानताओं को दूर करके ही संतोष कर लेंगे, जिनके विरुद्ध उनकी नैतिक भावना विद्रोह करती है। उनके करोड़ों देशवासी ऐसे हैं जो आज के हालत में उनके तरीके को स्वीकार तो कर रहे हैं, लेकिन उनके पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को नहीं मानते और यदि उनके पास शक्ति होती, तो वे एक और ही ढंग से भारत का निर्माण करना चाहेंगे। जैसा कि कह चुका हूं, भारत का भविष्य अंतत: एक ऐसी पार्टी के हाथ में रहेगा जिसकी अपनी स्पष्ट विचारधारा हो, कार्यक्रम हो और कार्रवाई

की योजना हो, जो केवल आजादी के लिए लड़ेगी और उसे प्राप्त ही नहीं करेगी, बल्कि युद्धोपरांत पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को पूरी तरह अमल में लाएगी। ऐसी एक पार्टी जो भारत की शेष संसार से अलग-थलग पड़े रहने की स्थिति को, जो कि उसके लिए एक अभिशाप जैसा रहा है, खत्म करेगी और उसे राष्ट्रों की बिरादरी में लाकर बैठाएगी—ऐसी पार्टी जो इस बात में पूरा यकीन करती हो कि भारत की नियति समूची मानवता की नियति के साथ अटूट रूप से जुड़ी हुई है।

1857 के बाद का भारत : एक विहंगम दृष्टि[1]

यद्यपि अंग्रेजों द्वारा भारत की विजय का आरंभ 1757 में प्लासी के युद्ध में बंगाल के स्वतंत्र नवाब सिराजुद्दौला की हार के बाद हुआ, लेकिन भारत पर पूरी तरह कब्जा वे धीरे-धीरे ही कर पाए। मिसाल के लिए प्लासी की लड़ाई के बाद केवल बंगाल का वित्तीय प्रशासन (मालगुजारी वसूल करना) ही उनके हाथ में आया था; राजनीतिक प्रशासन तो नवाब मीर जाफर के हाथ में रहा, जिसने सिराजुद्दौला से गद्दारी की थी और अंत में अंग्रेजों से मिल गया था। अंग्रेज थोड़ा-थोड़ा करके ही बंगाल की सारी हुकूमत को अपने हाथ में ले पाए थे। इसी तरह भारत के अन्य भागों पर धीरे-धीरे और थोड़ा-थोड़ा करके उन्होंने अपना राज कायम किया था। यद्यपि वह धीरे-धीरे भारत की रियासतों को अपने अधिकार में लाते जा रहे थे, फिर भी वह दिल्ली के सम्राट की प्रभुसत्ता को रस्मी तौर पर मानते रहे थे। यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत पर कब्जा करने में अंग्रेजों ने केवल हथियारों का ही सहारा नहीं लिया, बल्कि हथियारों से कहीं अधिक घूस, गद्दारी और हर प्रकार के भ्रष्टाचार का भी सहारा लिया। उदाहरण के लिए भारत में अंग्रेजी राज के संस्थापक रॉबर्ट क्लाइव को, जिसे बाद में लार्ड बना दिया गया था, इतिहासकारों ने जालसाजी का दोषी ठहराया है। इसी तरह भारत के एक और गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स पर ब्रिटिश पार्लियामेंट में हाउस ऑफ कामन्स के सदस्य एडमंड बर्क ने 'भारी अपराधों और दुराचार का दोषी' होने का अभियोग लगाया था।

हमारे पूर्ववर्ती क्रान्तिकारियों की शुरू से सबसे बड़ी गलती यह रही कि वे भारत में आने वाले अंग्रेजों के असली चरित्र को नहीं समझ पाए। उन्होंने संभवतः यह सोचा था कि अंग्रेज भी शायद उन्हीं सैकड़ों कबीलों की तरह होंगे जो विगत में भारत में घुस आए और फिर भारत को ही अपना घर बना लिया है। पर तो उन्हें बहुत बाद में अनुभव हुआ कि अंग्रेज भारत में बसने नहीं आए हैं, इसे जीतने और लूटने आए हैं। जब इस बात को भली-भांति समझा जाने लगा तो 1857 की क्रांति हुई, जिसे अंग्रेजी इतिहासकारों ने सिपाही विद्रोह का गलत नाम दिया है, लेकिन जिसे भारतीयों ने प्रथम स्वाधीनता संग्राम माना है। 1857 की इस महान क्रांति में अंग्रेजों को निकालकर फेंका ही जाने वाला था, लेकिन कुछ तो उनकी बेहतर रणनीति और कुछ सौभाग्य के कारण वह अंत में जीत गए। फिर इसके बाद जो आतंक और अत्याचार का दौर चला, उसकी मिसाल दुनिया में मिलनी मुश्किल है। हजारों निर्दोष और निरपराध व्यक्तियों को हाथ-पैर बांधकर तोप के मुंह से बांध कर उड़ा दिया गया।

---

1. इससे पहले के पृष्ठ ग्रन्थ में [illegible] में लिखे गए थे और उनमें 1934 तक का वृत्तान्त है। [illegible] — लेखक।

1857 की क्रांति के बाद अंग्रेजों को यह अनुभूति हुई कि वे केवल पशुबल से भारत पर अपना कब्जा बनाए नहीं रख सकते। अतः उन्होंने देश को निहत्था करना शुरू कर दिया। हमारे पूर्वजों ने दूसरी बड़ी गलती यह की कि वे अपने हथियार सौंपने को राजी हो गए। अगर इतनी आसानी से वे अपने हथियार देने को राजी न हुए होते, तो 1857 के बाद के भारत का इतिहास कुछ और ही होता। एक बार सारे देश को पूरी तरह निहत्था कर देने के बाद अंग्रेजों के लिए बहुत थोड़ी सी, किन्तु रणकुशल आधुनिक सेना के बल पर भारत पर आधिपत्य कायम रख सकना संभव हुआ है।

देश को शस्त्रविहीन करने के साथ ही नई अंग्रेजी सरकार ने, जिसका नियंत्रण सीधे लंदन से होता था, 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर अमल शुरू कर दिया। 1858 से आज तक अंग्रेजी सरकार की यही बुनियादी नीति रही है। 1857 के बाद चालीस साल तक अंग्रेजों ने भारत को दो हिस्सों में बाटे रखा। तीन-चौथाई जनसंख्या को उन्होंने सीधे अपने अधीन रखा और एक चौथाई को भारतीय राजाओं-नवाबों के अधीन रहने दिया। इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार ने बड़े जमींदारों के साथ भी बड़ा पक्षपात दिखाना शुरू किया। 1857 तक अंग्रेजों की नीति अधिक से अधिक देशी रियासतों को खत्म करके उनका शासन अपने हाथ मे लेने की थी। 1857 की क्रांति में यद्यपि बहुत से भारतीय शासक, जैसे रानी झांसी आदि अंग्रेजों के खिलाफ लडे, फिर भी बहुत से इस क्रांति से अलग रहे या फिर उन्होंने सक्रिय रूप से अंग्रेजों का साथ दिया। साथ देने वालों में नेपाल के महाराजा थे। तब अंग्रेजों को यह बात समझ में आई कि वर्तमान रियासतों को न छेड़ना, बल्कि उनके साथ मित्रता और सहयोग की संधियां करना श्रेयस्कर रहेगा, ताकि जब अंग्रेजों के ऊपर कोई संकट आए तो राजा-नवाब उनका साथ दे सकें। अतः इस समय भारतीय रियासतों के प्रति अंग्रेज सरकार की जो नीति है, वह आज की नहीं, 1857 से चली आ रही है। इस सदी के शुरू में अंग्रेजों ने यह अनुभव किया कि वे जनता के विरुद्ध रियासतों और बड़े जमींदारों का साथ देकर अधिक समय तक भारत पर अपना प्रभुत्व कायम नहीं रख सकेंगे। तभी 1906 में उन्होंने मुस्लिम समस्या को खोज निकाला। इस समय लार्ड मिंटो[1] भारत के वाइसराय थे। इससे पहले भारत में इस तरह की कोई *समस्या नहीं थी। 1857 की महान क्रांति में हिन्दू और मुसलमान कंधे-से-कंधा मिलाकर* अंग्रेजों के खिलाफ लड़े थे और पहला भारतीय स्वाधीनता संग्राम एक मुसलमान बहादुरशाह के झंडे के नीचे लड़ा गया था।

प्रथम महायुद्ध के दौरान जब अंग्रेजों ने देखा कि कुछ न कुछ राजनीतिक रियायतें देनी ही पड़ेंगी तो उन्होंने अनुभव किया कि केवल मुसलमानों और हिन्दुओं में भेदभाव से ही काम नहीं चलेगा। अतः उन्होंने हिन्दुओं में भी आपसी भेद पैदा करने की चाल

1. लार्ड मार्ले ने, जो उस समय ब्रिटिश मंत्रिमंडल में भारत-मंत्री थे, कहा था कि "लार्ड मिन्टो ने ही 1906 में मुस्लिम समस्या का शगूफा छोड़ा था।"

चलीं। 1918 में अचानक उन्होंने हिन्दुओं की जातिप्रथा की समस्याओं को खोज निकाला और वे तथाकथित दलित वर्गों के हिमायती और उद्धारक बन गए। 1937 तक ब्रिटेन आशा करता रहा कि वह रियासतों, मुसलमानों और तथाकथित दलित वर्गों का पक्षधर बनकर भारत को विभाजित रख सकेगा। जब 1935 में नए संविधान के अनुसार चुनाव हुए तो उन्हें यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि उनकी सारी चालें और धौल-धुप्पल बेकार हो गई हैं और सारे राष्ट्र में एक जबरदस्त राष्ट्रवादी भावना मौजूद है और यह हर वर्ग तक पहुंची हुई है। इसके परिणाम स्वरूप अब ब्रिटिश नीति के लिए एक ही उम्मीद बची है। वह यह है कि यदि भारत की जनता को नहीं बांटा जा सकता तो भारत को ही भौगोलिक और सांस्कृतिक आधार पर बांट दिया जाए। यह योजना, जिसका नाम पाकिस्तान है, एक अंग्रेज के उपजाऊ दिमाग की उपज है और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों में भी इस तरह के दृष्टांत हैं। उदाहरण के लिए लंका, जो भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का ही अंग है, बहुत पहले भारत से अलग कर दिया गया। पिछले महायुद्ध के फौरन बाद ही आयरलैंड को, जो हमेशा एक एकीकृत राज्य रहा था, अल्स्टर और आयरिश फ्री स्टेट में बांट दिया गया। 1935 के नए विधान के बाद बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। यदि वर्तमान महायुद्ध बीच में न आया होता तो फिलिस्तीन को भी यहूदियों और अरबों के दो राज्यों में बांट दिया गया होता और दोनों के बीच एक ब्रिटिश गलियारा बना दिया जाता। पाकिस्तान या भारत के बंटवारे की योजना के जनक अंग्रेज स्वयं हैं और अब वे इसके पक्ष में बड़ा जबरदस्त और चतुराई भरा प्रचार कर रहे हैं। यद्यपि भारतीय मुसलमानों का भारी बहुमत स्वाधीन और अविभाजित भारत के पक्ष में है और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रधान अबुलकलाम आजाद भी एक मुसलमान ही हैं, मुसलमानों का बहुत छोटा सा अल्पमत ही पाकिस्तान को समर्थन दे रहा है। पर सारी दुनिया में यही ब्रिटिश प्रचार किया जा रहा है कि भारत के मुसलमान राष्ट्रीय संघर्ष के साथ नहीं हैं और वे भारत का बंटवारा चाहते हैं। अंग्रेज स्वयं यह जानते हैं कि वे जो कह रहे हैं वह सच नहीं है, लेकिन उन्हें आशा है कि झूठ को बार-बार दुहराते रहने से वे दुनिया को इसका विश्वास दिला देंगे। जब पाकिस्तान की बात पहली बार उठी तो इसके पीछे भारत को हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत में ही बांटने का विचार था, भले ही यह विचार बिल्कुल ऊट-पटांग रहा हो। इसके बाद अंग्रेजों के उपजाऊ दिमाग ने इसे और विकसित किया और अगर उनका बस चलता तो वे भारत को दो ही नहीं, पांच या छह देशों में बांट देते। उदाहरण के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञ कहते हैं कि यदि रियासतें शेष भारत से अलग होना चाहती हैं तो उनका भी एक अलग राज्य राजस्थान बनना चाहिए। यदि सिख भारत से अलग होना चाहते हैं तो उन्हें भी खालिस्तान मिलना चाहिए। ये कुटिल अंग्रेज भारत के उत्तर-पश्चिम में बसे मुसलमान पठानों के लिए भी हमदर्दी दिखाने लगे हैं और कह रहे हैं कि भारत के उत्तर-पश्चिम में पठानिस्तान नामक अलग राज्य बनना चाहिए। इस समय ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का प्रिय विषय पठानिस्तान ही

है। वे उम्मीद कर रहे हैं कि अपनी पठानिस्तान की इस योजना के जरिए भारत के सबसे उत्पाती लोगों अर्थात भारत और अफगानिस्तान के बीच रहने वाले भारत के उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांतों के स्वतंत्र कबीलों में से कुछ को अपनी तरफ मिला सकेंगे और साथ ही अफगानिस्तान के लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर लेंगे।

खैर, पाकिस्तान निश्चय ही एक अजीब काल्पनिक और अव्यवहार्य वस्तु है— एक नहीं अनेक कारणों से। भारत भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से एक अविभाज्य इकाई है। दूसरे, अधिकांश भारत में हिन्दू और मुसलमान इतने घुले-मिले हुए हैं कि उन्हें अलग करना असंभव है। तीसरे, यदि जबरन मुस्लिम राज्य बना ही दिया गया तो नए प्रकार की अल्पसंख्यक समस्याएं उठ खड़ी होंगी और काफी कठिन बन जाएगी। जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता नहीं होती और वे मिलकर अंग्रेजों से नहीं लडते, तब तक वे भारत को आजाद नहीं करा सकते और इस एकता का आधार स्वतंत्र और अविभाज्य भारत ही हो सकता है। स्वतंत्र पाकिस्तान एक असंभव चीज है और इसलिए व्यावहारिक तौर पर पाकिस्तान का मतलब है भारत को इसलिए बांटना कि सभी पर ब्रिटिश प्रभुत्व सदा बना रहे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि पाकिस्तान के सबसे बड़े हिमायती और भारतीय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष श्री जिन्ना ने हाल के वक्तव्यों में स्वीकार किया है कि पाकिस्तान का निर्माण और उसकी सार-संभाल केवल ब्रिटिश सहायता से ही संभव है।

अब मैं फिर अपने विषय पर आता हूं। इस समय भारत में जो संघर्ष चल रहा है, वह वास्तव में 1857 की महान क्रांति की ही कड़ी है। 19वीं शताब्दी के अंतिम चार दशकों में भारत का आंदोलन समाचार पत्रों और मंच (प्रेस और प्लेटफार्म) के माध्यम से चला। जब 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गई तो इस आंदोलन ने एक संगठन का मूर्त रूप ले लिया। इस शताब्दी के आरंभ में भारत में एक नई जागृति की लहर आई और संघर्ष के नए तौर-तरीके निकाले गए। इस तरह पहले दो दशकों में हम एक तरफ ब्रिटिश माल के बायकाट का आंदोलन देखते हैं और दूसरी तरफ क्रांतिकारी आतंकवाद। पहले महायुद्ध के दौरान भारतीय क्रांतिकारियों ने शस्त्र बल से उस समय भारत से अंग्रेजों को निकाल फेंकने की कोशिश की। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और तुर्की हमारे शत्रु से लड़ रहे थे। लेकिन उन्हें अर्थात भारतीय क्रांतिकारियों को उस समय दबा दिया गया। महायुद्ध के बाद भारत को लड़ने के लिए नए हथियार की जरूरत पड़ी और इस मनोवैज्ञानिक क्षण में महात्मा गांधी अपने सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा की विधि लेकर सामने आए।

पिछले 22 वर्षों में महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सारे देश में अपना सुदृढ़ संगठन स्थापित कर लिया है, यहां तक कि देशी रियासतों में भी। कांग्रेस ने देश के गांव-गांव और हर वर्ग में राजनीतिक जागृति की लहर दौड़ा दी है। इन सब में जो सबसे

बड़ी बात है वह यह है कि भारत का जनसाधारण यह जान गया है कि शक्तिशाली शत्रु पर बिना अस्त्र-शस्त्र के किस प्रकार से चोट की जा सकती है और कांग्रेस ने गांधीजी के नेतृत्व में यह सीख लिया है कि सत्याग्रह के हथियार के द्वारा सरकार को ठप्प किया जा सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारत के पास दूर-दूर के गांवों तक पहुंचा हुआ अनुशासित राजनीतिक संगठन है जिसके जरिए राष्ट्रीय संघर्ष चलाया जा सकता है और आगे चलकर एक स्वतंत्र राज्य का भी निर्माण हो सकता है।

भारत की युवा पीढ़ी ने पिछले बीस वर्षों के अनुभव से सीख लिया है कि यद्यपि सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा के माध्यम से विदेशी सरकार को ठप्प तो किया जा सकता है लेकिन बिना शक्ति के इसे बाहर नहीं निकाला जा सकता। इसी अनुभव के कारण लोग शांतिपूर्ण प्रतिरोध की बजाय सक्रिय प्रतिरोध की तरफ जा रहे हैं और यही कारण है आप लोग आज सुन रहे हैं कि निहत्थे भारतवासी रेल, तार और टेलीफोन आदि संचार-साधनों को नष्ट कर रहे हैं, पुलिस थानों, डाकघरों, सरकारी इमारतों को जला रहे हैं और अंग्रेजी राज समाप्त करने के लिए तरह-तरह से यत्न प्रयोग कर रहे हैं। इसका अंतिम चरण वह होगा, जब लोग सक्रिय प्रतिरोध छोड़कर क्रांति करेंगे। बस, तभी भारत में अंग्रेजी शासन का अंत होगा।

अध्याय 21

जनवरी 1935 से सितंबर 1939 तक

नवंबर 1934 के अंत में इस पुस्तक के अंग्रेजी मूल पाठ के पूरा होते ही मुझको विमान से भारत आना पड़ा क्योंकि मां से समुद्री तार मिला था कि पिताजी मृत्युशय्या पर हैं। किन्तु फिर भी मैं एक दिन देर से कलकत्ता पहुंचा। हवाई अड्डे पर मुझे भारी पुलिस दस्ते ने आ घेरा और वहीं गिरफ्तार कर लिया। सारा परिवार उस समय शोकाकुल था। मुझे मेरे ही घर में छह सप्ताह तक नजरबंद रखा गया जब तक कि इलाज जारी रखने के लिए मैं फिर यूरोप के लिए रवाना नहीं हो गया।

लेखक भारत में जितने दिन भी रहा उस समय लोगों में चर्चा का मुख्य विषय इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली के हाल के चुनाव थे। वाइसराय लार्ड विलिंग्डन की आशा के विपरीत चुनाव में कांग्रेस पार्टी को भारी सफलता मिली थी। यह स्पष्ट हो गया था कि 1932 के बाद से सरकार द्वारा कांग्रेस पार्टी के खिलाफ उठाए गए तमाम दमनकारी कदमों के बावजूद जनता का बहुत बड़ा बहुमत भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ था। यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि 1923-24 के विपरीत इस बार चुनावों की सारी कार्रवाई खुद गांधीवादी पक्ष ने संभाली थी।

1935 के 12 महीनों के लिए कांग्रेस के प्रधान महात्मा गांधी के कट्टर भक्त डा. राजेन्द्र प्रसाद चुने गए थे जिनसे अपेक्षा की जाती थी कि वह गांधीवादी नीतियों का निष्ठापूर्वक अनुसरण करेंगे।

वर्ष 1935 की सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, 1935 का पास किया जाना। इस एक्ट पर अमल दो साल बाद 1937 में पहली बार चुनाव हो जाने के बाद हुआ। सिद्धांत रूप में यह आज भी लागू है, लेकिन वास्तव में सितंबर 1939 में लड़ाई छिड़ जाने के बाद इसे स्थगित कर दिया गया है। इस नए संविधान को भारत की जनता ने एक स्वर से ठुकरा दिया, खासकर कांग्रेस ने, क्योंकि यह भारत को स्वशासन देने की बजाय राजाओं, नवाबों, जातिवादी, प्रतिक्रियावादी और अंग्रेजों के समर्थक संगठनों की मदद से भारत में अंग्रेजी राज को कायम रखने की एक योजना थी।

1935 के संविधान के प्रावधानों के दो हिस्से थे। संघीय और प्रांतीय। प्रस्तावित संघ (फेडरेशन) एक प्रकार से इस अर्थ में नयी चीज थी कि इसमें एक अखिल भारतीय केन्द्रीय सरकार की व्यवस्था की गई थी जो 'ब्रिटिश भारत' और 'भारतीय रियासतों' को एकीकृत करने वाली थी। संघीय संसद के दो सदन होने थे जिनमें से पहले में राजाओं

को प्रत्येक पांच में से दो स्थानों और दूसरे में प्रत्येक तीन में से एक स्थान के लिए उम्मीदवार नामजद करने थे। कई वर्गों को इतना प्रतिनिधित्व दिया गया था कि निर्वाचित सदस्यों की संख्या सीमित हो गई थी। सीटों को मुसलमान, सिख, अनुसूचित जातियां, स्त्रियां, एंग्लो-इंडियन, मज़दूर आदि वर्गों में बांटा गया था। उच्च सदन में 260 सीटों में से केवल 75 सीटें चुनकर भरी जानी थीं और निचले सदन में 375 में से केवल 86 उच्च सदन के लिए ब्रिटिश भारत की आबादी में से केवल 0.05 प्रतिशत को ही मताधिकार प्राप्त था और निचले सदन के लिए आबादी के करीब सौवें हिस्से तक। इन विधायिकाओं की शक्तियां भी अत्यंत सीमित थीं। रक्षा और विदेश नीति वाइसराय के लिए सुरक्षित रखे गए थे। इसी प्रकार वित्त नीति, नौकरशाही पर नियंत्रण और पुलिस भी विधान मंडल के अधिकार क्षेत्र से बाहर के विषय थे। कुछ ऐसे विषय रख दिए गए थे जिनके बारे में विधान मंडल कानून ही नहीं बना सकते थे। वाइसराय को व्यापक विवेकाधिकार दे दिए गए थे जिसमें किसी भी बिल को वीटो कर देने का अधिकार, मंत्रियों को बर्खास्त करने का अधिकार, विधायिकाओं द्वारा अस्वीकार किए गए बिलों आदि को पास कर देने का अधिकार, विधायिकाओं को भंग करने और संविधान को स्थगित कर देने के अधिकार शामिल थे।

संविधान का प्रांतों से संबंध रखने वाला भाग कुछ कम संकीर्ण था। यह भाग ब्रिटिश भारत के केवल 11 प्रांतों के लिए ही था। इसमें राजाओं, नवाबों के नामजद लोगों के लिए स्थान नहीं था। विधान मंडलों में पूरी तरह निर्वाचित प्रतिनिधि ही रहने थे यद्यपि उच्च सदनों के लिए मताधिकार सीमित रखा गया था। प्रांतों में सुरक्षित विषय नहीं थे। केवल पुलिस के गुप्तचर विभाग को ही गवर्नर के अधीन रखा गया था। साथ ही 'प्रांत की शांति को खतरा है' — इस विषय में संतुष्ट होने पर उसे पूर्ण आपातकालीन अधिकार के प्रयोग का हक भी प्राप्त था। इस प्रकार प्रांतों में लोकप्रिय सरकारें होने की कुछ सीमित संभावनाएं थीं। विधान मंडलों में केन्द्र की तरह ही सांप्रदायिक समूहों के लिए सीटें सुरक्षित की गई थीं और 11 प्रांतों की कुल 1,585 सीटों में से 657 सीटें खुली 'आम सीटें' रखी गई थीं। इस तरह राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए संविधान का विरोध करते हुए भी 1937 में प्रथम प्रांतीय चुनावों में भाग लेना संभव था और उसने चुनावों में भाग लेकर 11 में से शुरू में सात और बाद में आठ प्रांतों में बहुमत प्राप्त कर लिया।

जैसा कि 14वें अध्याय 'भारतीय संघर्ष 1920-34' के अंत में लिखा गया था, भारत में 1935 और 1936 में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। कांग्रेस का पार्लियामेंटरी (संसदीय) पक्ष अपना काम करता रहा और धीरे-धीरे उसका प्रभाव भी बढ़ने लगा। दूसरी तरफ कांग्रेस समाजवादी पार्टी युवा पीढ़ी को, और साथ ही साथ कांग्रेस के भीतर के और सामान्य जनता के अग्रगामी तत्वों को भी अपनी ओर आकर्षित करने लगी थी।

फिलहाल सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा और क्रांतिकारी आतंकवाद ने भी अपना आकर्षण खो दिया था और जो रिक्तता पैदा हुई थी उसके कारण कांग्रेस समाजवादी पार्टी का आगे बढ़ना स्वाभाविक सा था। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को, जो कि एक छोटा सा गुट था अंग्रेजों ने गैर-कानूनी करार दे दिया था। पार्टी ने अपने सदस्यों को हिदायत दी थी कि ये कांग्रेस समाजवादी पार्टी में घुस जाएं और अपने संघटन और लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए उसके सार्वजनिक मंच का इस्तेमाल करें। मिल मजदूरों और विद्यार्थियों के कुछ वर्गों में कम्युनिस्ट पार्टी को अपना प्रभाव बढ़ाने में सफलता मिली थी। बाद में सार्वजनिक रूप से खुलकर काम करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने एक नया नाम 'नेशनल फ्रंट' रख लिया।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी को 1920 से चले आ रहे गांधीवादी नेतृत्व के एकाधिकार को हटाकर नेतृत्व संभालने का ऐतिहासिक अवसर मिला था। यह बात सरल हो जाती यदि पं. जवाहरलाल नेहरू, जो पार्टी को अपना नैतिक समर्थन देते थे, खुलकर इसमें शामिल हो जाते और इसका नेतृत्व संभाल लेते। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया।

1935 के पतझड़ में पं. जवाहरलाल नेहरू को अचानक जेल से रिहा कर दिया गया जिससे कि वह अपनी पत्नी से मिल सकें जो यूरोप में मृत्यु-शैय्या पर थीं। उन्होंने अपना अधिक समय जर्मनी में बैडेनवीलर में बिताया और बीच-बीच में कभी-कभी लंदन और पेरिस भी जाते रहे। यूरोप में उनका प्रवास मार्च 1936 में समाप्त हो गया। इस दौरान उन्होंने लंदन और पेरिस में कुछ संपर्क बनाए जिनका प्रभाव उनकी भावी नीति पर पड़ा। वह रूस और आयरलैंड नहीं गए। ये दोनों ही देश ब्रिटेन-विरोधी समझे जाते थे। हां, अपनी पहली यूरोप यात्रा में वह मास्को गए थे। इटली और जर्मनी में उन्होंने सावधानीवश संपर्क नहीं बनाए। या तो इसका कारण यह था कि फासिस्टवाद और राष्ट्रीय समाजवाद उन्हें नापसंद था या यह कि वह इंग्लैंड और फ्रांस में अपने मित्रों को नाखुश नहीं करना चाहते थे। अपने यूरोप-प्रवास में उन्होंने अपनी आत्मकथा प्रकाशित की जिसने उन्हें उदार अंग्रेज जनता में काफी लोकप्रिय बना दिया।

1936 में श्री नेहरू को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया और उन्होंने अप्रैल में उसके लखनऊ अधिवेशन का सभापतित्व किया। साल के अंत में वह फिर कांग्रेस अध्यक्ष चुने गए और बंबई प्रेसिडेंसी में फैजपुर में जो कांग्रेस अधिवेशन हुआ उसकी भी उन्होंने अध्यक्षता की। दोनों ही बार अध्यक्ष के चुनाव में उन्हें कांग्रेस के गांधीवादी वर्ग का पूरा-पूरा समर्थन मिला। कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से उन्होंने गांधीवादी और कांग्रेस समाजवादी पार्टी के मध्य बीच का मार्ग अपनाए रखा ताकि दोनों पक्षों में से कोई भी नाराज न हो। हां, थोड़ा नैतिक समर्थन समाजवादियों को अवश्य देते रहे।

मैंने 1933 और 1936 के बीच रूस को छोड़कर सारे यूरोप का खूब भ्रमण किया और वारसाई की संधि के बाद के यूरोप की स्थिति का अच्छी प्रकार स्वयं अध्ययन किया। मैं कई बार इटली और जर्मनी भी गया और रोम में कई अवसरों पर मुसोलिनी से मुलाकात भी की। मैंने एक ओर तो उन शक्तियों के उदय का अध्ययन किया जो आखिर में उस पुरानी व्यवस्था को चुनौती देने वाली थीं जिसे वारसाई की संधि ने जन्म दिया था और दूसरी तरफ मैंने लीग आफ नेशन्स का अध्ययन किया जो उस पुरानी व्यवस्था की प्रतीक थी। मुझे उन परिवर्तनों में विशेष रुचि थी जो वारसाई की संधि की वजह से हुए थे और इस उद्देश्य से मैंने आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और बाल्कन राज्यों की यात्रा की। इन यात्राओं और अध्ययन से मैं केवल उस समय के यूरोप की स्थिति को ही समझने में सफल नहीं हुआ बल्कि आने वाली घटनाओं का भी मुझे कुछ आभास मिला। मैं यूरोप के बहुत से देशों में भारत के प्रति दिलचस्पी पैदा कर सकने में सफल हुआ और भारत से सम्पर्क बढ़ाने के लिए संगठन स्थापित करने में भी सहायक हो सका। मेरी अंतिम यात्रा आयरलैंड की थी जहां मैं वहां के राष्ट्रपति डीवैलेरा और उनकी सरकार के कई मंत्रियों से और गणतंत्र आंदोलन के नेताओं से मिला। 1933 और 1934 में मैंने अपना कुछ समय लीग आफ नेशन्स के संगठन का अध्ययन करने और इस बात का पता लगाने में भी बिताया कि लीग के द्वारा भारत की स्वाधीनता के उद्देश्य को आगे बढ़ाने की क्या आवश्यकता हो सकती है। प्रख्यात राष्ट्रवादी नेता और इंडियन लेजिस्लेटिव असेम्बली के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री विट्ठलभाई पटेल[1] जिनेवा इसी उद्देश्य से आए थे। दुर्भाग्य से श्री पटेल वहां पहुंचते ही गंभीर रूप से बीमार हो गए और अक्तूबर 1933 में एक स्विस सेनिटोरियम में उनकी मृत्यु हो गई। उनके स्वर्गवास के बाद मैं अकेला रह गया लेकिन फिर भी जिनेवा में कुछ दिन तक अपना काम करता रहा। इस अवधि में मैंने भारत विषयक अंतर्राष्ट्रीय समिति (इंटरनेशनल कमेटी आफ इंडिया) के साथ मिलकर काम किया। इस समिति का प्रधान कार्यालय जिनेवा में था। वहां भारत के बारे में एक मासिक बुलेटिन अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन, इन तीन भाषाओं में प्रकाशित होता था और विश्व भर में भारत के बारे में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को भेजा जाता था। जिनेवा में अपने प्रवास के अंत में मैंने यह अनुभव किया कि लीग आफ नेशन्स की मशीनरी पर ब्रिटेन और फ्रांस का पूरी तरह कब्जा है; और भले ही भारत लीग का मूल या आरंभिक सदस्य रहा हो पर इस संस्था का भारत की आजादी के लिए इस्तेमाल करना असंभव है। मैंने यह आंदोलन शुरू किया कि भारत लीग आफ नेशन्स का सदस्य बन कर अपना धन बेकार खर्च कर रहा है और उसे जल्दी से जल्दी इस संस्था से त्यागपत्र दे देना चाहिए। इस आंदोलन को भारत की जनता का काफी समर्थन मिला।

---

1. श्री पटेल उन चंद भारतीय नेताओं में से थे जो विदेशों में प्रचार के महत्त्व को समझते थे। उन्हीं के प्रयत्नों से डबलिन में इंडो-आयरिश लीग की स्थापना हुई थी।

यूरोप-प्रवास के दौरान ब्रिटिश सरकार के एजेंट मेरा बराबर पीछा करते रहे और इस बात की पूरी कोशिश करते रहे कि मैं विभिन्न देशों की सरकारों के साथ संपर्क न कर पाऊं। फासिस्ट और फासिस्ट-समर्थक देशों में वे मुझको कम्युनिस्ट बताने की कोशिश करते थे दूसरी तरफ समाजवादी या लोकतांत्रिक देशों में वे मुझे फासिस्ट बताते थे। इन सब बाधाओं के बावजूद मैंने कई यूरोपीय देशों में भारत के स्वाधीनता आंदोलन के पक्ष में उपयोगी प्रचार और सहानुभूति जगाने का काम बखूबी किया। इन कई देशों में भारत के साथ सांस्कृतिक और आर्थिक संपर्क स्थापित करने के उद्देश्य से संगठन भी स्थापित हुए।

अप्रैल 1936 में मैं कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में हिस्सा लेने के उद्देश्य से बंबई लौटा। वियना में ब्रिटिश वाणिज्य दूत ने ब्रिटिश सरकार की तरफ से मुझे यह लिखित चेतावनी दे दी थी कि यदि मैं भारत लौटा तो मुझे गिरफ्तार कर लिया जाएगा। लेकिन मैंने इस चेतावनी को ठुकराते हुए यह मुंहतोड़ चुनौती दी कि सरकार जो बुरे से बुरा कर सकती है जरूर करे। बंबई में जहाज से भारत की धरती पर पैर रखते ही मुझे गिरफ्तार कर लिया गया।

1936 की शरद ऋतु में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के भूतपूर्व सदस्य श्री एम.एन. राय को छह साल की सजा काट लेने के बाद जेल से रिहा कर दिया गया। उन्हें यह सजा कानपुर के बोल्शेविक षड्यंत्र केस में दी गई थी। अपने क्रांतिकारी अतीत और अंतर्राष्ट्रीय अनुभव के कारण श्री एम. एन. राय आकर्षक व्यक्तित्व वाले एक लोकप्रिय नेता थे। युवक उनके इर्द-गिर्द जमा होने लगे और जल्दी ही 'राय ग्रुप' नाम से एक नया ग्रुप उभर कर सामने आया।

भारत के लिए नया संविधान, जिसके अधीन बर्मा भारत से अलग हुआ, ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 1935 में पास किया था। इस नए संविधान के अंतर्गत 1936-37 की सर्दियों में प्रांतों में चुनाव होने वाले थे। कांग्रेस (जो अब पूरी तरह गांधीवादी शाखा का ही पर्याय बन गई थी) की संसदीय शाखा ने चुनावों की, और बाद में प्रांतों में मंत्रिपद संभालने की तैयारी शुरू कर दी। कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने आरंभ में इन चुनावों में भाग लेने का विरोध किया था। पार्टी का रवैया ठीक वैसा ही था जैसा 1922 23 में पुरातनपंथी और अपरिवर्तनवादी गांधीवादियों का रहा था। बाद में कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने यह रवैया बदल दिया। लेकिन मंत्रिपद स्वीकार करने के विचार का डटकर विरोध करती रही। कांग्रेस समाजवादी पार्टी का कोई स्पष्ट क्रांतिकारी दृष्टिकोण नहीं था। यह शायद इस कारण था कि पार्टी के लोग गांधीवाद के भ्रमजाल से निकले हुए भूतपूर्व

गांधीवादी ही थे जो गांधीवादी सिद्धांतों के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए थे। फिर पार्टी में कुछ लोग ऐसे भी थे जो नेहरू की भावुक राजनीति से प्रभावित थे।

1936–37 में कां. स. पार्टी ने कांग्रेसजनों द्वारा मंत्रिपद स्वीकार किये जाने का विरोध करने के उद्देश्य से एक अभियान चलाया। इस अभियान के समर्थकों में पंजाब के सरदार शार्दूल सिंह कवीशर[1], संयुक्त प्रांत के रफी अहमद किदवई[2], श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित[3] और चन्द्र बोस[4] शामिल थे, यद्यपि ये लोग कां. स. पार्टी के सदस्य नहीं थे। पंडित नेहरू ने इस आंदोलन को अपना नैतिक समर्थन दिया।

नए संविधान में उग्रवादियों को बहुमत में आने से रोकने के लिए सब तरह के अंकुश और सुरक्षा की व्यवस्था के बावजूद प्रांतीय विधान मंडलों के चुनावों में ब्रिटिश भारत के 11 प्रांतों में से सात में कांग्रेस पार्टी ने व्यावहारिक रूप में बहुमत प्राप्त कर ही लिया। उस समय मंत्रिमंडलों में शामिल होने के खिलाफ आंदोलन काफी जोर पकड़ गया था लेकिन संसदीय नेताओं अर्थात गांधीवादी नेताओं ने सारी स्थिति को इस होशियारी से संभाला कि जुलाई 1937 में उन्होंने मंत्रिमंडल-विरोधी अभियान को बड़ी सफलता के साथ पस्त कर दिया और अ. भा. कांग्रेस कमेटी से प्रांतों के मंत्रिमंडलों को संभालने के पक्ष में फैसला करा लिया।

मुझको मार्च 1937 में कलकत्ता के एक अस्पताल में नजरबंदी से छोड़ा गया। तब तक चुनाव खत्म हो चुके थे। अगले कुछ महीनों में धीरे-धीरे सारे ही राजनीतिक कैदियों को रिहा कर दिया गया। हां, बंगाल और अंडमान द्वीप की जेलों में बंद कैदियों को नहीं छोड़ा गया। बंगाल में तो कई हजार राजनीतिक बंदी थे। इनमें से अधिकांश ऐसे थे जो किसी भी तरह का मुकदमा चलाए बिना ही नजरबंद कर दिए गए थे। कई सौ कैदी अंडमान की जेलों में भी थे। अंडमान द्वीप बंगाल की खाड़ी में कैदियों की ही बस्ती थी। अंडमान में ऐसे कैदी रखे गये थे जिन्हें लंबी-लंबी सजाएं हुई थीं और ये अधिकतर बंगाल, पंजाब और संयुक्त प्रांत के थे। जुलाई 1937 में 11 में से सात प्रांतों में कांग्रेस पार्टी ने मंत्रिमंडल बनाए और वहां प्रायः सारे राजनीतिक कैदी रिहा कर दिए गए। इसके थोड़े ही दिन बाद अंडमान के कैदियों ने भी अपनी रिहाई के लिए भूख हड़ताल कर दी। इस पर उन्हें भी भारत की जेलों में ले जाया गया।

जिन प्रांतों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बने थे वे थे—सीमा प्रांत, संयुक्त प्रांत, बिहार, बंबई प्रेसीडेंसी, मध्य प्रांत, मद्रास प्रेसीडेंसी और उड़ीसा। असम में कांग्रेस का मंत्रिमंडल

---

1 बाद में कवीशर अ. भा. फारवर्ड ब्लाक के अध्यक्ष बने।
2 किदवई बाद में संयुक्त प्रांत के कांग्रेस मंत्रिमंडल में मंत्री बने।
3 श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित भी संयुक्त प्रांत में मंत्री बनीं।
4 बोस बाद में बंगाल के मंत्रिमंडल में कांग्रेस पार्टी के नेता बने।

पहले मंत्रिमंडल के हटा दिए जाने के बाद सितंबर 1938 में बना। सिंध[1] में कांग्रेस पार्टी के समर्थन से मंत्रिमंडल बना था लेकिन कांग्रेस पार्टी उसमें शामिल नहीं थी। बंगाल में दिसंबर 1941 से ऐसा मंत्रिमंडल काम कर रहा था जिसमें कांग्रेस पार्टी शामिल थी।[2] केवल पंजाब ही ऐसा था जहां सर सिकंदर हयात खां का मंत्रिमंडल हमेशा कांग्रेस पार्टी के विरोध में रहा है।

कांग्रेस पार्टी द्वारा सात प्रांतों में सरकार संभल लेने के बाद वहां के प्रशासन का स्वरूप राष्ट्रवादी बन गया और कांग्रेस की प्रतिष्ठा एकदम कई गुना बढ़ गई। जनता को ऐसा लगने लगा कि आने वाली ताकत कांग्रेस ही है। लेकिन इससे अधिक और कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। वास्तविक सत्ता अभी भी प्रांतीय गवर्नरों और इंडियन सिविल सर्विस के स्थायी अफसरों के हाथ में रही जो अधिकतर अंग्रेज ही थे, और इस कारण कांग्रेस पार्टी प्रशासन में कोई दूरगामी परिवर्तन नहीं ला सकी। कुछ समय के बाद जाहिर होने लगा कि बहुत से कांग्रेसी धीरे-धीरे संसदीय और संवैधानिक मनोवृत्ति से ग्रसित होते जा रहे थे और अपना क्रांतिकारी रूप खोते जा रहे थे।

1934 में कांग्रेस समाजवादी पार्टी का उदय निश्चय ही देश में अग्रगामी या वामपंथी शक्तियों के पुनरुत्थान का संकेत था। इसी के साथ-साथ देश के किसानों और विद्यार्थियों में, और कुछ हद तक मजदूरों में भी, असाधारण जागृति दिखाई दे रही थी। देश में पहली बार अखिल भारतीय किसान संगठन का जन्म हुआ जिसका नाम था अखिल भारतीय किसान सभा। इसके सबसे प्रमुख नेता थे स्वामी सहजानंद सरस्वती। इसी प्रकार विद्यार्थी आंदोलन भी कई उतार-चढ़ावों में से गुजरने के बाद एक केन्द्रीय नेतृत्व के अधीन आल इंडिया स्टूडेंट्स फेडरेशन[3] के रूप में सुसंगठित रूप से सामने आया। आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस, जिसमें 1929 में नागपुर में और 1931 में कलकत्ता में दो बार फूट हो चुकी थी, अब फिर से दक्षिण और वाम दोनों विचार पक्षों को साथ लेकर संयुक्त और नए नेतृत्व के अधीन एक हो गई थी।

पंडित नेहरू की दो बार की अध्यक्षता में संगठन का नेतृत्व तेजस्वी और सूझबूझ पूर्ण रहा और कांग्रेस के भीतर अग्रगामी शक्तियों को उससे बल मिलता रहा। साथ ही उनके कहने पर बहुत से समाजवादियों को कांग्रेस का स्थायी पदाधिकारी नियुक्त किया गया।

---

1 सिंध के कांग्रेस-समर्थक प्रधानमंत्री श्री अल्लाह बख्श ने अक्तूबर 1942 में भारत में ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति के विरोध में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और ब्रिटिश सरकार द्वारा दिया गया खान बहादुर का खिताब भी सरकार को लौटा दिया।

2 ऐसा कहा जाता है कि अंग्रेज गवर्नर ने मंत्रिमंडल के कांग्रेस पार्टी के मंत्रियों को कुछ माह पूर्व अवैधानिक रूप से इस कथित आधार पर हटा दिया कि वे गुप्त रूप से फारवर्ड ब्लाक से मिले हुए थे।

3. दिसम्बर 1940 में नागपुर के अधिवेशन में आल इंडिया स्टूडेंट्स फेडरेशन में फूट पड़ गई। फेडरेशन में जो कम्युनिस्ट ग्रुप था वह अलग हो गया और उसने अपना एक अलग संगठन बना लिया। छात्रों का मुख्य भाग अब फारवर्ड ब्लाक के राजनीतिक नेतृत्व में है।

लेकिन पंडित नेहरू इससे कहीं ज्यादा कुछ कर सकते थे। 1936-37 में उनकी लोकप्रियता बहुत ऊंचे शिखर पर थी, यहां तक कि उनकी स्थिति महात्मा गांधी से भी अधिक मजबूत थी क्योंकि उन्हें समूचे वामपक्ष का समर्थन प्राप्त था जो गांधीजी को प्राप्त नहीं था। लेकिन कांग्रेस संगठन में महात्माजी की स्थिति बहुत मजबूत थी क्योंकि उन्होंने कांग्रेस पार्टी के भीतर अपनी पार्टी यानी गांधीवादी शाखा स्थापित कर ली थी जिसके बल पर वह पंडित नेहरू पर प्रभुत्व रख सकते थे। उधर बेहद लोकप्रियता के बावजूद पं नेहरू का अपना कोई गुट या पार्टी नहीं थी। यदि वह इतिहास में अपना नाम कायम रखना चाहते थे तो उनके सामने उस समय दो ही रास्ते थे . या तो वह गांधीवाद के सिद्धांतों को स्वीकार करें और कांग्रेस पार्टी के भीतर गांधीवादी गुट के साथ रहें या फिर गांधीवादी गुट के विरुद्ध पार्टी में अपना ही एक विरोधी गुट तैयार करें। वह पहली बात नहीं कर सकते थे क्योंकि भले ही वह गांधीजी के प्रति व्यक्तिगत वफादारी रखते हों पर उन्होंने गांधीजी के सभी सिद्धांतों को स्वीकार नहीं किया। दूसरी तरफ उन्होंने अपनी पार्टी भी नहीं बनाई क्योंकि अपने जीवन में उन्होंने महात्माजी के विरुद्ध कभी कुछ करने की हिम्मत नहीं दिखाई थी। इस तरह नेहरूजी ढुलमुल बने रहे, दक्षिण पक्ष और वामपक्ष दोनों को ही खुश करने की कोशिश करते रहे, न वह गांधी पक्ष में शामिल हुए न अन्य किसी अग्रगामी पार्टी में शामिल हुए। नतीजा यह हुआ कि वह कांग्रेस पार्टी में अकेले ही बने रहे। आज 1942 में उनकी कांग्रेस में यही स्थिति है। 1937 के बाद वह गांधीजी के निकट आते गए और 1939 तक वह गांधी पक्ष के सदस्य बन गए। इसके लिए महात्माजी ने उन्हें पुरस्कृत भी किया और जनवरी 1942 में घोषणा कर दी कि नेहरू को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करता हूं। यदि नेहरूजी ने महात्माजी के प्रति अनन्य आज्ञाकारिता दिखाई होती तो वह लगातार उसी स्थिति में बने रहते। लेकिन सर स्टेफर्ड क्रिप्स के मिशन के भारत आने पर भारत और ब्रिटेन के भावी संबंधों के बारे में नेहरूजी ने समझौते और सहयोग की नीति की हिमायत की जिसको महात्माजी और उनकी पार्टी ने ठुकरा दिया। इस मतभेद के कारण नेहरू एक तरह से अब बिलकुल अकेले पड़ गए हैं और इस बात की पूरी संभावना दिखाई देती है कि इस अनुभव के बाद गांधीवादी गुट आसानी से नेहरूजी को महात्माजी का उत्तराधिकारी स्वीकार करने को तैयार नहीं होगा।

दिसम्बर 1937 में मैं फिर अपने प्रिय स्वास्थ्यवर्धक स्थान बादगास्तीन (आस्ट्रिया) जा पहुंचा और वहां से इंग्लैंड गया। जनवरी 1938 में मैं इंग्लैंड में ही था जब मुझे खबर मिली कि मैं सर्वसम्मति से कांग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया गया हूं। अपने इंग्लैंड के प्रवास में मैंने ब्रिटिश मंत्रिमंडल के कई सदस्यों, जैसे लार्ड हैलीफैक्स, लार्ड जेटलैंड आदि से भेंट की और इसी प्रकार वहां की लेबर पार्टी और लिबरल पार्टी के कुछ ऐसे सदस्यों से भी मुलाकात की जो भारत के प्रति सहानुभूति रखते थे जैसे कि श्री एटली, श्री आर्थर ग्रीन वुड, श्री बेविन, सर स्टेफर्ड क्रिप्स, श्री हैरोल्ड लास्की, लार्ड ऐलन, आदि।

कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से मैंने कांग्रेस पार्टी के रुख को ब्रिटिश सरकार के साथ समझौते के विरुद्ध और कड़ा बनाने की भरसक कोशिश की, जिसके कारण गांधीवादी हलकों में नाराजगी पैदा हो गई क्योंकि वे लोग ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता करने का इरादा कर रहे थे। बाद में 1938 में मैंने औद्योगीकरण और राष्ट्रीय विकास के लिए एक व्यापक योजना तैयार करने के वास्ते राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना की। इससे महात्मा गांधी और चिढ़ गए क्योंकि वह औद्योगीकरण का विरोध करते थे। सितंबर 1938 में म्युनिख पैक्ट होने के बाद तो मैंने सारे देश में भारत की जनता को आगामी संघर्ष के लिए तैयार करने के लिए प्रचार शुरू कर दिया। यह संघर्ष यूरोप में आगामी युद्ध छिड़ने के साथ ही छेड़ा जाना था। यद्यपि यह कदम आम जनता को अच्छा लग रहा था लेकिन गांधीवादियों को इससे नाराजगी थी जो कि अपने मंत्रिमंडलीय और संसदीय कार्य में कोई विघ्न-बाधा नहीं आने देना चाहते थे और इस समय राष्ट्रीय संघर्ष के विचार के विरोधी थे।

मेरे और गांधीवादियों के बीच मतभेद काफी बढ़ गए थे, भले ही आम लोगों को दिखाई न पड़ते हों। अतः जनवरी 1939 के कांग्रेस के अध्यक्ष के चुनाव के समय गांधीवादियों ने और पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मेरा डटकर विरोध किया। किन्तु मैं फिर भी काफी अच्छे बहुमत से अध्यक्ष का चुनाव जीत गया। 1923-24 के बाद यह पहला अवसर था जब महात्मा गांधी ने सार्वजनिक रूप से मात खाई थी और अपने साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' में उन्होंने इसे अपनी हार स्वीकार किया। इस चुनाव में यह बात साफ हो गई कि महात्मा गांधी और पं. नेहरू दोनों के खुले विरोध के बावजूद सारे देश में मुझको कितना व्यापक और प्रभावशाली समर्थन प्राप्त था।

मार्च 1939 में जब कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ और मैंने उसका सभापतित्व किया तो यह स्पष्ट प्रस्ताव किया कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को तुरंत ब्रिटिश सरकार को भारत को छह महीने के भीतर स्वतंत्रता दे देने का अल्टीमेटम दे देना चाहिए और साथ ही राष्ट्रीय संघर्ष के लिए तैयारी करनी चाहिए। इस प्रस्ताव का गांधीवादियों ने और पं. नेहरू ने विरोध किया और इसे अस्वीकार कर दिया गया। इस प्रकार एक ऐसी स्थिति आ गई कि यद्यपि मैं कांग्रेस का अध्यक्ष था लेकिन मेरा नेतृत्व संगठन को मान्य नहीं हुआ। और बड़ी बात यह थी कि जहां तक हो सकता हर मौके पर गांधीवादी गुट अध्यक्ष का विरोध करने से न चूकता, और मेरे लिए काम करना ही असंभव हो गया। परिणामस्वरूप कांग्रेस के भीतर पूर्णतः गतिरोध पैदा हो गया। अब इस गतिरोध को दूर करने के दो ही उपाय थे। या तो गांधीवादी अपनी इस अड़ंगेबाजी की नीति को छोड़ दें या अध्यक्ष पूरी तरह गांधीवादियों के सामने आत्मसमर्पण कर दे। कोई समझौता हो जाए इसके लिए महात्मा गांधी और मेरी सीधी बातचीत हुई लेकिन वह बेकार रही। इसका कोई नतीजा नहीं निकला। कांग्रेस के विधान के अनुसार अध्यक्ष को आगामी साल के

लिए कार्यकारिणी नियुक्त करने का अधिकार होता है लेकिन यह स्पष्ट था कि गांधीवादियों की इच्छानुसार कार्यकारिणी नहीं बनाई गई तो वे बराबर अड़ंगेबाजी करते रहेंगे। और कांग्रेस के भीतर उनकी स्थिति ऐसी थी कि यदि वे रुकावटें डालने की ठान लेते तो वास्तव में अध्यक्ष का स्वतंत्र रूप से काम करना असंभव था।

गांधीवादी तत्व न तो मेरे नेतृत्व को स्वीकार करने को राजी थे और न वे कांग्रेस की मशीनरी पर मेरा नियंत्रण होने देना चाहते थे। अधिक से अधिक वे अध्यक्ष को मात्र कठपुतली की तरह सहन कर सकते थे। गांधीवादी गुट एक और दृष्टि से बेहतर स्थिति में था, वह यह कि वे लोग कांग्रेस के भीतर एक केन्द्रित नेतृत्व के अधीन एक संगठित पार्टी के रूप में थे। कांग्रेस के भीतर जो अग्रवादी या वामपक्षी तत्व थे और जो मुझे दुबारा चुनवाने के लिए जिम्मेदार थे यद्यपि वे संख्या की दृष्टि से बहुमत में थे पर उन्हें एक घाटा यह था कि गांधीवादियों की तरह वे एक नेता के अधीन संगठित नहीं थे। उस समय तक कोई पार्टी या गुट ऐसा नहीं था जिसे सारे वामपक्षी अपना नेता मानते हों। यद्यपि उस समय सारे वामपक्ष में कांग्रेस समाजवादी पार्टी ही सबसे महत्वपूर्ण पार्टी थी पर उसका प्रभाव भी सीमित था। फिर यह भी हुआ कि जब मेरे और गांधीवादियों के बीच लड़ाई छिड़ गई तो समाजवादी भी ढुलमुल होने लगे। अंत में सुसंगठित और अनुशासित वामपक्ष के अभाव में मेरे लिए गांधीवादियों से लड़ना असंभव हो गया। इस समय का निष्कर्ष यह है कि 1939 में भारत की सबसे पहली राजनीतिक आवश्यकता कांग्रेस के भीतर सुसंगठित और अनुशासित वामपंथी पार्टी की थी।

महात्मा गांधी के साथ मेरी जो वार्ता हुई उससे यह स्पष्ट हो गया कि एक तरफ गांधीवादी लोग मेरे नेतृत्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे और दूसरी तरफ मैं कठपुतली अध्यक्ष बने रहने को तैयार नहीं था। अतः कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे देने के सिवा मेरे पास कोई चारा नहीं था। 29 अप्रैल, 1939 को मैंने यही किया और फौरन ही एक अग्रगामी और प्रगतिशील पार्टी बनाई ताकि समूचे वामपक्ष को एक झंडे तले संगठित किया जा सके। इस पार्टी का नाम था फारवर्ड ब्लाक। फारवर्ड ब्लाक का पहला अध्यक्ष मैं ही बना और उपाध्यक्ष (*अब कार्यकारी अध्यक्ष*) बने पंजाब के सरदार शार्दूल सिंह कवीशर।

1939 से बहुत पहले ही मुझे यह विश्वास हो गया था कि निकट भविष्य में ही युद्ध की शक्ल में एक अंतर्राष्ट्रीय संकट आने वाला है और भारत को इस संकट का अपनी स्वाधीनता प्राप्ति के लिए पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए। 1938 में म्युनिख पैक्ट के बाद से मैं भारतीय जनता को बराबर यही बात समझाने की कोशिश करता रहा और कांग्रेस को भी विदेशों में चल रहे इस घटना-चक्र के अनुसार अपनी नीति ढालने को तैयार करने के वास्ते सतत् प्रयत्न करता रहा। इस प्रयत्न में मेरे मार्ग में गांधीवादी गुट की तरफ से पग-पग पर बाधाएं डाली जाती रहीं क्योंकि उन्हें अंतर्राष्ट्रीय घटना-चक्र की कतई समझ

नहीं थी और ये लोग बड़ी उत्सुकता के साथ समझौता हो जाने की उम्मीद लगाए बैठे थे। खैर, मैं यह भलीभांति जानता था कि कांग्रेस के भीतर और आम जनता में मुझे बहुत भारी समर्थन है; बस आवश्यकता है तो इस बात की कि मेरे पीछे कोई संगठित और अनुशासित पार्टी होनी चाहिए।

फारवर्ड ब्लाक के गठन से मुझे दो अपेक्षाएं थी। एक तो यह कि गांधीवादियों के साथ भावी टक्कर में मैं उनका और अधिक ताकत के साथ मुकाबला कर सकूंगा; और मैं आशा कर सकता था कि एक दिन सारी कांग्रेस को अपनी बात मनवा सकूंगा। दूसरे, यदि सारी कांग्रेस को मैं अपने साथ नहीं ले सका तो किसी बड़े संकट की स्थिति में मैं ऐसी स्थिति में अवश्य होऊंगा कि यदि गांधी गुट ने वक्त पर साथ न भी दिया तो भी मैं अपने ही बलबूते पर काम कर सकूंगा। बाद में जो कुछ घटनाएं हुई उनसे फारवर्ड ब्लाक के संस्थापक के नाते मेरी ये अपेक्षाएं काफी हद तक पूरी हुई।

जैसे ही फारवर्ड ब्लाक की स्थापना हुई, गांधीवादियों के कोप की पूरी गाज उस पर गिरी। देशबंधु चित्तरंजन दास की 1925 में मृत्यु के बाद गांधीजी के नेतृत्व को गंभीर चुनौती मिलने का यह पहला अवसर आया था। फिर भला वह और उनके अनुयायी इसे कैसे सहन कर सकते थे। गांधी गुट के रोष को सहन करने के साथ-साथ फारवर्ड ब्लाक को ब्रिटिश सरकार की सताने और परेशान करने वाली कार्यवाही का भी सामना करना पड़ रहा था, क्योंकि उसके लिए राजनीतिक दृष्टि से गांधीवादियों की अपेक्षा फारवर्ड ब्लाक कहीं ज्यादा खतरनाक था।

फारवर्ड ब्लाक के जन्म से कांग्रेस के भीतर का संघर्ष और तेज हो गया और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि कोई भी इस या उस पक्ष में शामिल हुए बिना नहीं रह सकता था। कांग्रेस के भीतर के इस द्वन्द्व में जिस व्यक्ति को सबसे ज्यादा परेशानी हुई वह थे पं. जवाहरलाल नेहरू। अभी तक तो वह बड़ी होशियारी और चतुराई से एक साथ दो घोड़ों पर सवारी करते रहे थे और इस तरह एक तरफ गांधीवादियों का समर्थन प्राप्त करते रहे थे और दूसरी तरफ वामपक्ष के भी संरक्षक बने रहे थे। फारवर्ड ब्लाक के उदय से उन्हें अपना यह उभयपक्षी रवैया छोड़ कर एक ही रास्ते को चुनना पड़ा और उन्होंने दक्षिण पक्ष यानी गांधी पक्ष की तरफ बढ़ना शुरू कर दिया। और ज्यों-ज्यों फारवर्ड ब्लाक और गांधीवादियों के संबंधों में तनाव आता गया, पं. नेहरू गांधीजी की तरफ अधिकाधिक झुकते हुए, उन्हीं को अपना समर्थन देते चले गए।

भारत के लिए सबसे अच्छी बात तो यही होती कि गांधीजी के नेतृत्व में समूची कांग्रेस फारवर्ड ब्लाक की नीति को ही अपनाती। इससे आंतरिक कलह में जो शक्ति नष्ट हो रही थी, वह बच जाती और ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करने के लिए कांग्रेस का बल बहुत बढ़ जाता। किन्तु मनुष्य स्वभाव अपने ही ढंग से काम करता है। सितंबर 1938 से महात्मा गांधी इस बात पर जोर देते रहे कि निकट भविष्य में राष्ट्रीय संघर्ष

का तो प्रश्न ही नहीं उठता, लेकिन मेरे जैसे दूसरे लोगों को, जो उनसे कम देशभक्त नहीं थे, यह विश्वास था कि आतरिक दृष्टि से देश क्रांति के लिए कहीं अधिक तैयार है और आने वाला अतर्राष्ट्रीय सकट भारत को अपनी स्वाधीनता प्राप्ति का ऐसा स्वर्णावसर प्रदान करने वाला है जो मानव इतिहास में बहुत दुर्लभ होता है। जब गाधीजी को प्रभावित करने के सारे प्रयत्न विफल हो गए तो फारवर्ड ब्लाक को गठित करके जनता का समर्थन प्राप्त कर महात्माजी पर अप्रत्यक्ष दबाव डालने के सिवा कोई चारा नहीं था। अततोगत्वा यह तरीका सफल भी हुआ। वास्तविकता भी यही है कि यदि ऐसा नहीं किया गया होता तो गाधीजी ने अपना रवैया कभी न बदला होता और जब 1939 में महायुद्ध शुरू हुआ तो भी वह जहा के तहा ही बने रहते।

मुझे अभी तक उस दिलचस्प लबी बातचीत की याद ताजा है जो अप्रैल 1939 में कलकत्ता मे प नेहरू के साथ उस समय हुई थी जब मैंने काग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देकर नई पार्टी बनाने की इच्छा की घोषणा की थी। प नेहरू ने यह तर्क दिया था कि इस तरह के कदम से काग्रेस के भीतर फूट पड जाएगी और नाजुक घडी में राष्ट्रीय सगठन को कमजोर कर देगी। इसके विपरीत मैंने यह तर्क दिया था कि आपको ऐसी एकता में जिससे अधिक प्रभावशाली कार्रवाई को प्रोत्साहन मिले और उस एकता में जिससे निष्क्रियता उत्पन्न हो, फर्क करना चाहिए। गाधी पक्ष के सामने आत्मसमर्पण करने से ही काग्रेस में ऊपरी एकता कायम रह सकती है लेकिन क्योंकि गाधीवादी राष्ट्रीय सघर्ष के विचार के ही विरुद्ध हैं अत इस प्रकार की एकता को यदि बनाए रखा गया तो भविष्य मे काग्रेस से जो गतिशीलता और सक्रियता अपेक्षित है वही कुठित हो जाएगी। इसके विपरीत, यदि काग्रेस के भीतर ही एक ऐसी पार्टी बनाई जाए जो प्रगतिशील हो तो सभव है कि वह पार्टी गाधी पक्ष को भी प्रभावित करे और काग्रेस को आक्रामक कार्रवाई करने को प्रोत्साहित करे। फिर और बडी बात यह है कि आगे काफी नाजुक वक्त आने वाला है और निकट भविष्य में ही युद्ध होने वाला है। यदि ऐसे अतर्राष्ट्रीय सकट में कोई कुछ करना चाहे तो इस अवसर का लाभ उठाने लायक कोई पार्टी तो होनी चाहिए। यदि गाधीवादी यह भूमिका अदा करने को तैयार नहीं हैं तो तुरत ही, समय रहते कोई दूसरी पार्टी बनाई जानी चाहिए। यदि इस काम को अभी नहीं किया गया और टाल दिया गया तो बाद में फिर यह नहीं हो पाएगा क्योंकि अतर्राष्ट्रीय सकट के आ पडने पर ऐसा कर पाना सभव नहीं होगा। और बिना ऐसी सुसगठित पार्टी के जो कि इस अतर्राष्ट्रीय सकट का पूरा लाभ आजादी हासिल करने के लिए उठा सके, भारत फिर अपनी उसी गलती को दुहराएगा जो उसने 1914 में की थी।

इस बहस से प नेहरू के विचारो को बदला नहीं जा सका और वह गाधी पक्ष का ही साथ देते रहे। लेकिन वह जितना ही ऐसा करते गए उतना ही वामपक्ष से दूर होते चले गए।

सितंबर 1938 में मुझे पहली बार यह एहसास हुआ कि अंतर्राष्ट्रीय संकट आने पर गांधजी उसका लाभ उठाते हुए ब्रिटिश सरकार पर हमला नहीं करेंगे। तभी मुझे यह भी पहली बार ही अनुभव हुआ कि गांधीजी निकट भविष्य में ब्रिटेन के साथ संघर्ष की सोच भी नहीं सकते। (गांधीजी का भारत की स्थिति का यह जायजा पूरी तरह व्यक्ति सापेक्ष था और उनका बुढ़ापा इसका कारण रहा होगा।) सितंबर 1938 में म्युनिख पैक्ट के समय मैं कांग्रेस का अध्यक्ष था और मैं ही कांग्रेस की कार्यसमिति की बैठकों की अध्यक्षता करता था जिसमें इस बात पर विचार किया जाता था कि यदि यूरोप में वास्तव में युद्ध आरंभ हो गया तो हमें क्या कदम उठाने चाहिए। ये बैठकें एक प्रकार से उन बैठकों का पूर्वाभ्यास थीं जो एक साल बाद सितंबर 1939 में वास्तव में युद्ध छिड़ जाने के बाद हुईं और इन बैठकों में महात्मा गांधी और कांग्रेस के अन्य महत्वपूर्ण नेताओं की मनोवृत्ति स्पष्ट सामने आ जाती थी।

सितंबर 1938 में समझदार लोगों को यह बात साफ जाहिर हो गई थी कि महात्मा गांधी अपनी गतिशीलता और पहल करने की प्रतिभा खो चुके हैं। कारण जो भी रहा हो, उस समय भारत में वैकल्पिक नेतृत्व के विकास की संभावनाएं मौजूद थीं:

(1) पंडित नेहरू की ओर से :

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, पं. नेहरू ने जानबूझ कर इस सुअवसर की उपेक्षा की, मुख्यतः अपनी आंतरिक कमजोरी के कारण, आत्मविश्वास के अभाव के कारण और क्रांतिकारी दूरदृष्टि न होने के कारण।

(2) श्री एम. एन. राय की ओर से :

एम. एन. राय ने एक पार्टी भी बनाई और वैकल्पिक नेतृत्व की बात भी की। लेकिन उनके चरित्र में कुछ दोष था जिसके कारण थोड़े ही दिनों में उन्होंने मित्रों की अपेक्षा शत्रु अधिक बना लिए। इसके बावजूद भविष्य उनका था, लेकिन इस युद्ध के छिड़ते ही वह ब्रिटिश सरकार के साथ बिना शर्त सहयोग की हिमायत करने लगे और इस कारण उनका राजनीतिक प्रभाव ही समाप्त हो गया।

(3) कांग्रेस समाजवादी पार्टी की ओर से :

1934 और 1938 के बीच इस पार्टी को भारत की भावी राष्ट्रवादी पार्टी बनने का अच्छा अवसर मिला था। लेकिन वह ऐसा नहीं कर सकी। 'भारत का संघर्ष 1920-34' शीर्षक अध्याय में मैं इस बात का पूर्वाभास दे चुका हूं। कांग्रेस समाजवादी पार्टी में शुरू से ही क्रांतिकारी दृष्टिकोण का अभाव रहा। शुरू से ही इसने कांग्रेस के भीतर एक प्रकार से संसदीय विरोधी पार्टी की भूमिका निभायी, न कि एक क्रांतिकारी आंदोलन के अग्रदूत

को। सितंबर 1939 के बाद गांधीजी और प. नेहरू ने इसके नेताओं को अपनी तरफ मिला लिया और इससे तो पार्टी का सारा भविष्य ही चौपट हो गया।

(4) कम्युनिस्ट पार्टी की ओर :

जब कांग्रेस समाजवादी पार्टी अवसर का लाभ नहीं उठा सकी और फेल हो गई तो उस समय कम्युनिस्ट पार्टी के लिए, जो उस समय नेशनल फ्रंट के नाम से काम कर रही थी, आगे आने का अच्छा अवसर था लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी एक तो संख्या बल की दृष्टि से बहुत छोटी थी और दूसरे इसका कोई सही राष्ट्रीय दृष्टिकोण भी नहीं था। इस कारण यह भी राष्ट्रीय संघर्ष का माध्यम नहीं बन सकी। इसकी जड भी चूंकि भारत की मिट्टी में नहीं थी इस कारण यह खास स्थिति या संकट का मूल्यांकन करने में गलती कर जाती थी और इस वजह से गलत नीति का अनुसरण करती थी।

1938 के सारे साल मैं कांग्रेस समाजवादी पार्टी को बार-बार सलाह देता रहा कि वह अपने मंच को और व्यापक बनाए और एक वामपंथी ब्लाक बनाए जिसके गिर्द कांग्रेस के भीतर के सभी अग्रगामी और प्रगतिशील तत्व इकट्ठे हो सकें। पर पार्टी ने ऐसा कुछ नहीं किया। कांग्रेस समाजवादी पार्टी की एक गलती यह थी कि वह समाजवाद के बारे में बहुत बात करती थी जो कि आखिर भविष्य की वस्तु थी। भारत को जिस चीज की तुरंत आवश्यकता थी वह थी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ किसी प्रकार का समझौता किए बिना किसी ऐसे ढंग और तरीके से निरंतर संघर्ष की, जो महात्मा गांधी के तरीके से अधिक कारगर हो। गांधीवाद की यही कमी थी कि वह अहिंसा के प्रति प्रतिबद्ध था और इस कारण भारत की समस्याओं के हल के लिए ब्रिटेन के साथ समझौते की सोचता था। और भी बड़ी बात यह थी कि इसे अंतर्राष्ट्रीय मामलों की ओर भारत की मुक्ति के लिए किसी अंतर्राष्ट्रीय संकट की स्थिति का क्या महत्व है, इसकी ठीक समझ नहीं थी। अब जरूरत थी ऐसी पार्टी की जो इन सब दोषों से मुक्त हो और भारत को पूरी तरह स्वाधीन करा सके।

फारवर्ड ब्लाक के सामने पहला लक्ष्य भारत को स्वाधीन करने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ अनवरत संघर्ष का था। इस उद्देश्य के लिए हर संभव उपाय को काम में लाया जाना चाहिए और गांधीजी के अहिंसा जैसे दार्शनिक विचारों या प. नेहरू की धुर राष्ट्र विरोधी विदेश नीति को भारत की जनता के मार्ग में बाधक नहीं बनने देना चाहिए। फारवर्ड ब्लाक एक यथार्थवादी विदेश नीति का हामी और युद्धोपरांत भारत में एक समाजवादी व्यवस्था का पक्षधर था।

फारवर्ड ब्लाक का जन्म एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ था। यही कारण था कि इसकी बात सामान्य जनता को अच्छी लगती थी और इसकी लोकप्रियता दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ने लगी। कुछ महीने बाद महात्माजी ने यह टिप्पणी की कि

मेरी लोकप्रियता कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से त्याग पत्र दे देने के बाद और बढ़ी है।

जब सितंबर 1939 में यूरोप में युद्ध छिड़ गया तो शंकालु लोग भी मेरी इस राजनीतिक दूरदर्शिता का सिक्का मान गए कि मैंने मार्च महीने में ही त्रिपुरी के वार्षिक अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार को भारत को आजाद करने के लिए छह मास का अल्टीमेटम देने का सुझाव दिया था। इस बात से फारवर्ड ब्लाक की प्रतिष्ठा और बढ़ी।

अध्याय 22

सितंबर 1939 से अगस्त 1942 तक

मई 1939 से फारवर्ड ब्लाक का प्रचार-युद्ध पूरे जोरों पर था। उसी साल जुलाई में गांधी पक्ष ने इसके इस काम को रोकने की कोशिश की। एक न एक आधार पर ब्लाक के कई सदस्यों के खिलाफ कांग्रेस कार्यसमिति ने 'अनुशासन की कार्रवाई की'। लेकिन इससे उल्टा ब्लाक के सदस्यों का मनोबल तो बढ़ा ही, जनसाधारण में उनकी लोकप्रियता भी और बढ़ी।

3 सितंबर, 1939 की बात है जब मैं मद्रास के समुद्र तट पर करीब दो लाख की भारी जनसभा के सामने भाषण कर रहा था। इतनी बड़ी सभा में मैंने इससे पहले कभी भाषण नहीं किया था। तभी श्रोताओं में से किसी ने मेरे हाथ में शाम का अखबार पकड़ा दिया। जब समाचार पत्र को पढ़ा तो पता लगा कि ब्रिटेन ने जर्मनी से युद्ध की घोषणा कर दी है। तुरंत ही मैंने विषय बदल कर युद्ध के विषय में बोलना शुरू कर दिया। जिस संकट की बहुत आशंका की जा रही थी अतत वह शुरू हो गया था। यह भारत के लिए एक स्वर्ण अवसर था।

जिस दिन ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध का एलान किया उसी दिन वाइसराय ने भारत को भी युद्धरत घोषित कर दिया और एक अध्यादेश जारी किया जिसमें आतरिक अव्यवस्था को दबाने के लिए अत्यधिक कठोर शक्तियां सरकार को दी गई थीं। 11 सितंबर को यह घोषणा की गई कि 1935 के एक्ट के अधीन संघीय संविधान के उद्घाटन को युद्ध की अवधि के दौरान स्थगित कर दिया गया था।

6 सितंबर को वाइसराय लार्ड लिनलिथगो से मुलाकात करने के बाद महात्मा गांधी ने यह वक्तव्य दिया कि भारत की आजादी के बारे में भारत और ब्रिटेन के मतभेदों के बावजूद भारत को ब्रिटेन के संकट के समय उससे सहयोग करना चाहिए। गांधीजी का यह वक्तव्य भारतवासियों के लिए एक बम के धमाके की तरह आया क्योंकि उन्हें तो 1927 से कांग्रेस नेताओं द्वारा यही पाठ पढ़ाया जा रहा था कि अगले युद्ध को भारत की आजादी प्राप्त करने का अभूतपूर्व अवसर माना जाएगा। गांधीजी के इस बयान के बाद बहुत से गांधीवादी नेताओं ने ऐसी सार्वजनिक घोषणाएं करनी शुरू कर दीं कि यद्यपि हम भारत की आजादी चाहते हैं पर यह भी चाहते हैं कि ब्रिटेन यह युद्ध जीते। क्योंकि इस तरह के प्रचार से भारत के जनमत पर बड़ा बुरा असर पड़ सकता था इसलिए फारवर्ड ब्लाक ने, जो अब तक एक अखिल भारतीय संगठन बन चुका था, बड़े पैमाने पर इसका प्रतिवाद प्रचार आरंभ कर दिया। गांधीवादियों के विपरीत फारवर्ड ब्लाक इस बात का प्रचार कर रहा था कि कांग्रेस 1927 से बार-बार यह घोषणा करती आ रही है कि ब्रिटेन

की लड़ाई में भारत को सहयोग नहीं देना चाहिए और अब समय आ गया है कि कांग्रेस अपनी इस घोषित नीति पर अमल करे। फारवर्ड ब्लाक के सदस्य यह भी साफ कहते थे कि हम लोग युद्ध में ब्रिटेन की जीत नहीं चाहते क्योंकि ब्रिटेन के हार जाने पर और ब्रिटिश साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर ही भारत आजाद होने की आशा कर सकता है।

फारवर्ड ब्लाक के इस सामान्य प्रचार के अलावा मैंने देशभर का दौरा किया और दस महीने की अवधि में मैंने करीब एक हजार जनसभाओं में भाषण किए होंगे। इस बात का सभी को और मुझे भी, *आश्चर्य रहा कि ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटेन-विरोधी और युद्ध-*विरोधी इतना भारी प्रचार होने कैसे दिया। सच्चाई यह है कि सरकार इस बात से भयभीत थी कि यदि फारवर्ड ब्लाक के खिलाफ कोई कठोर कदम उठाया तो कहीं कांग्रेस भी न भड़क जाए और आम जनता भी न भड़क उठे और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ सत्याग्रह न शुरू हो जाए। सरकार की इस घबराहट का फारवर्ड ब्लाक ने पूरा फायदा उठाया और वह ब्रिटेन और युद्ध के विरोध में अपना धुआंधार प्रचार करता रहा। हां, इस प्रचार के कारण उसके बहुत से सदस्य जेल में जरूर डाल दिए गए थे।

फारवर्ड ब्लाक के इस प्रचार को सारे देश में खूब समर्थन मिला। तब महात्मा गांधी और उनके अनुयायियों को भी महसूस हुआ कि अंग्रेजों से सहयोग की नीति को आम जनता का समर्थन नहीं मिलेगा और इससे *निश्चय ही वे अपना प्रभाव और लोकप्रियता* खो बैठेंगे। परिणामस्वरूप उन्होंने धीरे-धीरे अपना रवैया बदलना शुरू कर दिया।

गांधीजी के रवैये से भी अधिक अजीब था पं. नेहरू का रवैया। 1927 से लेकर 1938 तक वह कांग्रेस के सभी युद्ध-विरोधी प्रस्तावों में खास भूमिका अदा करते रहे। अत. लोगों का यह अपेक्षा करना बड़ा स्वाभाविक था कि वह युद्ध-विरोधी नीति के अगुआ रहेंगे। अपने पहले के प्रस्तावों के अनुसार कांग्रेस पार्टी को सितंबर 1939 के बाद तुरन्त ही ब्रिटेन से असहयोग कर देना चाहिए था और यदि इसके बाद सरकार युद्ध के लिए भारत का इस्तेमाल करती तो उसे ब्रिटिश सरकार के इस कदम का मुकाबला करना चाहिए था। पं. नेहरू ने इस नीति पर अमल ही नहीं किया, उन्होंने अपना सारा प्रभाव इस बात के लिए इस्तेमाल किया कि जब तक युद्ध चले तब तक कांग्रेस ब्रिटिश सरकार को किसी भी प्रकार से परेशान न करे।

6 सितंबर को कांग्रेस कार्यकारिणी की वर्धा में इस बात पर निर्णय करने के लिए बैठक बुलाई गई कि युद्ध के बारे में कांग्रेस को क्या रुख अपनाना चाहिए। मुझे, जबकि उस समय मैं कार्यसमिति में नहीं था, विशेष रूप से बैठक में आमंत्रित किया गया था और मैंने फारवर्ड ब्लाक के इस विचार को स्पष्ट रूप से सामने रखा कि आजादी के लिए हमें फौरन संघर्ष छेड़ देना चाहिए। मैंने बैठक में यह भी कह दिया कि यदि कांग्रेस कार्यकारिणी ने इस बारे में *आवश्यक कार्रवाई* की तो फारवर्ड ब्लाक, देश के हित में

जो कुछ भी करना ठीक समझेगा, वह करने के लिए अपने आपको स्वतंत्र समझेगा।

इस दृढ़ रुख का प्रभाव पड़ा और गांधी पक्ष ने ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने के अपने विचार को पूरी तरह छोड़ दिया। इसके बाद काफी लंबा विचार-विमर्श चला और अंत में 14 सितंबर को कांग्रेस कार्यसमिति ने एक लंबा प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें ब्रिटिश सरकार से कहा गया था कि यदि भारत को स्वाधीनता दी जाती है तो "एक स्वतंत्र और लोकतांत्रिक भारत आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक सुरक्षा और आर्थिक सहयोग के लिए खुशी से अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों का साथ देगा।"

यह प्रस्ताव, वास्तव में देखा जाए तो कुछ शर्तों के साथ ब्रिटेन के युद्ध प्रयत्नों में सहयोग देने का प्रस्ताव था।

17 अक्तूबर को वाइसराय ने कांग्रेस के इस प्रस्ताव का एक वक्तव्य द्वारा उत्तर दिया जो लंदन में श्वेतपत्र के रूप में प्रकाशित हुआ। वाइसराय का प्रस्ताव भारतीय प्रतिनिधियों के साथ एक सलाहकार ग्रुप स्थापित करने का था जो वाइसराय को लड़ाई के सवालों पर सलाह देता। वाइसराय ने भविष्य में कभी डोमिनियन स्टेटस अर्थात औपनिवेशिक दर्जा देने के वायदे को भी दुहराया था। वह वायदा पहली बार दस साल पहले भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड हैलीफाक्स (इर्विन) ने किया था।

ब्रिटिश सरकार के इस उत्तर के अलावा जिस चीज पर भारत की जनता में बेहद आक्रोश फैला वह यह थी कि एक तरफ तो मित्र राष्ट्र स्वतंत्रता और लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ने का दावा करते रहे थे, लेकिन दूसरी तरफ भारत में 1935 के विधान तक को भी स्थगित कर दिया गया था, सारी शक्तियां वाइसराय के हाथ में केन्द्रित कर दी गई थीं और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कठोर पाबंदियां लगा दी गई थीं, जैसे कि छोटी-मोटी सभाओं और प्रदर्शनों को मनाही और बिना मुकदमा चलाए जेल में डालना इत्यादि।

मेरा यह निश्चित मत है कि यदि कांग्रेस ने बिलकुल शुरू से ही युद्ध का दृढ़तापूर्वक विरोध करने का साहसपूर्ण और स्पष्ट रवैया अपनाया होता तो निश्चय ही भारत में ब्रिटेन के युद्ध के लिए आवश्यक उत्पादन पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता और ब्रिटेन के लिए भारत की सेनाओं को देश से दूर-दूर के युद्ध के मोर्चों पर भेजना सम्भव नहीं हो सकता था। मेरे विचार में इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध के बारे में कोई स्पष्ट और अंतिम निर्णय न करके गांधी, नेहरू और उनके समर्थकों ने ब्रिटिश सरकार की अप्रत्यक्ष रूप में मदद की थी। जब कांग्रेस ने कोई स्पष्ट नेतृत्व नहीं प्रदान किया तो स्वाभाविक था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एजेंटों ने जो प्रोपेगैंडा किया उसके चलते उन्हें भारतवासियों के कुछ वर्गों का सहयोग प्राप्त करने में सफलता मिली।

29 अक्तूबर को कांग्रेस कार्यसमिति ने वाइसराय के 17 अक्तूबर के प्रस्ताव का उत्तर दिया। उत्तर वाले प्रस्ताव में सत्याग्रह की धमकी दी गई थी। इसके साथ ही कांग्रेस

कार्यसमिति ने कांग्रेस मंत्रिमंडलों को आठों प्रांतों में अपने पदों से त्यागपत्र देने का आदेश दिया था। चूंकि वाइसराय प्रांतों की सरकारों को ब्रिटिश सरकार की युद्ध-नीति का पालन करने के लिए आदेश जारी कर रहे थे, अत: कांग्रेस मंत्रिमंडलों के सामने यही विकल्प था कि या तो वे युद्ध प्रयत्नों मे सहयोग दें या फिर अपने पद छोड दें।

आमतौर से यह आशा की जा रही थी कि कांग्रेस मंत्रियो के पद त्याग के बाद सत्याग्रह शुरू हो जाएगा। लेकिन यह उम्मीद पूरी नहीं हुई। बहुत से लोगों का ख्याल है कि ब्रिटिश सरकार के षड्यंत्र के कारण ऐसा नहीं हो पाया। ब्रिटिश सरकार ने कुछ ब्रिटिश लिबरल और डेमोक्रेटिक नेताओं को कांग्रेस नेताओं को प्रभावित करने के लिए भारत भेजा। उदाहरण के लिए अक्तूबर 1939 में प्रसिद्ध लेखक श्री एडवर्ड थामसन भारत आए और फिर उनके बाद दिसंबर में सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत आए।

युद्ध में सहयोग करने के खिलाफ और राष्ट्रीय संघर्ष छेड़ने के पक्ष में फारवर्ड ब्लाक निरंतर प्रचार करने के साथ-साथ ही इस बारे में जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए यदाकदा प्रदर्शन भी करता रहा। उदाहरण के लिए अक्तूबर 1939 में नागपुर में एक साम्राज्यवाद विरोधी सम्मेलन भी आयोजित किया गया जो काफी सफल रहा। छह महीने पूरे होने पर ब्लाक के प्रचार की परिणति मार्च 1940 में रामगढ़ के कांग्रेस अधिवेशन में विराट प्रदर्शन के रूप में हुई जो बहुत ही सफल रहा। इस प्रदर्शन को अ.भा. समझौता विरोधी सम्मेलन नाम दिया गया। इस प्रदर्शन को फारवर्ड ब्लाक और किसान सभा ने मिलकर आयोजित किया था और यह रामगढ़ में कांग्रेस के अधिवेशन, जिसके अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद थे, से अधिक सफल रहा।

रामगढ़ में भी कांग्रेस अपनी युद्ध-नीति के बारे में कोई फैसला नहीं कर सकी। छह महीने तक उसकी नीति स्पष्ट रही। इसका नतीजा यह हुआ कि सरकार युद्ध के लिए भारत के साधनों का पूरी तरह लाभ उठाती रही। रामगढ़ में समझौता-विरोधी सम्मेलन का नेतृत्व मैंने और किसान नेता स्वामी सहजानंद सरस्वती ने किया था और इसमें युद्ध तथा भारत की स्वाधीनता की मांग के मुद्दे को लेकर तत्काल संघर्ष शुरू करने का निश्चय किया गया। अप्रैल 1940 में राष्ट्रीय सप्ताह (6 से 13 अप्रैल) के दौरान फारवर्ड ब्लाक ने सारे देश में अपना सविनय अवज्ञा अभियान चलाया। ब्लाक के प्रमुख नेताओं को धीरे-धीरे जेलों में ठूंस दिया गया। बंगाल में भी, जहां मेरा घर था, यह अभियान खूब फैला और जुलाई के शुरू में मुझे मेरे सैकड़ों साथी कार्यकर्ताओं समेत जेल भेज दिया गया।

जेल जाने से कुछ दिन पहले जून 1940 मे मेरी महात्मा गांधी और उनके सहायकों से अंतिम और लंबी बातचीत हुई। उस समय भारत में फ्रांस के हथियार डाल देने की खबर पहुंच चुकी थी। जर्मन सेनाएं बड़े विजयोल्लास के साथ पेरिस में दाखिल हो चुकी थीं। इंग्लैंड और भारत में ब्रिटेन का मनोबल नीचा था। एक ब्रिटिश मंत्री ने ब्रिटिश जनता

को मालूम और मानसी शर्तों बनाए रहने पर बड़ा लताड़ा था। भारत में फारवर्ड ब्लाक ने जो सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू किया था वह चल रहा था और ब्लाक के बहुत से नेता जेल जा चुके थे। अतः मैंने महात्माजी से आगे आकर अपना सत्याग्रह आंदोलन शुरू करने की भावभरी अपील की क्योंकि यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश साम्राज्य अब खत्म हो जाएगा और यह भारत के लिए युद्ध में अपनी भूमिका अदा करने का सबसे अच्छा मौका है। लेकिन महात्माजी अब भी कुछ करने का वचन देने को तैयार नहीं थे। उन्होंने फिर अपनी वही पुरानी दलील दोहराई कि मेरी दृष्टि में देश संघर्ष के लिए तैयार नहीं है और इस समय यदि संघर्ष की नौबत लाई गई तो लाभ की बजाय भारत को हानि अधिक उठानी पड़ेगी। खैर, बहुत लंबी और खुली बातचीत के बाद उन्होंने कहा कि यदि भारत को आजाद करने के तुम्हारे प्रयत्न सफल होते हैं तो मैं (महात्मा गांधी) तुम्हें बधाई का तार भेजने वाला सबसे पहला आदमी होऊंगा।

इस मौके पर मैंने अन्य संगठनों के नेताओं से भी बातचीत की, जैसे कि आल इंडिया मुस्लिम लीग के प्रधान मि. जिन्ना से, अ.भा. हिन्दू महासभा के अध्यक्ष श्री सावरकर से। उस समय श्री जिन्ना अंग्रेजों की मदद से पाकिस्तान की अपनी योजना को पूरा करने की सोच रहे थे। कांग्रेस के साथ मिलकर भारत की आजादी के लिए राष्ट्रीय संघर्ष शुरू करने के मेरे सुझाव का श्री जिन्ना पर जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा यद्यपि मैंने सुझाव दिया था कि यदि इस प्रकार मिल-जुलकर संघर्ष किया गया तो स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री वही बनेंगे। श्री सावरकर अंतर्राष्ट्रीय स्थिति से बिल्कुल अनभिज्ञ दिखाई देते थे और बस यही सोच रहे थे कि ब्रिटेन की भारत में जो सेना है इसमें घुसकर हिन्दू किस प्रकार सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करें। इन मुलाकातों के बाद मैं इसी नतीजे पर पहुंचा कि मुस्लिम लीग या हिन्दू महासभा से किसी प्रकार की कोई आशा नहीं की जा सकती।

20 मई, 1940 को पं. नेहरू ने तो एक बड़ा ही आश्चर्यजनक वक्तव्य दे डाला जिसमें उन्होंने कहा कि "ऐसे वक्त में जब ब्रिटेन जीवन और मृत्यु के संघर्ष में लिप्त है उस समय सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा आरंभ करना भारत के सम्मान के लिए घातक होगा।" इसी प्रकार महात्माजी ने भी कहा कि "हम ब्रिटेन के विनाश के बदले अपनी आजादी नहीं लेना चाहते। यह अहिंसा का तरीका नहीं है।" यह साफ हो गया था कि गांधीवादी लोग अंग्रेजों से समझौता करने की हर सम्भव कोशिश कर रहे थे।

27 जुलाई को अ.भा. कांग्रेस समिति ने पूना की बैठक में, जिसमें महात्मा गांधी उपस्थित नहीं थे, इस शर्त के साथ कि यदि भारत की आजादी की कांग्रेस की मांग मान ली जाती है तो ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्नों में सहयोग करने का प्रस्ताव किया। इस समय महात्माजी कांग्रेस के नेतृत्व से अलग हो गए थे क्योंकि अहिंसा में अपनी आस्था के कारण उनके लिए युद्ध के प्रयत्नों का समर्थन करना कठिन था।





8 अगस्त को वाइसराय ने कांग्रेस के इस प्रस्ताव का जवाब दिया जिसमें उन्होंने अपनी कार्यकारी परिषद में तथा सलाहकार परिषद में और अधिक भारतीयों को लेने की पेशकश की, लेकिन यह तो स्वतंत्रता या उससे मिलती-जुलती चीज भी नहीं थी।

इसी बीच मेरे बंदी बनाए जाने के बाद फारवर्ड ब्लाक का प्रचार और जोरों से चलता रहा जिसने गांधी पक्ष के कार्यकर्ताओं को भी प्रभावित किया। इस आदेश के बावजूद कि गांधी पक्ष के अनुयायी किसी भी शांतिपूर्ण आदोलन को नहीं चलाएंगे, इस पक्ष के कार्यकर्ताओं ने, विशेषकर स्वयसेवकों ने कुछ प्रांतों मे प्रचार करना आरम्भ कर दिया जिस कारण कई गांधीवादी नेता चिन्तित हो उठे। इनमे से कुछ महात्माजी पर सघर्ष छेड़ देने के लिए दबाव डालने लगे। उनका कहना था कि ऐसा न करने पर देश में उनका प्रभाव और प्रतिष्ठा समाप्त हो जाएगी। कुछ ने तो आदेश मिलने की प्रतीक्षा किए बिना ही धीरे-धीरे इस संघर्ष में शामिल होना शुरु कर दिया। अत में गाधीजी को झुकना ही पड़ा। 15 सितंबर को कांग्रेस ने सहयोग के आश्वासन को वापस ले लिया और महात्माजी को कांग्रेस का नेतृत्व करने के लिए बुलाया। अक्तूबर में गाधीजी ने घोषणा की कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार के युद्ध-प्रयत्नों के खिलाफ आंदोलन शुरू करने का फैसला कर लिया है लेकिन यह आंदोलन बड़े पैमाने पर नहीं होगा। नवबर 1940 में गांधीजी का प्रचार शुरू हुआ और कुछ ही समय में आठ प्रांतों के सभी मत्रियों को, जिन्होंने इसमें भाग लिया, कैद कर लिया गया और साथ ही सैकड़ों प्रभावशाली नेताओं को भी।

1940-41 का अभियान गांधीजी ने उतने उत्साह और आवेग से नहीं चलाया जितने उत्साह से 1921 और बाद का 1930-32 का अभियान चलाया था। यद्यपि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो देश अब पहले की अपेक्षा क्राति के लिए कहीं अधिक तैयार था। स्पष्ट था कि गांधीजी अभी भी समझौते के लिए द्वार खुले रखना चाहते थे और इस आदोलन के दौरान अंग्रेजों के खिलाफ बहुत अधिक कटुता पैदा हो जाती तो ऐसा करना सम्भव नहीं होता। उधर फारवर्ड ब्लाक इस बात से बहुत खुश था कि महात्माजी को मजबूर होकर कुछ करना पड़ा है। अब क्योंकि कांग्रेस के दोनों ही पक्ष—गाधी पक्ष और फारवर्ड ब्लाक—ब्रिटिश-विरोधी और युद्ध-विरोधी नीति अपना चुके थे इसलिए अब भारत को आजादी प्राप्त करने के लिए और भी बड़ी योजनाओ और कार्रवाइयों के बारे मे सोचने का अवसर था।

उस समय मुझे बिना मुकद्दमा चलाए जेल भेज दिया गया था। काफी समय तक अध्ययन और सोच-विचार के उपरांत मुझे तीन बातों के बारे में विश्वास हो गया था : पहला यह कि ब्रिटेन युद्ध में अवश्य हारेगा और ब्रिटिश साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाएगा। दूसरे यह कि ब्रिटेन चाहे जितनी बुरी हालत में हो, वह भारत की सत्ता भारतवासियों को कभी नहीं सौंपेगा और भारतवासियों को अपनी आजादी के लिए लड़ना ही पड़ेगा।

तीसरे यह कि भारत को तभी आजादी मिल सकती है जबकि वह ब्रिटेन के विरुद्ध लड़ाई में हिस्सा ले और उन शक्तियों से मिल कर काम करे जो ब्रिटेन से लड़ रही हैं। लेखक ने यही निष्कर्ष निकाला था कि भारत को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय रूप से प्रवेश करना चाहिए।

अब तक मैं ग्यारह बार अंग्रेजों की जेल में रह चुका था लेकिन मैंने अनुभव किया कि जब इतिहास का निर्माण कहीं और हो रहा है तो जेल के सींखचों से निष्क्रिय रूप से बंद पड़े रहना बहुत बड़ी राजनीतिक भूल होगी। अब मैंने कानूनी तौर से बाहर आने की तरकीब सोची, पर ऐसी कोई तरकीब नजर नहीं आई क्योंकि ब्रिटिश सरकार युद्ध के दौरान मुझे जेल में बंद रखने का पूरी तरह निश्चय कर चुकी थी। इस पर मैंने सरकार को अल्टीमेटम दे दिया कि उसके पास मुझे जेल में रखने का कोई कानूनी और नैतिक औचित्य नहीं है और यदि मुझे नहीं छोड़ा गया तो मैं आमरण अनशन शुरू कर दूंगा। मैं जिन्दा या मुर्दा जेल से बाहर आने के लिए कृत-संकल्प था।

सरकार ने इस अल्टीमेटम को हंस कर उड़ा दिया और कोई जवाब नहीं दिया। अंतिम समय में गृहमंत्री ने मेरे भाई शरत चंद्र बोस से, जो प्रान्तीय विधान मंडल में कांग्रेस पार्टी के नेता थे, मुझे यह कहने का अनुरोध किया कि यह मेरा पागलपन है और सरकार इस बारे में कुछ भी नहीं करेगी। भाई जब गए तब मुझसे मिलने मेरी जेल की कोठरी में आए और मंत्री का संदेश कह सुनाया, और यह भी बताया कि सरकार का रवैया बहुत अनम्यतापूर्ण था। अगले दिन मैंने जैसी घोषणा की थी उसके अनुसार अपना अनशन आरंभ कर दिया। सात दिन के बाद ही अधिकारियों को भारी डर लगने लगा कि कहीं मैं जेल में ही न मर जाऊं। जल्दी-जल्दी उच्च अफसरों की एक गुप्त बैठक बुलाई गई जिसमें मुझे इस इरादे से रिहा करने के बारे में निश्चय किया गया कि एकाध महीने में स्वास्थ्य ठीक होते ही मुझे फिर गिरफ्तार कर लिया जाएगा।

रिहा होने के बाद मैं करीब 40 दिन अपने कमरे में ही बंद रहा और जरा भी देर के लिए बाहर नहीं निकला। इस अवधि में मैं युद्ध की सारी स्थिति का जायजा लेता रहा और इस निर्णय पर पहुंचा कि भारत के स्वतंत्रता सेनानियों को विदेशों में क्या हो रहा है, इस बात की पूरी-पूरी और आंखों देखी स्थिति मालूम रहनी चाहिए और ब्रिटेन के खिलाफ युद्ध में हिस्सा लेकर ब्रिटिश साम्राज्य को तोड़ने में अपना योगदान करना चाहिए। यह कैसे संभव हो, इस बारे में काफी सोच-विचार करने के बाद मेरे सामने बस एक यही चारा था कि मैं खुद विदेश जाऊं। जनवरी 1941 के अंत में एक दिन आधी रात मैं चुपके से अपने घर से निकल पड़ा। यद्यपि गुप्तचर पुलिस हमेशा मेरे पीछे लगी रहती थी पर मैं किसी न किसी प्रकार उसे झांसा देने में सफल हो गया और काफी लम्बे और साहसिक सफर के बाद भारत की सीमा को पार करने में सफल हो गया। मेरे इस प्रकार भाग निकलने जैसी सनसनीखेज घटना देश में बहुत समय से नहीं हुई थी।

1941 को सारे साल सविनय अवज्ञा आंदोलन चलता रहा, लेकिन इसमें गांधीजी और उनके अनुयायियों ने कोई जोश नहीं दिखाया। महात्माजी ने अनुमान किया कि इस प्रकार नरम नीति पर चलने से आखिरकार समझौते का रास्ता खुला ही रहेगा लेकिन इस बारे में निराशा ही उनके हाथ लगी। उनकी अच्छाई को सरकार ने कमजोरी समझा और वह युद्ध की जरूरतों के लिए भारत का शोषण अपनी पूरी क्षमता भर करती रही। सरकार ने भूतपूर्व कम्युनिस्ट नेता एम.एन. राय जैसे एजेंटों का भी खूब लाभ उठाया जो ब्रिटेन के हाथों अपने आपको बेचने को तैयार थे।

अंततः जब नवंबर 1941 में सुदूर-पूर्व युद्ध के बादल मंडराने लगे तो सरकार की आत्मवंचना भंग हुई। दिसंबर के शुरू में कांग्रेस के गांधीवादी नेताओं को अचानक रिहा कर दिया गया। लेकिन इसके साथ ही वामपक्ष के नेताओं को जेल मे बंद कर दिया गया। उदाहरण के लिए जब सुदूर-पूर्व में लड़ाई छिड़ गई तो मेरे भाई श्री शरत चंद्र बोस को बिना मुकदमा चलाए जेल भेज दिया गया। इसके कुछ दिन बाद फारवर्ड ब्लाक के कार्यकारी अध्यक्ष सरदार शार्दूल सिंह कवीशर भी जेल भेज दिए गए। संभवतः सरकार ने यह सोचा होगा कि गांधीवादियों को रिहा करने और वामपक्षियों को जेल भेजने की दुहरी नीति से वह कांग्रेस के साथ कोई समझौता कर पाएगी।

ब्रिटिश सरकार की समझौते की इस इच्छा का कांग्रेस के गांधीवादी पक्ष ने भी समुचित उत्तर दिया। वर्धा में 16 जनवरी, 1942 को कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके फिर से युद्ध-प्रयत्नों में सहयोग देने का प्रस्ताव किया। थोड़े ही दिन बाद फरवरी 1942 में ब्रिटिश सरकार की पहल पर चीन के मार्शल च्यांग काई शेक कांग्रेस के नेताओं को ब्रिटिश सरकार के साथ कोई समझौता करने को तैयार करने के लिए भारत आए। एक महीने के बाद मार्च 1942 में एक अमरीकी टेक्नीकल मिशन, कुछ अमरीकी राजनीतिज्ञ, कुछ पत्रकारों का एक दल और कुछ अमरीकी सैनिक टुकड़ियां भारत आईं। अप्रैल में भारत स्थित ब्रिटिश कमांडर-इन-चीफ को मार्शल च्याग काई शेक की सहायता लेने और चीनी सेनाओं को बर्मा भिजवाने के लिए मजबूर होना पड़ा।

एक सप्ताह की लड़ाई में ही 15 फरवरी, 1942 को सिंगापुर का पतन हो जाने से ब्रिटेन और अमरीका में बहुत अधिक चिन्ता फैल गई। जब जापानी सेनाओं ने मलाया की लड़ाई जीतकर बर्मा में बढ़ना शुरू किया तो ब्रिटेन के प्रधानमंत्री को इतिहास का एक नया पन्ना पलटने को मजबूर होना पड़ा और उन्होंने 11 मार्च 1942 को एक तुष्टिकरण वक्तव्य दिया और युद्धकालीन मंत्रिमंडल की ओर से सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत भेजने की घोषणा की।

मार्च 1942 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स बड़ी शुभ घड़ी में भारत आए। जापानी सेनाएं जिस तरह जीत पर जीत पाती हुई तेजी से आगे बढ़ रही थीं उसको देखकर ब्रिटिश सरकार

ढीली पड़ गई थी और क्रिप्स के बारे में आम जनता में यही राय थी कि उस समय वही उस काम के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति थे जो उन्हें सौंपा गया था। लेकिन उनके प्रयत्न भी असफल रहे क्योंकि वह जो कुछ अपने साथ लेकर आए थे वह था युद्ध समाप्ति के बाद औपनिवेशिक दर्जे (डोमिनियन स्टेटस) का वायदा। उसी के साथ यह धमकी भी थी कि लड़ाई खत्म होने के बाद शायद भारत का विभाजन भी कर दिया जाए। 10 अप्रैल को कांग्रेस कार्यसमिति ने इस आधार पर क्रिप्स प्रस्तावों को ठुकरा दिया कि इनसे भारत की स्वाधीनता की मांग किसी तरह पूरी नहीं होती। 11 अप्रैल को सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने भारतवासियों के नाम अपना विदाई संदेश प्रसारित किया और निराश होकर स्वदेश लौट गए।

क्रिप्स के भारत से चले जाने के बाद 27 अप्रैल को कांग्रेस कार्यसमिति की इलाहाबाद में बैठक शुरू हुई और कई दिनों तक चली। 1 मई को एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसमें क्रिप्स प्रस्तावों को ठुकरा दिया गया था और यदि कोई विदेशी सेना भारत में दाखिल होती है तो उसका अहिंसा और असहयोग द्वारा सामना करने का निश्चय किया गया था। क्योंकि ब्रिटेन के साथ कोई समझौता नहीं हो सका था इसलिए उसकी तरफ से जापानी या किसी दूसरी सेना के विरुद्ध सक्रिय रूप से लड़ने का तो सवाल ही नहीं उठता था।

महात्मा गांधी इस बैठक में उपस्थित नहीं हुए थे लेकिन उन्होंने कार्यसमिति के लिए एक प्रस्ताव लिख भेजा था जिसकी नेहरू और अन्य सदस्यों ने भारी आलोचना की। पं. नेहरू ने कहा कि "मसौदे की समूची पृष्ठभूमि इस तरह की है जिसे पढ़कर सारी दुनिया यही सोचेगी कि हम लोग निष्क्रिय रूप से धुरी राष्ट्रों का साथ दे रहे हैं।" इसके बाद पं. नेहरू ने एक और मसौदा तैयार किया लेकिन उसे भी पहले में अस्वीकार कर दिया गया लेकिन बाद में अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की बड़ी भावनामय अपील पर इसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। पं. नेहरू के मसौदे का समर्थन करते हुए मौलाना आज़ाद ने कहा कि महात्माजी के मूल मसौदे और पं. नेहरू के बाद के मसौदे में भावार्थ की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है, बस दोनों में जो भेद है वह तौर तरीके का है।

अपने मूल मसौदे में महात्माजी ने अन्य बातों के अलावा यह कहा था :

"ब्रिटेन भारत की रक्षा करने में असमर्थ है ... । भारत की सेना एक प्रकार से समाज से कटा हुआ संगठन है जो भारतीय जनता की प्रतिनिधि नहीं है और भारतवासी इसे किसी प्रकार भी अपना मानने को तैयार नहीं ... । भारत से जापान का कोई झगड़ा नहीं है। वह ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ युद्ध कर रहा है। यदि भारत स्वतंत्र हो जाता है तो शायद उसका सबसे पहला काम जापान से बातचीत करना होगा। कांग्रेस का विचार

है कि यदि अंग्रेज भारत से हट जाएं और यदि जापान या और भी कोई आक्रमणकारी भारत पर आक्रमण करता है तो भारत उससे अपनी रक्षा कर सकेगा।"

इसी मसौदे में समिति ने जापान की सरकार और जनता को आश्वासन दिया था कि भारत के लोगों की जापान से किसी प्रकार की दुश्मनी नहीं है, इत्यादि। पं. नेहरू के जिस प्रस्ताव को अंत में कांग्रेस कार्यसमिति ने पास किया उसमें जापान के बारे में अथवा भारत की रक्षा कर सकने में ब्रिटेन की अक्षमता का कोई उल्लेख नहीं था।

उपर्युक्त प्रस्ताव के मसौदे में कोई आपत्तिजनक बात नहीं थी और इसका तत्व फारवर्ड ब्लाक की उस नीति से पूरी तरह मेल खाता था जिसका वह निरंतर प्रचार करता आ रहा था।

गांधीजी के जिस मसौदे की इतनी अधिक आलोचना की गई थी उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पं. नेहरू की तरह गांधीजी में सैद्धांतिक कट्टरता नहीं थी और वह नेहरूजी की अपेक्षा कहीं अधिक यथार्थवादी व्यक्ति थे। कांग्रेस की इस बैठक का एक सबसे प्रमुख पहलू यह रहा कि राजगोपालाचारी आंदोलन से अलग हो गए। कांग्रेस में ब्रिटेन के साथ समझौते के वह सबसे बड़े पक्षधर थे।

क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद लोग धीरे-धीरे यह समझने लगे कि अब भारत और ब्रिटेन के बीच समझौते की चर्चा खत्म हुई और अब दोनों में सहयोग असंभव है। लेकिन पं. नेहरू ने यह प्रचार शुरू कर दिया कि चाहे दोनों में कोई समझौता नहीं हुआ है फिर भी भारत को फासिज्म से लड़ने के लिए ब्रिटेन का ही साथ देना चाहिए। लेकिन उनकी इस दलील को न तो महात्मा गांधी ने, न गांधीवादियों ने और न आम जनता ने ही स्वीकार किया। आखिर पं. नेहरू को अपनी जिद छोड़नी पड़ी और महात्मा गांधी की ही बात को मानना पड़ा।

यद्यपि कांग्रेस में अधिकांश लोग धीरे-धीरे इस नतीजे पर पहुंच रहे थे कि ब्रिटेन के युद्धकालीन मंत्रिमंडल के अड़ियलपन के कारण ब्रिटेन के साथ खुला संघर्ष अवश्यंभावी है लेकिन फिर भी ब्रिटेन के साथ समझौते की संभावना है, यह विचार भी पूरी तरह खत्म नहीं हुआ था।

लेकिन चूंकि ब्रिटिश सरकार की तरफ से सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने जो कुछ अधकचरी खिचड़ी परोसी थी, जिसे कांग्रेस ने एकमत होकर ठुकरा दिया था और अब उससे ज्यादा कुछ आने वाला नहीं था, इसलिए कांग्रेस के सामने तुरंत स्वाधीनता की अपनी मांग को मूर्त अभिव्यक्ति देने के सिवा कोई चारा नहीं था। भारत का जनमत भी दिनोंदिन उग्र होता जा रहा था और अब अनिश्चिय की स्थिति को यूंही बने रहने देना भी संभव नहीं था। 14 जुलाई के अपने प्रस्ताव में कांग्रेस ने खुद यह लिखा था कि "ब्रिटेन के विरुद्ध बड़ी व्यापक दुर्भावना है जो तेजी से बढ़ती जा रही है तो साथ ही जापानी सेनाओं की सफलता

के प्रति असंतोष निरंतर बढ़ रहा है।" अतः कोई न कोई ठोस कदम उठाना जरूरी था।

दो महीने की लगातार हिचकिचाहट के बाद आखिर कांग्रेस कार्यसमिति की 6 जुलाई, 1942 को वर्धा में बैठक हुई और नौ दिन के निरंतर विचार-विमर्श के बाद 14 जुलाई को उसने प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें घोषणा की गई कि "भारत में अंग्रेजी राज तुरंत खत्म हो जाना चाहिए।" प्रस्ताव में आगे कहा गया था कि यदि इस 'अपील' पर कोई ध्यान नहीं दिया तो कांग्रेस को गांधीजी के अनिवार्य नेतृत्व में बड़ी अनिच्छापूर्वक अपनी उस तमाम अहिंसक शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा जो उसने 1920 से लेकर, जबकि उसने अपने राजनीतिक अधिकारों और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अहिंसा को अपनी नीति के रूप में अंगीकार किया था, अब तक अर्जित की है। इसमें कोई शक नहीं कि कांग्रेस का यह प्रस्ताव नेहरू हमेशा की इस मान्यता के काफी निकट था कि भारत की समस्याओं के हल के लिए भारत में ब्रिटेन की ताकत का नष्ट होना अत्यंत अनिवार्य है और भारत की जनता को इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए संघर्ष करना ही होगा।

यद्यपि कांग्रेस द्वारा पारित उस प्रस्ताव को गांधीजी ने 'खुली बगावत' माना था लेकिन यह प्रस्ताव भी वह खाई पूरी तरह नहीं पाट सका जो कांग्रेस के समूचे नेतृत्व और ब्रिटिश शासन के खिलाफ बिना किसी समझौते के तुरंत संपूर्ण संघर्ष छेड़ने की नेहरू हमेशा की नीति के बीच पड़ गई थी। कांग्रेस के प्रस्ताव में इस तरह की शब्दावली से कि "कांग्रेस की ग्रेट ब्रिटेन या मित्र राष्ट्रों के युद्ध संचालन में किसी प्रकार की परेशानी पैदा न करने" या "मित्र राष्ट्रों की रक्षात्मक क्षमता को किसी प्रकार हानि न पहुंचाने" की इच्छा नहीं है या "यदि भारत स्वतंत्र हो तो कांग्रेस रक्षा के उद्देश्य से भारत में मित्र राष्ट्रों की सेनाएं रखने को तैयार होगी", इस प्रकार के वक्तव्यों से यह स्पष्ट था कि ब्रिटेन के साथ किसी प्रकार के समझौते की वांछनीयता का विचार और इस अभीष्ट समझौते को कार्यान्वित करने की सम्भावना कांग्रेस नेताओं के दिमाग में अभी भी मौजूद थी। ये शब्द इस बात को भी प्रकट करते हैं कि गांधीजी ने 27 मई को कांग्रेस कार्य-समिति के सम्मुख जो मसौदा भेजा था और उसमें उन्होंने जो रुख अपनाया था उससे कांग्रेस नेता काफी अलग हट गए थे। हमें याद रखना होगा कि गांधीजी ने अन्य बातों के साथ-साथ मसौदे में लिखा था कि जापान से भारत का कोई झगड़ा नहीं है; जापान तो ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ युद्ध कर रहा है; भारत ने युद्ध में जो हिस्सा लिया है उसमें भारत की जनता की कोई सहमति नहीं है; और यदि भारत आजाद हो जाता है तो संभवतः उसका पहला काम जापान के साथ शांति-वार्ता करना होगा। सच तो यह है कि कुछ कांग्रेस नेताओं को यहां तक भ्रम था और वे यह आशा करने लगे थे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और खासकर अमरीका भारत की राष्ट्रीय मांग को पूरी कराने के लिए भारत के सवाल पर हस्तक्षेप करेंगे।

खैर, ऐसे लोग इने-गिने ही थे। यहां तक कि प. नेहरू भी जो ब्रिटेन के साथ समझौते के कट्टर समर्थक थे, ने वर्धा बैठक के बाद विदेशी संवाददाताओं के इस सवाल का नकारात्मक उत्तर दिया कि "युद्ध के बाद भारत को आजादी देने के ब्रिटेन के वचन को पूरा कराने की यदि अमरीका गारंटी दे तो क्या आप उसे मान लेंगे?" पं. नेहरू ने उस समय कहा था कि अब कांग्रेस की एकमात्र दिलचस्पी इसमें है कि उसे "आजादी यहीं और आज ही चाहिए।" इसमें जरा भी संदेह नहीं कि उस समय देश की मनोस्थिति भी यही थी।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के पास हो जाने से देश के राजनीतिक वातावरण को शुद्ध करने में मदद मिली जो क्रिप्स के कारण दूषित हो गया था। सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने की कांग्रेस की घोषणा ने आजादी के प्रति राष्ट्र की इच्छा-शक्ति को कमजोर होने से बचा लिया; जो अन्यथा ऐसे समय आपसी मतभेदों के कारण आ जाया करती है और क्रिप्स मिशन को भारत में भेजने के पीछे ब्रिटिश सरकार का इरादा भी यही था।

कांग्रेस कार्यसमिति के वर्धा प्रस्ताव को अ.भा कांग्रेस समिति की पुष्टि के लिए भेजने से पहले फिर से उस पर विचार करने के लिए अगस्त के शुरू में बैठक करने का निश्चय किया था। अ.भा. कांग्रेस समिति की बैठक बंबई में 7 अगस्त से शुरू होने वाली थी। जैसे-जैसे अगस्त नजदीक आता गया, देश में राजनीतिक तापमान भी वैसे-वैसे बढ़ता गया। भारत में जो ब्रिटिश संवाददाता थे वे अपने संवादों में शिकायत करने लगे थे कि कांग्रेस नेता देश को खूब उकसाते फिर रहे हैं कि वे विद्रोह करें। खैर, नरमदलीय और उदारदलीय लोग बड़ा जोर लगा रहे थे कि कांग्रेस अपनी सीधी कार्रवाई शुरू न करे और उससे पहले ही गतिरोध दूर करने का कोई रास्ता निकल आए। उनकी ये कोशिशें इस बात का सबूत थीं कि कांग्रेस का निर्णय देश के भीतर मौजूद तनाव के क्रांतिकारी स्वरूप धारण कर लेने का सुस्पष्ट संकेत करता था।

कांग्रेस कार्यसमिति ने 4 अगस्त को जिस प्रस्ताव के मसौदे को स्वीकार किया और जिस पर 7 अगस्त से अ.भा कांग्रेस समिति को विचार-विमर्श करना था, उसे 'मानचेस्टर गार्डियन' के संवाददाता ने मध्य जुलाई में स्वीकृत वर्धा प्रस्ताव की अपेक्षा अधिक रचनात्मक दृष्टिकोण बताया। यह आश्वासन कि स्वतंत्र भारत अपने सारे साधन ब्रिटेन के पक्ष में लड़ाई में झोंक देगा यह संकेत करता है कि कांग्रेस की दृष्टि में स्वतंत्र भारत कभी भी अलग से शांति संधि करने की नहीं सोचेगा। इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि भारत को आजादी प्राप्त करने की अंतिम लड़ाई शुरू करने से पहले भी कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के सामने और आगे बढ़कर समझौते का प्रस्ताव रखा था।

8 अगस्त, 1942 को अ.भा कांग्रेस समिति ने कार्यसमिति द्वारा पारित प्रस्ताव को बहुत भारी बहुमत से स्वीकार कर लिया। कुछ कम्युनिस्टों और राजगोपालाचारी के मुट्ठी भर

अनुयायियों ने ही प्रस्ताव के विपक्ष में मत दिया। इस घोषणा के बाद महात्मा गांधी ने अपने 90 मिनट के ओजस्वी भाषण में अपना यह अटल निश्चय प्रकट किया कि यदि मुझे अकेले ही सारे संसार से लड़ना पड़ा तो भी मैं अंत तक लड़ता रहूंगा।

जब इधर यह सब कुछ हो रहा था तो ब्रिटिश सरकार भी चुप नहीं बैठी थी। कांग्रेस कुछ करे उससे पहले उस पर और पूरी ताकत से चोट करने की पूरी तैयारियां की जा रही थीं। लेकिन भारत की जनता के विरुद्ध अपने हर तरह के अत्याचार और दमनकारी कृत्यों पर कानूनी वैधानिकता का पर्दा डालने की ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की अपनी पुरानी आदत के अनुसार भारत सरकार ने अ.भा. कांग्रेस समिति द्वारा 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव की पुष्टि करते ही फौरन एक लंबा और अपनी कार्रवाई को उचित ठहराने वाले वक्तव्य प्रकाशित किया। इस वक्तव्य में ब्रिटिश सत्ता के फौरन भारत से हट जाने की कांग्रेस की मांग और उसकी ओर से अधिकतम व्यापक रूप में अहिंसक जन आंदोलन छेड़ने के उसके निर्णय का उल्लेख था और उसमें यह भी कहा गया था कि सरकार को यह भी जानकारी थी कि पिछले कुछ दिनों से कांग्रेस पार्टी गैर-कानूनी और कुछ हद तक हिंसक कार्रवाइयों की तैयारी कर रही थी जिनका उद्देश्य, अन्य बातों के अलावा, संचार और सार्वजनिक सेवाओं में बाधा डालना, हड़तालें कराना, सरकारी कर्मचारियों की वफादारी को आघात पहुंचाने और फौज में भर्ती में बाधा डालने समेत अन्य रक्षा कार्यों में रुकावटें डालना शामिल है। ब्रिटिश दोगलेपन की इससे बढ़कर और क्या मिसाल हो सकती है कि वक्तव्य में यह भी कहा गया था कि "कांग्रेस की मांग को मान लेने का अर्थ है केवल भारत की जनता के साथ ही नहीं, बल्कि भारत के भीतर और बाहर अपने मित्रों के साथ भी गद्दारी करना खासकर रूस और चीन के साथ और उन आदर्शों के साथ गद्दारी करना जिनके लिए भारत अपने सच्चे दिलो-दिमाग से इतना समर्थन दे चुका है और दे रहा है।" लेकिन सच्चाई यह थी कि भारत की जनता की स्वाधीनता प्राप्ति की राष्ट्रीय आकांक्षा को बर्बरता से दबा देने की तैयारी में ब्रिटिश सरकार ने स्वाधीनता के उन सभी सिद्धांतों को पूरी तरह ताक पर रख दिया था जिसका अटलांटिक घोषणापत्र में चर्चिल और अमरीका के प्रेजीडेंट रूज्वेल्ट ने मिलकर इतनी जोर-शोर से ढिंढोरा पीटा था।

8 अगस्त शनिवार की रात को अ.भा. कांग्रेस समिति ने अपना अधिवेशन समाप्त किया और 9 अगस्त रविवार के तड़के ही सरकार ने अपना प्रहार किया। जब बंबई का अंग्रेज पुलिस कमिश्नर महात्मा गांधी को गिरफ्तार करने पहुंचा तो उन्होंने अपनी प्रार्थना समाप्त कर लेने के लिए आधे घंटे की मोहलत मांगी। महात्मा गांधी का अंतिम संदेश था : "या तो हम आजादी लेंगे या मर मिटेंगे।"

ठीक उसी समय पुलिस बंबई में एकत्र और दूसरी जगहों पर कांग्रेस नेताओं की पकड़-धकड़ में लगी हुई थी। चंद घंटों के भीतर ही सारे देश में फैला हुआ कांग्रेस आंदोलन अपने सारे तंत्र के साथ भूमिगत हो गया। चर्चिल, एमरे और उनके साथियों ने स्वाधीनता और लोकतंत्र का पक्षधर होने के अपने सारे मुखौटे उतार फेंके और विदेशी निरंकुश सत्ता का निर्मम और भयानक चेहरा साफ नजर आने लगा। भारत के स्वाधीनता संग्राम का एक नया अध्याय आरंभ हो गया था।

भारत का संघर्ष : प्रश्नों के उत्तर[1]

प्रश्न : राष्ट्रीय सरकार के प्रतिनिधि कहते हैं कि भारत में नया संविधान बहुत सफल रहा है और कांग्रेस द्वारा प्रांतों में मंत्री-पद संभालना इस बात का सबूत है। इस विचार के बारे में राष्ट्रीय कांग्रेस का क्या ख्याल है?

उत्तर : मंत्री-पद संभालना इस बात का सबूत नहीं है कि कांग्रेस हमेशा इस संविधान को चलाती रहेगी या इसको मानेगी। कांग्रेस पार्टी ने काफी संशय के साथ सरकारी पद संभाले हैं।

ऐसा करने के पीछे उसके दो उद्देश्य हैं पहला है अपनी स्थिति को और मजबूत करना, और दूसरा यह दिखाना कि वर्तमान संविधान के चौखटे में कोई बड़ी या ठोस चीज हासिल कर सकना संभव नहीं है। यदि इस आशंका के विपरीत कोई ठोस चीज हाथ लगी तो उससे आजादी की लड़ाई में जनता के राजनीतिक संगठन की शक्ति और बढ़ेगी।

प्रश्न : क्या इस बात की कोई संभावना है कि कांग्रेस संविधान के संघीय भाग को स्वीकार कर लेगी?

उत्तर : इस बात की कोई संभावना नहीं है कि कांग्रेस अपना विचार बदले और संघीय भाग को स्वीकार करे, जैसा कि प्रांतीय भाग के बारे में उसने किया है। संविधान के प्रांतीय भाग और संघीय भाग में कोई सादृश्य नहीं है।

प्रश्न : आपके विचार में राष्ट्रीय संघर्ष का अगला चरण क्या होगा? क्या यह सच है कि किसानों में असंतोष तेजी से बढ़ रहा है और वैसे ही हड़तालों का आंदोलन भी?

उत्तर : राष्ट्रीय संघर्ष का अगला चरण होगा बहुत तीव्रता के साथ जन-चेतना का विकास। कांग्रेस के सामने जो समस्या आएगी वह होगी इस शक्ति को सही तौर से संगठित करने और उसे सही दिशा में चलाने की।

दूसरे शब्दों में, समस्या होगी व्यापक साम्राज्य विरोधी मोर्चे पर पार्टी के संगठन को खड़ा करने की। यदि हम ऐसा कर सके तो हम भविष्य में आने वाले किसी भी संकट का बड़ी आशा और साहस के साथ मुकाबला कर सकेंगे। कांग्रेस के सत्ता संभालने के बाद जन-चेतना और बढ़ी है, और किसानों में असंतोष और मजदूरों की हड़तालें उसी की अभिव्यक्ति हैं।

प्रश्न : क्या आप मजदूरों और किसानों के संगठनों को सामूहिक रूप से कांग्रेस के साथ

---

[1] रजनी पाम दत्त के साथ लेखक के साक्षात्कार की एक रिपोर्ट जो लंदन के समाचार पत्र 'डेली वर्कर' में 24 जनवरी, 1933 को प्रकाशित हुई थी।

जोड़कर और इस प्रकार उसका आधार अधिक व्यापक बनाकर उसे एक समग्र राष्ट्रीय मोर्चे के रूप मे विकसित करने के पक्ष में हैं?

उत्तर : अवश्य, निश्चित रूप से।

प्रश्न : *आप ब्रिटिश लेबर पार्टी या लेबर सरकार से भारत के प्रति किस प्रकार की नीति की अपेक्षा करेंगे?*

उत्तर : हम चाहेंगे कि ब्रिटिश लेबर पार्टी पूरी तरह कांग्रेस के उद्देश्य की हिमायत करे।

प्रश्न : आपकी पुस्तक 'द इंडियन स्ट्रगल' के अंतिम भाग में फासिज्म के बारे में जो कुछ लिखा गया है उसके बारे मे बहुत से सवाल उठाए गए हैं। क्या आप फासिज्म के बारे में अपने विचारो पर कोई टिप्पणी करना चाहेंगे? उसी भाग में आपने साम्यवाद के बारे में जो कुछ लिखा है उस पर भी बहुत से सवाल उठाए गए हैं। क्या आप इस विषय मे कुछ कहना चाहेंगे?

उत्तर : जब तीन साल पहले मैंने पुस्तक लिखी थी तब से अब तक मेरे विचारो मे और विकास हुआ है।

मेरा सही आशय यह था कि हम भारतवासी सबसे पहले आजादी चाहते हैं और उसे पा लेने के बाद हम समाजवाद की दिशा में बढ़ना चाहेंगे। मैंने जहां 'साम्यवाद और फासिस्टवाद के समन्वय' की बात कही है वहां मेरा यही आशय था। शायद मेरा शब्द-चयन ठीक न रहा हो। लेकिन मैं यहां यह बता देना चाहता हूं कि जब मैं यह पुस्तक लिख रहा था उस समय तक फासिज्म ने अपना साम्राज्यवादी अभियान शुरू नहीं किया था और मुझे वह केवल राष्ट्रवाद का ही आक्रामक स्वरूप मात्र लगता था।

मैं यह भी स्पष्ट करना चाहूंगा कि जो लोग भारत मे साम्यवाद के समर्थक माने जाते थे, उन्होंने जिस ढंग से कम्युनिज्म को वहां प्रस्तुत किया वह मुझे राष्ट्र-विरोधी लगा और यह देखकर मेरा यह विचार और दृढ हो गया कि उनमें से कुछ व्यक्ति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से वैर रखते हैं। खैर, अब यह स्पष्ट है कि स्थिति आज आमूल बदल चुकी है।

मैं इतना और कहना चाहूंगा कि मैंने हमेशा समझा है, और इससे मैं संतुष्ट भी हूं कि मार्क्स और लेनिन के लेखों के अनुसार और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की ओर से जो नीति संबंधी वक्तव्य जारी किए गए हैं उनके अनुसार, कम्युनिज्म राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष को पूरा-पूरा समर्थन देता है और इसे अपने विश्वव्यापी दृष्टिकोण का एक अनिवार्य अंग स्वीकार करता है।

मेरा आज व्यक्तिगत मत यह है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को व्यापक स्तर पर साम्राज्य-विरोधी मोर्चे पर संगठित किया जाना चाहिए और इसके दो उद्देश्य होने चाहिए—राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करना और उसके बाद समाजवादी शासन स्थापित करना।